प्राकृत भारती पुष्प : ६२

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित

प्रथम पर्वगत

भगवान ऋषभदेव-चरित

अनुवादक :

श्री गणेश ललवानी

एवं

श्रीमती राजकुमारी बेगानी

प्रकाशक :

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

श्री जैन श्वेताम्बर नाकोडा पार्श्वनाथ तीर्थ, मेवानगर

प्राकृत भारती की ओर से

अप्रतिम प्रतिभाधारक, कलिकाल-सर्वज्ञ, परमार्हत् कुमारपाल-प्रतिबोधक, स्वनामधन्य श्री हेमचन्द्राचार्यरचित त्रिषष्टिशलाकापुरुष-चरित का प्रथम पर्व जिसमें प्रथम तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव भगवान का चरित गुंफित है, प्राकृत-भारती के पुष्प संख्या ६२ के रूप में प्रस्तुत करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता हो रही है।

त्रिशष्टि अर्थात् तिरेसठ, शलाका-पुरुष अर्थात् सर्वोकृष्ट महापुरुष; अथवा सृष्टि में उत्पन्न हुए या होने वाले जो सर्वश्रेष्ठ महापुरुष होते हैं वे शलाका पुरुष कहलाते हैं। इस कालचक्र के उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के आरकों में प्रत्येक काल में सर्वोच्च ६३ महापुरुषों की गणना की गई है, की जाती थी और की जाती रहेगी। इसी नियमानुसार इस अवसर्पिणी के जो ६३ महापुरुष हुए हैं उनमें २४ तीर्थङ्कर, १२ चक्रवर्ती, ९ वासुदेव, ९ प्रतिवासुदेव और ९ बलदेवों की गणना की जाती है। इन्हीं ६३ महापुरुषों के जीवन चरितों का संकलन इस 'त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित' के अन्तर्गत किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र ने इसे १० पर्वों में विभक्त किया है जिनमें ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त महापुरुषों के जीवन-चरित संगृहीत हैं। प्रथम पर्व ६ सर्गों में विभक्त है जिसमें प्रथम तीर्थङ्कर भगवान आदिनाथ का सांगोपांग जीवन गूंथा गया है।

पूर्व में आचार्य शीलांक ने 'चउप्पन महापुरुष चरियं' नाम से इन ६३ महापुरुषों के जीवन का प्राकृत भाषा में प्रणयन किया था। शीलांक ने ९ प्रतिवासुदेवों की गणना स्वतन्त्र रूप से नहीं की, अतः ६३ के स्थान पर ५४ महापुरुषों की जीवनगाथा ही उसमें सम्मिलित थी।

आचार्य हेमचन्द्र १२वीं शताब्दी के एक अनुपमेय सारस्वत पुत्र थे, कहें तो अत्युक्ति न होगी। इनकी लेखिनी से साहित्य की कोई भी विधा अछूती नहीं रही। व्याकरण, काव्य, कोष, अलंकार, छन्दःशास्त्र, न्याय, दर्शन, योग, स्तोत्र आदि प्रत्येक विधा पर अपनी स्वतन्त्र, मौलिक एवं चिंतनपूर्ण लेखिनी का सफल प्रयोग उन्होंने किया। आचार्य हेमचन्द्र न केवल साहित्यकार ही थे अपितु जैन

धर्म के एक दिग्गज आचार्य भी थे। महावीर की वाणी के प्रचार-प्रसार में अहिंसा का सर्वत्र व्यापक सकारात्मक प्रयोग हो इस दृष्टि से वे चालुक्यवंशीय राजाओं के सम्पर्क में भी सजगता से आए और सिद्धराज जयसिंह तथा परमार्हत् कुमारपाल जैसे राजर्षियों को प्रभावित किया और सर्वधर्मसमन्वय तथा विशाल राज्य में अहिंसा का अमारी पटह के रूप मे उद्घोष भी करवाया। जैन परम्परा के होते हुए भी उन्होंने महादेव को भी जिन के रूप में आलेखित कर उनकी भी स्तवना की। हेमचन्द्र न केवल सार्वदेशीय विद्वान् ही थे, अपितु उन्होंने गुर्जर धरा में अहिंसा, करुणा, प्रेम के साथ गुर्जर भाषा को जो अनुपम अस्मिता प्रदान की यह उनकी उपलब्धियों की पराकाष्ठा थी।

महापुरुषों के जीवनचरित को पौराणिक आख्यान कह सकते है। पौराणिक होते हुए भी आचार्य ने इस चरित-काव्य को साहित्य-शास्त्र के नियमानुसार महाकाव्य के रूप में सम्पादित करने का अभूतपूर्व प्रयोग किया है और इसमें वे पूर्णतया सफल भी हुए हैं। यह ग्रन्थ छत्तीस हजार श्लोक परिमाण का है। इस ग्रन्थ की रचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए हेमचन्द्र स्वयं ग्रन्थ की प्रशस्ति में लिखते हैं—

'चेदि; दशार्ण, मालव, महाराष्ट्र, सिंध और अन्य अनेक दुर्गम देशों को अपने भुजबल से पराजित करने वाले परमार्हत् चालुक्यकुलोत्पन्न कुमारपाल राजर्षि ने एक समय आचार्य हेमचंद्र सूरि से विनयपूर्वक कहा—'हे स्वामिन्! निष्कारण परोपकार की बुद्धि धारण करने वाले आपकी आज्ञा से मैंने नरक गति के आयुष्य के निमित्त-कारण मृगया, जूआ, मदिरा आदि दुर्गुणों का मेरे राज्य में से पूर्णतः निषेध कर दिया है तथा पुत्ररहित मृत्यु प्राप्त परिवारों के धन को भी मैंने त्याग दिया है तथा इस पृथ्वी को अरिहंत के चैत्यों से सुशोभित एवं मंडित कर दिया है अतः वर्तमान काल में आपकी कृपा से मैं संप्रति राजा जैसा हो गया हूँ। मेरे पूर्वज महाराज सिद्धराज जयसिंह की भक्तियुक्त प्रार्थना से आपने पंचांगीपूर्ण 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' की रचना की। भगवन्! आपने मेरे लिए निर्मल 'योगशास्त्र' की रचना की और जनोपकार के लिए 'द्व्याश्रय काव्य, छंदोनुशासन, काव्यानुशासन और नाम-संग्रह (कोष) प्रमुख अनेक ग्रन्थों की रचना की। अतः हे आचार्य! आप स्वयं

ही लोगों पर उपकार करने के लिए कटिबद्ध हैं। मेरी प्रार्थना है कि मेरे जैसे मनुष्य को प्रतिबोध देने के लिए ६३ शलाका-पुरुषों के चरित पर प्रकाश डालें।'

इससे स्पष्ट है कि राजर्षि कुमारपाल के आग्रह से ही आचार्य हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ की रचना उनके अध्ययन हेतु की थी। पूर्वाङ्कित ग्रन्थों की रचना के अनन्तर इसकी रचना होने से इसका रचना-काल विक्रम संवत् १२२० के निकट ही स्वीकार्य होता है। यह ग्रन्थ हेमचन्द्राचार्य की प्रौढावस्था की रचना है और इस कारण इसमें उनके लोकजीवन के अनुभवों तथा मानव स्वभाव की गहरी पकड़ की झलक मिलती है। यही कारण है कि काल की इयत्ता में बंधी पुराणकथाओं में इधर-उधर बिखरे उनके विचारकण कालातीत हैं। यथा 'शत्रु भावना रहित ब्राह्मण, बे-ईमानीरहित वणिक, ईर्ष्यारहित प्रेमी, व्याधिरहित शरीर, धनवान-विद्वान्, अहंकार रहित गुणवान्, चपलतारहित नारी तथा चरित्रवान् राजपुत्र बड़ी कठिनाई से देखने में आते हैं।'

श्री गणेश ललवानी इस पुस्तक के अनुवादक हैं। ये बहुविध विधाओं के सफल शिल्पी हैं। इन्होंने इसका बंगला भाषा में अनुबाद किया था और उसी का हिन्दी रूपान्तरण श्रीमती राजकुमारी बेगानी ने सफलता के साथ किया है। शब्दावली में कोमलकान्त पदावली और प्रांजलता पूर्णरूपेण समाविष्ट है। इसके सम्पादन में यह विशेष रूप से ध्यान रखा गया है कि अनुवाद कौन से पद्य से कौन से पद्य तक का है, यह संकेत प्रत्येक गद्यांश के अन्त में दिया गया है। हम श्री गणेश ललवानी और श्रीमती राजकुमारी बेगानी के अत्यन्त आभारी हैं कि इन्होंने इसके प्रकाशन का श्रेय प्राकृत-भारती को प्रदान किया और हम उनसे पूर्णरूपेण आशा करते हैं कि इसी भाँति शेष ९ पर्वों का अनुवाद भी हमें शीघ्र ही प्रदान करें जिससे हम यह सम्पूर्ण ग्रन्थ धीरे-धीरे पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर सकें।

पारसमल भंसाली	म० विनयसागर	देवेन्द्रराज मेहता
अध्यक्ष	निदेशक	सचिव
जैन श्वे० नाकोडा पार्श्वनाथ तीर्थ मेवानगर	प्राकृत भारती अकादमी जयपुर	प्राकृत भारती अकादमी जयपुर

लेखकीय भूमिका

कलिकाल-सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्र सूरि द्वारा लिखित त्रिशष्टि-शलाका-शलाका-चरित दस पर्व में विभक्त ३४००० श्लोक परिमाण है।

इसमें त्रेसठ शलाका-पुरुषों का जीवनवृत्त ग्रथित है जो कि इस अवसर्पिणी काल में उत्पन्न हुए और विश्व के इतिहास में अपनी पहचान स्थापित कर गए। वे हैं—२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ वासुदेव, ९ बलदेव और ९ प्रति वासुदेव।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर

इन त्रेसठ शलाकापुरुषों का जीवनवृत्त समान रूप से विवृत नहीं है। किसी का छोटा है तो किसी का बड़ा। यह स्वाभाविक ही है कारण किसी का जीवन घटना-बहुल है, विविधता लिए हुए है तो किसी का कम। पर इसमें जो लोक-प्रकथाओं का समावेश हुआ है साथ ही साथ जैन धर्म के तत्त्वों की विवृति है, वह अपने आप में अनूठी है।

हेमन्द्रचार्य का परिचय देना मुझे आवश्यक नहीं लगता कारण जैन साहित्य के प्रेमी सभी उनसे परिचित हैं। पर यह अवश्य कहना चाहूंगा कि उनकी प्रतिभा जितनी विशाल थी उस तुलना में उनका समादर नहीं हुआ। वे केवल भारत के ही नहीं, विश्व के उच्च कोटि के प्रतिभाधरों में एक हैं। उन्होंने अपनी बहु-मुखी प्रतिभा से न केवल भारत का ही नाम ऊँचा किया बल्कि विश्व साहित्य को भी समृद्ध किया है।

यह ग्रन्थ अन्य पुराणों की भाँति अनुष्टुप् छंद में रचित है। इस महान् ग्रन्थ को अनूदित करने की कल्पना भी मैंने कभी नहीं की थी। आज से नौ साल पहले की बात है। मेरा एक मित्र मुझसे आकर बोला कि 'करुणा प्रकाशनी' ने ईशान घोष की जातक-कथा का बंगानुवाद मुद्रित किया है। ऐसी जातक-कथा यदि जैन साहित्य में हो तो उसका अनुवाद भी वे प्रकाशित करना चाहते हैं। बुद्ध की जातककथा के अनुरूप जातककथा तो हमारे साहित्य में है

नहीं। फिर भी त्रिषष्टि-शलाका-पुरुषचरित की ओर उनका ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा कि इसमें हमारे शलाकापुरुषों का वर्तमान व अतीत जीवन विवृत है। उन्होंने उसका अनुवाद तुरन्त मांगा। पर वह कहाँ सम्भव था। परन्तु मैंने उस दिन निश्चित कर लिया था कि इस चरित का कुछ न कुछ अनुवाद प्रतिदिन करूँगा और वैसा ही करना प्रारम्भ किया तथा उस अनुवाद को 'श्रवण' (बंगला मासिक) में प्रकाशित करने लगा। उसी का हिन्दी रूपान्तर श्रीमती राजकुमारी बेगानी साथ-साथ करती गयीं जिसे कि मैं 'तित्थयर' (हिन्दी मासिक) में प्रकाशित करने लगा।

सौभाग्य से महोपाध्याय श्री विनयसागरजी पर्यूषण पर्व के लिए जब-जब कलकत्ता आते हैं तब-तब जैन-भवन में ही ठहरते हैं। उन्होंने जब इस हिन्दी रूपान्तर को देखा तो कहा कि इस हिन्दी रूपान्तर में बंगला का मिठास आ गया है। कहाँ तक यह सत्य है यह तो मैं नहीं जानता; पर उनके उत्साह से इस महान् ग्रन्थ का प्रथम पर्व 'प्राकृत भारती', जयपुर से प्रकाशित हो रहा है। इसके लिए मैं उनका और 'प्राकृत भारती' का कृतज्ञ हूँ।

मेरे अनुवाद में त्रुटियां रह जाना सम्भव है पर यह ग्रन्थ महोपाध्याय श्री विनयसागरजी के हाथ से सम्पादित होकर निकल रहा है इससे मैं कुछ आश्वस्त हूं।

– गणेश ललवानी

अनुक्रम

प्रथम पर्व

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री [illegible] महाराज

प्रथम सर्ग	१
प्रथम भव	४
द्वितीय भव	२०
तृतीय भव	३३
चतुर्थ भव	३६
पंचम भव	५४
षष्ठ भव	५४
सप्तम भव	५९
अष्टम भव	६८
द्वितीय सर्ग	६८
तृतीय सर्ग	१३४
चतुर्थ सर्ग	१७७
पंचम सर्ग	२२८
षष्ठ सर्ग	२७८

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितम्

श्री आदिनाथ चरित

प्रथम पर्व

प्रथम सर्ग

१ जो सबके पूज्य हैं, मोक्ष रूपी लक्ष्मी के लिए निवास रूप हैं, जो स्वर्ग, मृत्यु और पाताल लोक के ईश्वर हैं उन्हीं अरिहंत देव का मैं ध्यान धरता हूँ। (श्लोक १)

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

२ जो सब क्षेत्रों में सब कालों (भूत, भविष्य, वर्तमान) में नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेप से तीनों लोकों को पवित्र करते हैं उन्हीं अरिहंत देव की मैं उपासना करता हूँ। (श्लोक २)

३ जो पृथ्वीपतियों के मध्य प्रथम हैं, जो त्यागव्रतियों में भी प्रथम हैं और प्रथम तीर्थंकर हैं उन ऋषभदेव भगवान की मैं स्तुति करता हूं। (श्लोक ३)

४ विश्वरूप कमल सरोवर में जो मार्तण्ड रूप हैं, जिनके निर्मल, केवल ज्ञान रूपी दर्पण में त्रिलोक प्रतिबिम्बित होता है उन अर्हंत अजितनाथ की मैं स्तुति करता हूँ। (श्लोक ४)

५ भव्यजीव रूपी उद्यान को सिंचित करने के लिए जगत्पति श्री सम्भवनाथ के मुख से निःसृत जलधारा रूपी जो वाणी है वह वाणी सर्वदा यशस्वी हो। (श्लोक ५)

६ अनेकान्त रूपी समुद्र को उल्लसित करने में चन्द्र तुल्य हैं वे भगवान अभिनन्दन स्वामी आनन्ददायी बनें। (श्लोक ६)

७ देवगणों के मुकुट की मणियों की प्रभा में प्रदीप्त जिनके चरण-नख हैं, वे भगवान सुमतिनाथ तुम्हारी इच्छा पूर्ण करें। (श्लोक ७)

८ कामक्रोधादि रूपी अन्तरंग वैरियों के मन्थन हेतु कोप-प्रवलता

के कारण जिनके शरीर ने अरुण वर्ण धारण किया है वे पद्मप्रभ तुम्हारा कल्याण करें। (श्लोक ८)

९ चतुर्विध संघरूप आकाश में जो सूर्य की भांति देदीप्यमान है, जिनके चरण इन्द्र द्वारा पूजित हैं, उन सुपार्श्वनाथ को मैं नमस्कार करता हूँ। (श्लोक ९)

१० चन्द्रकौमुदी की भाँति उज्ज्वल चन्द्रप्रभ भगवान की जो मूर्ति है, उसे देखने से लगता है जैसे शुक्ल ध्यान ही मूर्त्तिमंत हो उठा है, वह मूर्ति तुम्हारे ज्ञान-लाभ का कारण बने।
(श्लोक १०)

११ जो केवलज्ञान के प्रभाव से जगत् को करामलकवत् जानते हैं और जो अचिन्तनीय प्रभाव के आधार हैं वे सुविधिनाथ तुम्हें बोध प्रदान करें। (श्लोक ११)

१२ प्राणी मात्र में आनन्द-अंकुर विकसित करने में जो नवीन जलद तुल्य हैं, जो स्याद्वाद रूपी अमृत का वर्षण करते हैं वे शीतल-नाथ तुम्हारी रक्षा करें। (श्लोक १२)

१३ जिनका दर्शन संसार रूपी रोगों से पीड़ित लोगों के लिए वैद्य की भांति है, जो निःश्रेयस रूप से मोक्ष रूपी लक्ष्मी के पति हैं वे श्रेयांसनाथ तुम्हारे कल्याण का कारण बनें।
(श्लोक १३)

१४ जो समस्त विश्व के कल्याणकारी हैं, जिन्होंने तीर्थंकर रूप नाम कर्म प्राप्त किया है और जो सुरासुर नर पूजित हैं वे वासुपूज्य तुम्हारी रक्षा करें। (श्लोक १४)

१५ निर्मल्य चूर्ण की भांति जगत् जन के चित्त रूपी वारि को जो निर्मल करते हैं उन्हीं विमलनाथ की वाणी जययुक्त हो।
(श्लोक १५)

१६ जिनका करुणा रूप वारि स्वयंभूरमण नामक समुद्र जल का प्रतिस्पर्द्धी है वे अनन्तनाथ असीम मोक्ष रूपी लक्ष्मी तुम्हें प्रदान करें। (श्लोक १६)

१७ शरीरधारी जीवों के लिए कल्पवृक्ष की भांति जो अभीप्सित

वस्तु प्रदान करते हैं और दान, शील, तप, भाव रूप धर्म के उपदेशक हैं उन धर्मनाथ स्वामी की हम उपासना करते हैं।
(श्लोक १७)

१८ जिनकी वाणी रूपी चन्द्रिका समस्त दिक्समूह को निर्मल करती है, जिनका लांछन मृग है वे शान्तिनाथ अज्ञानरूप अन्धकार को शान्त कर तुम्हें शान्ति प्रदान करें। (श्लोक १८)

१९ जो अतिशय रूप ऋद्धि सम्पन्न हैं, सुरासुरनर के अद्वितीय स्वामी हैं वे कुन्थुनाथ तुम्हारे कल्याणरूप लक्ष्मी-प्राप्ति का कारण बनें। (श्लोक १९)

२० कालचक्र के चतुर्थ आरा रूप आकाश में जो मार्तण्ड रूप हैं वे भगवान अरनाथ तुम्हें चतुर्थ पुरुषार्थ रूप (मोक्ष) लक्ष्मी सहित विलास की अभिवृद्धि करें। (श्लोक २०)

२१ नवीन मेघ के उदय से जिस प्रकार मयूर आनन्दित हो जाता है उसी प्रकार जिन्हें देखने मात्र से सुर-असुर-नरपालों के चित्त आनन्दित हो जाते हैं और जो कर्मरूपी अटवी के उत्पात में मत्त हाथी की भांति है उस मल्लीनाथ का मैं स्तवन करता हूँ।
(श्लोक २१)

२२ जिनकी वाणी मोह निद्रा प्रसुप्त प्राणियों के लिए प्रभाती रूप है उन मुनि सुव्रत स्वामी का मैं स्तवन करता हूँ।
(श्लोक २२)

२३ प्रयाण करते समय जिनके चरणों की नखप्रभा निखिल जनों के मस्तक पर पड़ती है और जो जलधारा की भांति उनके हृदय को निर्मल करती है उन नेमिनाथ भगवान के चरणों की नख-प्रभा तुम्हारी रक्षा करे। (श्लोक २३)

२४ यदुवंश रूपी समुद्र के लिए जो चन्द्रमा रूप हैं और कर्मरूप अरण्य के लिए हुताशन स्वरूप हैं वे अरिष्टनेमि भगवान तुम्हारे अरिष्ट या दुःखों को दूर करें। (श्लोक २४)

२५ कमठ और धरणेन्द्र दोनों अपना-अपना कार्य करते हैं; किन्तु दोनों ही के प्रति जिनका मनोभाव एकरूप है वे पार्श्वनाथ भगवान तुम्हारा कल्याण करें। (श्लोक २५)

२६ जिनके नयन-ताराओं में कृतापराधी के प्रति भी दयाभाव प्रस्फुटित है और इसी कारण जिनके नयन पल्लव ईषत् बाष्पार्द्र हैं उन्हीं भगवान महावीर के नयन कल्याणवर्षी बनें।

(श्लोक २६)

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसा

ऊपर चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की गयी है। इन्हीं चौबीस तीर्थंकरों के समय बारह चक्रवर्ती, नौ अर्द्ध-चक्रवर्ती (वासुदेव), नौ बलदेव और नौ प्रति-वासुदेव हुए हैं। इन सभी ने इसी अवसर्पिणी काल में इसी भरत क्षेत्र में जन्म ग्रहण किया है। इन्हें त्रिषष्टि शलाकापुरुष कहकर अभिहित किया जाता है। इनमें कइयों ने मोक्ष प्राप्त किया है, कई भविष्य में करेंगे। ऐसे ही शलाकापुरुषत्व सम्पन्न महात्माओं के चरित्र का अब मैं वर्णन करूँगा। क्योंकि महात्माओं का चरित्र-कीर्तन कल्याण और मोक्ष प्राप्ति का कारण होता है। (श्लोक २७-२९)

सर्वप्रथम आते हैं भगवान ऋषभ। इन्होंने जिस भव में सम्यक्त्व प्राप्त किया उसी भव कथा का मैं प्रारम्भ करता हूं। उसे ही उनका प्रथम भव कहकर उल्लेख करता हूं। (श्लोक ३०)

प्रथम भव

जम्बूद्वीप नाम का एक वृहद् द्वीप है—जिसके चारों ओर एक के बाद एक असंख्य वलयाकृति समुद्र और द्वीप हैं। जम्बूद्वीप वज्रवेदिका के प्राकार द्वारा वेष्टित और नदी, क्षेत्र एवं वर्षधर पर्वत द्वारा सुशोभित है। ठीक इसके मध्य में सुवर्ण और रत्नजड़ित मेरु पर्वत वर्तमान है। मेरु पर्वत को जम्बूद्वीप की नाभि कह सकते हैं।

(श्लोक ३१-३२)

यह मेरु पर्वत एक लाख योजन ऊँचा और तीन मेखलाओं द्वारा सुशोभित है। प्रथम मेखला में नन्दन वन, द्वितीय मेखला में सोमनस वन और तृतीय मेखला में पाण्डुक वन है। इसकी चूलिका चालीस योजन विस्तृत और बहुजिनालयों से शोभित है।

(श्लोक ३३)

मेरु पर्वत के पश्चिम में विदेह क्षेत्र है वहां क्षितिप्रतिष्ठितपुर नामक एक नगर था। उस नगर को भू-मण्डल का अलंकार स्वरूप

कहा जाता था। (श्लोक ३४)

उसी नगर में प्रसन्नचन्द्र नामक एक राजा राज्य करते थे। उनका ऐश्वर्य इन्द्र तुल्य था और धर्म-कर्म में वे सर्वदा जागृत थे। (श्लोक ३५)

उस समय उसी नगर में धन नामक एक श्रेष्ठी रहता था। जिस प्रकार समुद्र सभी नदियों का आश्रय-स्थल है उसी प्रकार वे भी समस्त सम्पत्तियों के आश्रय-स्थल थे। उनका यश भी दूर-दूर तक विस्तृत था। उन महत्वाकांक्षी श्रेष्ठी के पास इतना धन था कि उसकी कल्पना भी हर-एक के लिए कठिन थी। चाँद की चन्द्रिका की भाँति वह धन परोपकार में नियोजित रहता था। कहा जाता है धन श्रेष्ठी [illegible] पर्वत से सदाचार रूपी नदी प्रवाहित होकर समस्त पृथ्वी को पवित्र करती थी। वे सबके सेव्य थे। उनमें अपने यशस्वी वृक्ष को अंकुरित करने के लिए गम्भीरता, उदारता और धैर्यरूपी उत्तम बीज थे। उनके गृह में राशि-राशि धान की भाँति रत्न पड़े रहते थे और ढेर के ढेर दिव्य वस्त्र। जिस प्रकार जल-जन्तुओं से जल की शोभा बढ़ती है उसी प्रकार घोड़ा, खच्चर, ऊँट आदि वाहनों से उनके घर की शोभा वृद्धिगत होती रहती थी। देह में जिस तरह प्राण-वायु मुख्य होती है उसी प्रकार धनी, गुणी, यशस्वियों में वे भी मुख्य थे। जिस प्रकार महासरोवर के निकट की भूमि झरने के जल से प्लावित रहती है उसी प्रकार श्रेष्ठी के कर्मचारीगण भी धन और ऐश्वर्य से प्लावित रहते थे। अर्थात् उनके अधीनस्थ कोई भी दरिद्र नहीं था। (श्लोक ३६-४३)

एक दिन श्रेष्ठी ने पण्यद्रव्य लेकर बसन्तपुर जाना स्थिर किया। उस समय वे साक्षात् मूर्तिमान उत्साह से लगते थे। उन्होंने समस्त नगर में यह घोषणा करवा दी, 'धन श्रेष्ठी बसन्तपुर जा रहे हैं। जिसकी इच्छा हो वे उनके साथ जा सकते हैं। जिसके पास पात्र नहीं है उसे वे पात्र देंगे, जिसके पास वाहन नहीं है उसे वे वाहन देंगे, जिन्हें सहायता की आवश्यकता होगी उन्हें वे सहायता देंगे और जिनके पास पाथेय नहीं है उन्हें वे पाथेय देंगे। यात्रा में चोर, डकैत और हिंस्र पशुओं से उनकी रक्षा करेंगे और जो अशक्त एवं अस्वस्थ होंगे उनकी अपने भाई की तरह सेवा शुश्रूषा करेंगे।'
(श्लोक ४४-४८)

अनन्तर कुल-वधुओं की कल्याणकारी मांगलिक क्रिया निष्पन्न होते ही वे रथ पर आरोहण कर शुभ-मुहूर्त में घर से निकल कर नगर के बाहर आ गए। (श्लोक ४९)

यात्रा के पूर्व तूर्य-वादन किया गया। तूर्य शब्द को यात्रा का संकेत समझकर जिन्हें वसंतपुर जाना था वे शहर से बाहर आकर एकत्र हो गए। (श्लोक ५०)

ठीक उसी समय साधुचर्या और पृथ्वी को धर्म से पवित्र करते हुए धर्मघोष आचार्य श्रेष्ठी के पास आकर उपस्थित हुए। उनका मुख सूर्य की भाँति प्रदीप्त था। (श्लोक ५१-५२)

उन्हें देखते ही श्रेष्ठी उठ खड़े हुए और विधिपूर्वक हाथ जोड़कर वन्दना करते हुए उनके आगमन का कारण पूछा।

आचार्य बोले—'हम तुम्हारे साथ वसन्तपुर जाएँगे।'
(श्लोक ५३)

यह सुनते ही श्रेष्ठी ने उत्तर दिया—'भगवन्, मैं आज धन्य हो गया। जिस प्रकार के धर्मात्मा व्यक्ति को साथ लेना आवश्यक था वैसे धर्मात्मा आप स्वयं उपस्थित हो गए। आप सहर्ष मेरे साथ चलें।' (श्लोक ५४)

तदुपरांत उन्होंने रसोइए को बुलाकर कहा—'तुम लोग इनके लिए अन्न-जल सदैव प्रस्तुत रखना।' (श्लोक ५५)

आचार्य बोले—'साधु तो वही अन्न-जल ग्रहण करता है जो उसके लिए प्रस्तुत नहीं किया जाता, कराया भी नहीं जाता, करने का संकल्प भी नहीं किया जाता। कूप, बापी और सरोवर का जल अग्नि आदि द्वारा अचित्त न होने तक साधु ग्रहण नहीं करते, जैन शासन का यही विधान है।' (श्लोक ५६-५७)

उसी समय किसी ने एक थाल आम श्रेष्ठी के सम्मुख लाकर उपस्थित किया। उन पके हुए आमों का रंग संध्याकालीन सूर्य के रंग में रंगे मेघ की भाँति था। (श्लोक ५८)

आनन्दमना श्रेष्ठी ने आचार्य से कहा—'भगवन्, आप इन फलों को ग्रहण कर मुझे कृतार्थ करें।' (श्लोक ५९)

आचार्य बोले—'हे श्रद्धावान श्रेष्ठी इन दुर्दिन फलों को खाना तो दूर, साधुओं के लिए तो इनका छूना भी निषिद्ध है।'
(श्लोक ६०)

श्रेष्ठी ने कहा—'आपने बड़ा ही कठोर व्रत ग्रहण किया है। ऐसे कठिन व्रत का पालन करना दुष्कर है। चतुर व्यक्ति भी यदि प्रमादी हो तो एक दिन भी पाल नहीं सकता। फिर भी आप मेरे साथ चलिए। मैं आपको वही आहार दूंगा जो आपके लिए ग्रहणीय होगा।' ऐसा कहकर वन्दना के पश्चात् उसने आचार्य को विदा किया। (श्लोक ६१-६२)

ज्वार के समय चंचल ऊर्मिमालाओं से समुद्र जिस प्रकार अग्रसर होता है श्रेष्ठी भी उसी प्रकार वेगवान अश्व, ऊँट, शकट, बलद सहित अग्रसर हुए। आचार्य भी शिष्य परिवार सहित उनके साथ हो गए। आचार्य सहित शिष्य ऐसे लगते थे जैसे मूलगुण और उत्तरगुण मूर्तिमंत हो गए हैं। (श्लोक ६३-६४)

संघ के आगे धन श्रेष्ठी जा रहे थे और पीछे उनके मित्र मणिभद्र एवं दोनों ओर अश्वारोही सेना। उस समय आकाश श्रेष्ठी के श्वेत छत्रों से कहीं शरत्कालीन शुभ्र मेघमालाओं से आच्छादित तो कहीं मयूरपंख के तने हुए छत्रों से वर्षाकालीन मेघ-मालाओं से आवृत-सा प्रतीत हो रहा था। व्यवसाय के लिए जो पण्य द्रव्य लिए थे ऊँट, बलद, गर्दभ उन्हें इस प्रकार वहन कर रहे थे जैसे घनवात पृथ्वी को वहन करता है। (श्लोक ६५-६७)

द्रुतगति के कारण ऊँटों के पैर कब उठते थे और कब भूमि स्पर्श करते थे समझ ही नहीं पड़ रहा था। लगता था जैसे वे हरिण हैं। खच्चरों की पीठ पर रखे हुए थैले इस प्रकार उछलते थे मानो वे उड़ते हुए पक्षी के डैने हैं। (श्लोक ६८)

बड़े-बड़े शकट, जिनमें बैठे युवकगण खेल-कूद भी कर सकें जब चलते थे तो लगता था जैसे बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएं ही चल रही हों। (श्लोक ६९)

जलवहनकारी वृहद स्कन्ध वाले महिषों को देखकर लगता था जैसे आकाश के मेघ ही पृथ्वी पर उतर आए हैं और पिपासुओं

की तृषा निवारण कर रहे हैं। (श्लोक ७०)

पण्य द्रव्यों से भरी हुई गाड़ी चलते समय इस प्रकार आवाज करती थी मानो उनके भार में दबकर पृथ्वी ही चीत्कार कर रही है। (श्लोक ७१)

बलद, ऊँट और घोड़ों के खुरों से उड़ी हुई धूल ने आकाश को दिन में भी इस प्रकार अन्धकारमय बना दिया था जो कि सूई से ही बींधा जा सके। (श्लोक ७२)

बलदों के गले में बँधी हुई घण्टियों की आवाज से जैसे दिङ्मुख भी बधिर-सा हो गया था। चमरी गाय कर्कश ध्वनि उन शब्दों से भयभीत होकर दूर खड़े उद्ग्रीव से देख रहे थे कि यह शब्द कहाँ से आ रहा है? (श्लोक ७३)

अत्यधिक भार वहन करने के कारण ऊँटगण अपनी गर्दन-टेढ़ी कर-करके वृक्ष के अग्रभागों को चाट रहे थे। (श्लोक ७४)

जिनकी पीठों पर पण्य भरे थैले थे वे गर्दभ कान खड़ा कर, गर्दन सीधी कर चलने के समय एक दूसरे को काटते थे और पीछे रह जाते थे। (श्लोक ७५)

अस्त्रधारी रक्षकों के द्वारा परिवेष्टित श्रेष्ठी इस भाँति जा रहे थे जैसे वे वज्र निर्मित पींजड़े में बैठे हों। (श्लोक ७६)

मणिधारी सर्पों से जिस प्रकार लोग दूर रहते हैं उसी प्रकार चोर-उचक्के भी पण्यवाही उस सार्थ से दूर रहते थे। (श्लोक ७७)

श्रेष्ठी धनी-निर्धन सभी का योगक्षेम समान भाव से वहन कर रहे थे एवं सबके साथ इस प्रकार जा रहे थे जैसे हस्तीयूथ के साथ यूथपति हाथी चलता है। सभी आनन्द-पुलकित नेत्रों से उनका आदर-सत्कार करते थे। सूर्य की भाँति प्रतिदिन वे आगे से आगे बढ़ते जाते थे। (श्लोक ७८-७९)

इस प्रकार जाते-जाते रात्रि को छोटा करने वाला, नद, नदी, सरोवर को शुष्क बना देने वाला और पर्यटकों के लिए क्लेशकर भीषण ग्रीष्मकाल आ उपस्थित हुआ। विशाल भट्टी में जलती हुई अग्नि की भाँति असह्य गर्म हवा प्रवाहित होने लगी, सूर्य अंगारे-सी

धूप चारों ओर प्रसारित करने लगा। सार्थ ने पथ के दोनों ओर के वृक्षों के नीचे विश्राम ले लेकर आगे बढ़ना प्रारम्भ किया। जो प्यासे होते वे प्याऊ से पानी पी-पीकर वृक्षों के नीचे कुछ देर सो जाते। महिषों की जीभें इस प्रकार बाहर निकलने लगीं जैसे निःश्वास ही उन्हें बाहर धक्का दे रहा है। जो उन्हें चला रहे थे उनकी मार का भी भय न कर वे कीचड़ कादे में उतरने लगे। सारथी के चाबुक से पिटने पर भी उसकी उपेक्षा कर बलद दूरवर्ती वृक्षों की छाया में आकर खड़े होने लगे। गरम लौहशलाकाओं से जिस प्रकार मोम पिघल जाता है उसी प्रकार सूर्य की उत्तप्त किरणों के स्पर्श से मनुष्यों की देह से स्वेदधारा प्रवाहित होने लगी। पथ की धूल अग्निकुण्ड की राख की भांति उष्ण हो गयी। सार्थ के साथ जो स्त्रियाँ थीं वे राह में जलाशय देखते ही उसमें उतर कर स्नान करने लगीं और पद्मनाल उखाड़ कर गले में लपेटने लगीं। पसीने से उनके परिधान वस्त्र भीगकर इस प्रकार देह से सटे जा रहे थे लगता जैसे अभी-अभी स्नान कर वे गीले वस्त्रों में ही चल रही हैं। मनुष्य ताड़, ताड़, हिताल, कमल और कदली के पत्रों से हवा कर कर पसीना सुखाने लगे। (श्लोक ८०-८९)

ग्रीष्म के पश्चात् ग्रीष्म की ही भांति पथ के लिए विघ्नकारी वर्षा ऋतु का आविर्भाव हुआ। वज्र की भांति विराट धनुष लिए और अलधारा रूप बाण बरसाते हुए मेघ आकाश में छा गए। सार्थ के समस्त लोग भयभीत से उसी ओर देखने लगे। बालक जिस प्रकार अधजली लकड़ी घुमा-घुमाकर भय दिखाते हैं उसी प्रकार बिजली चमक-चमक कर उन्हें डराने लगी। वर्षा के जल से उमड़ी हुई जलधारा नदी के कगारों की भाँति पथिकों के चित्त को भी भंग कर रही थी। वृष्टि के जल में ऊँची-नीची धरती एक समान हो गयी थी। सच ही तो कहा है कि जल जब बढ़ जाता है तो विवेक खो देता है। (दूसरा अर्थ—मूर्ख उन्नति करने पर भी विवेक को प्राप्त नहीं करता।) (श्लोक ९०-९४)

जल, कीचड़ और काँटों से पथ दुर्गम हो गया था। अतः एक योजन पथ अतिक्रम करने पर लगता जैसे एक सौ योजन पथ अतिक्रम कर आए हैं। मनुष्य घुटनों तक जल में इस प्रकार चल

रहे थे मानो अभी-अभी कैद से मुक्त होकर आए हैं (पाँवों में भारी-भारी बेड़ियाँ होने के कारण कैदी जैसे धीरे-धीरे चलते हैं।) समस्त पथ जल में इस प्रकार विस्तारित हो गया था जैसे किसी दुष्ट दैत्य ने पथिकों के पथ को अवरुद्ध करने के लिए चारों ओर अपने हाथ फैला दिए हैं। गाड़ियाँ कादे में इस प्रकार धँसने लगीं मानो रथ के चक्कों से उन्हें पीस डालने के लिए धरती ने रथ-चक्रों का ग्रास कर लिया है। ऊँटों के पैर ही नहीं उठ रहे हैं। आरोही-गण इसीलिए नीचे उतर कर उनके पैरों में रस्सी बाँधकर खींचने लगे; किन्तु कादे के कारण उनके पैर उठते ही नहीं बल्कि वे गिर-गिर जाते थे। (श्लोक ९५-९९)

वर्षा के कारण पथ चलना दुष्कर समझ कर धनश्रेष्ठी ने उसी वनमें रहने का निश्चय किया। एक ऊँचा स्थान देखकर उन्होंने तम्बू डाला। उनकी देखा-देखी अन्य लोगों ने भी तम्बू ताने या कुटी निर्मित की। ठीक ही तो कहा जाता है जो देश और काल-सा आचरण करता है वह सुखी होता है। (श्लोक १००-१०१)

श्रेष्ठी के मित्र मणिभद्र ने भी जीवरहित भूमि पर उपाश्रय की भाँति एक कुटी बना दी। साधु सहित आचार्य वहाँ अवस्थान करने लगे। (श्लोक १०२)

साथ में बहुत से लोग थे और अनेक दिन उन्हें रहना पड़ा। अतः उनके साथ जो पाथेय और चारा आदि था, सब खत्म हो गया। क्षुधा से पीड़ित वे अन्य सामान्य तपस्वियों की भाँति कन्द-मूलादि के सन्धान में इधर-उधर विचरण करने लगे।

(श्लोक १०३-१०४)

एक दिन सन्ध्या को श्रेष्ठी के मित्र मणिभद्र ने साथियों की दुर्दशा के विषय में श्रेष्ठी से निवेदन किया। यह सुनकर श्रेष्ठी उनके दुःख से इस प्रकार निश्चल होकर बैठ गए जैसे हवा नहीं रहने पर समुद्र निश्चल हो जाता है। इसी प्रकार चिन्ता करते-करते श्रेष्ठी की आँखें लग गईं। ठीक ही तो कहा गया है अति दुःख और अति सुख निद्रा के प्रमुख कारण होते हैं। (श्लोक १०५-१०७)

रात्रि के शेष प्रहर में शुभचिन्तक अश्वशाला का एक प्रहरी यह कहता हुआ श्रेष्ठी का गुणगान कर रहा था—

'हमारे जो स्वामी है उनका यश चारों ओर विस्तृत है। यद्यपि अभी दुःख का समय आ गया है तब भी भली-भांति पोषण करते हैं।' (श्लोक १०८-९)

यह गुणगान श्रेष्ठी धन के कानों में पहुँचा। वह सोचने लगा—'किसने मेरी भर्त्सना की! मेरे साथ कौन दुःखी है! अरे हां—हमारे साथ जो आचार्य धर्मघोष आए थे वे तो केवल वही भिक्षा ग्रहण करते हैं जो न उनके लिए बना है, न बनाया गया है। कंदमूल का तो स्पर्श भी नहीं करते। इस दुःसमय में न जाने उनकी क्या अवस्था हुई है? राह में सारी व्यवस्था मैं करूँगा कहकर, आश्वासन देकर मैं ले आया पर उन्हें मैंने एक बार याद भी नहीं किया। अब उसके पास जाकर अपना मुँह कैसे दिखाऊँ? फिर भी आज उनके पास जाऊँगा और उनका दर्शन कर स्वयं का पाप-प्रक्षालन करूँगा। कारण इसके अतिरिक्त सब प्रकार की वासनाओं के परित्यागी उन महात्मा की मैं क्या सेवा कर सकता हूँ?' इस प्रकार विचार करते हुए श्रेष्ठी को रात्रि का चतुर्थ याम भी द्वितीय याम जैसा लगा। [illegible] हुई। श्रेष्ठी नवीन वस्त्रालंकारों से भूषित होकर विशेष-विशेष व्यक्तियों को साथ लिए आचार्य की कुटी की ओर अग्रसर हुए। कुटी पर्णपत्रों से आच्छादित थी। पास की दीवालें थीं। उसकी बनावट इस प्रकार थी जैसे कपड़े पर कसीदे का काम किया गया है। जिस भूमि पर वह कुटी बनी थी वह जीवरहित थी।

(श्लोक ११०-१८)

वहां उसने आचार्य धर्मघोष को देखा। देखकर उसे ऐसा लगा कि आचार्य ने पाप रूप समुद्र को प्रशमित कर लिया है। वे मोक्ष के मार्ग स्वरूप हैं, धर्म के स्तम्भ हैं, तेज के आश्रय और कषाय रूप गुल्म के लिए हिमरूप हैं, लक्ष्मी के कंठाभरण, संघ के अद्वैत भूषण, मुमुक्षुओं के लिए कल्पवृक्ष रूप, तपस्या के प्रत्यक्ष अवतार, मूर्तिमान् आगम और तीर्थ परिचालनकारी तीर्थंकर स्वरूप हैं।

(श्लोक ११९-१२२)

आचार्य के पास और भी अनेक मुनि अवस्थान कर रहे थे। उनमें कोई ध्यान में निरत था, किसी ने मौन धारण कर रखा था।

कोई कायोत्सर्ग में अवस्थित था। कोई आगम का अध्ययन कर रहा था, कोई गुरु की सेवा कर रहा था, कोई धर्म कथा सुना रहा था। कोई अनुज्ञा दे रहा था, कोई तत्त्व समझा रहा था।

(श्लोक १२२-२४)

श्रेष्ठी ने पहले धर्मघोष आचार्य की एवं बाद में अन्यान्य मुनिवरों की वन्दना की। आचार्य ने 'जैन धर्म प्राप्त हो' कहकर श्रेष्ठी को आशीर्वाद दिया। (श्लोक १२५)

श्रेष्ठी आचार्य के चरण-कमलों के पास राजहंस की भाँति प्रसन्नतापूर्वक बैठ गया और बोला—हे भगवन्, मैंने मैं आपको मेरे साथ ले जाऊँगा, ऐसा, कहा था; किन्तु मेरा वह वाक्य शरत्काल के मेघाडम्बर की भाँति ही मिथ्या और आडम्बर मात्र ही था। कारण उस दिन से लेकर आज तक न तो मैंने आपकी दर्शन-वन्दना की और न ही अन्न-जल और वस्त्रदान से आपका सत्कार किया। जाग कर भी मैं सोया था। मैंने आपकी अवज्ञा की है और अपना वचन भंग किया है। हे भगवन्! इस प्रमाद के लिए आप मुझे क्षमा करें। सर्वदा सब कुछ सहन करते हैं इसीलिए महात्मागण पृथ्वी की भाँति सर्वंसह होते हैं।' (श्लोक १२६-१३०)

प्रत्युत्तर में आचार्य बोले—'हे सार्थवाह, तुमने पथ में हिंस्र पशुओं से मेरी रक्षा की है। सर्वप्रकार से मेरा सम्मान किया है। तुम्हारे साथ जाने वाले लोगों ने ही हमें अन्न-जल दिया है। तभी तो हमें कोई असुविधा नहीं हो पाई। अतः तुम मन में बिल्कुल क्षोभ मत करो।' (श्लोक १३१-१३२)

श्रेष्ठी बोले—'सत्पुरुष तो सर्वत्र गुण ही देखते हैं। यही कारण है कि अपराधी होने पर भी आप मुझे इस प्रकार कह रहे हैं। किन्तु मैं अपने प्रमाद के लिए सचमुच ही अत्यंत लज्जित हूँ। अब आप प्रसन्न होकर मुनियों को मेरे यहाँ से भिक्षा लाने के लिए प्रेरित करिए। मैं आपको इच्छानुकूल अन्न-जल दूँगा।'

(श्लोक १३३-१३४)

आचार्य बोले—'तुम तो जानते हो हम वही अन्न-जल ग्रहण करते हैं जो हमारे लिए न बनाया गया हो, न बनवाया गया हो और जो जीवरहित हो।' (श्लोक १३५)

'मैं ऐसा ही अन्न-जल मुनियों को दूंगा'—कहते हुए श्रेष्ठी आचार्य को प्रणाम कर स्व-आवास को लौट गए। (श्लोक १३६)

मुनिगण भिक्षा लेने श्रेष्ठी के आवास पर गए; किन्तु दैव-वशात: श्रेष्ठी के आवास पर ऐसा कुछ नहीं मिला जिसे मुनिगण ग्रहण कर सकते। तब श्रेष्ठी इधर-उधर देखने लगे—सहसा उनकी दृष्टि उनके निर्मल अन्त:करण की भाँति ताजे घी पर पड़ी।

(श्लोक १३७-३८)

श्रेष्ठी ने मुनियों से पूछा—'क्या यह घी आपके काम आ सकता है?' मुनियों ने 'आ सकता है' कहते हुए भिक्षा-पात्र श्रेष्ठी के सम्मुख रख दिया। (श्लोक १३९)

'मैं धन्य हुआ, कृतार्थ हुआ, कृतकृत्य हुआ' ऐसा चिन्तन करते-करते श्रेष्ठी का शरीर रोमांचित हो गया। उन्होंने स्व-हाथों से वह घी मुनियों के पात्र में डाल दिया। तदुपरान्त साधु नेत्रों से उनकी वन्दना की। [illegible] अंकुरित कर लिया। मुनि भी समस्त कल्याण एवं सिद्धि के सिद्धि-मन्त्र स्वरूप 'धर्म प्राप्त हो' कहकर आशीर्वाद देते हुए अपने कुटीर को लौट गए। धनश्रेष्ठी ने मोक्ष रूप वृक्ष का दुर्लभ बीज व सम्यक्त्व रूप बीज को प्राप्त किया।

सन्ध्या समय श्रेष्ठी पुन: मुनियों के निवास स्थान पर गए और आचार्य की वन्दना की। फिर उनकी अनुमति लेकर—करबद्ध बने उनके सामने बैठ गए। धर्मघोष सूरि ने श्रुत केवली की भाँति मेघ मन्द्र आवाज में उन्हें कहा—'धर्म ही उत्कृष्ट मंगल है। धर्म ही स्वर्ग और मोक्ष प्रदान करता है एवं संसार अटवी को पार करने का पथ प्रदर्शित करता है। धर्म माता की भाँति पोषण करता है, पिता की भाँति रक्षा करता है, मित्र की भाँति प्रसन्न करता है, बन्धु की भाँति आनन्द देता है, गुरु की भाँति उज्ज्वल गुण से भूषित कर उच्च स्थान देता है और प्रभु की भाँति प्रतिष्ठित करता है। धर्म सुख का प्रासाद है, शत्रुव्यूह के लिए कवच तुल्य है, शीतोत्पन्न जड़ता को विनष्ट करने में आतप तुल्य होने के साथ ही पाप के मर्म का ज्ञाता है। धर्म प्रभाव से जीव राजा होता है, बलदेव होता है,

वासुदेव होता है, चक्रवर्ती होता है, देवता होता है, इन्द्र होता है, ग्रैवेयक होता है और अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र होता है। इतना ही नहीं धर्म के ही प्रभाव से तीर्थङ्कर भी होता है। ऐसा क्या है जो धर्म के प्रभाव से प्राप्त नहीं किया जा सकता ?

(श्लोक १४०-१४१)

'दुर्गति में पतित जीव को जो धारण करता है उसी का नाम धर्म है। धर्म चार प्रकार का होता है दान, शील, तप और भावना।

(श्लोक १४२)

दान तीन प्रकार का होता है। यथा- ज्ञानदान, अभयदान और धर्मोपग्रह दान।

(श्लोक १४३)

जो धर्म नहीं जानता, उन्हें उपदेश देना, ज्ञानार्जन के साधन जुटा देना ज्ञानदान है। ज्ञानदान से जीव अपने हित-अहित को समझता है। हिताहित को जानकर जीवादि तत्त्व को अवगत कर विरति या वैराग्य को प्राप्त करता है। ज्ञानदान से जीव उज्ज्वल केवलज्ञान प्राप्त कर समस्तलोक का कल्याण साधन कर लोकाग्रावस्थित सिद्धशिला पर आरूढ़ होता है अर्थात् मोक्ष प्राप्त करता है।

(श्लोक १४४-१४६)

अभयदान का अर्थ है मन वचन काया से जीव-हिंसा नहीं करना, करवाना एवं कोई करे तो उसका अनुमोदन नहीं करना।

(श्लोक १४७)

जीव दो प्रकार के हैं : स्थावर और त्रस। इनके भी दो भेद हैं : पर्याप्त और अपर्याप्त।

(श्लोक १४८)

'पर्याप्त भी छह प्रकार के होते हैं : आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वास-प्रश्वास, भाषा और मन।

(श्लोक १४९)

एकेन्द्रिय जीव के प्रथम चार पर्याप्तियाँ होती हैं। बेइन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक जीवों की भी प्रथम चार पर्याप्तियाँ होती हैं।

(श्लोक १६०)

एकेन्द्रिय स्थावर जीव पाँच प्रकार के होते हैं : पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय। इनमें चार के सूक्ष्म

और बादर दो भेद हैं। वनस्पतिकाय के भी दो भेद हैं : प्रत्येक और साधारण। साधारण वनस्पति के फिर दो भेद हैं: सूक्ष्म और बादर। (श्लोक १६१-१६२)

त्रस जीव के चार भेद होते हैं। बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय। पंचेन्द्रिय जीव दो प्रकार के होते हैं: संज्ञी व असंज्ञी। (श्लोक १६३)

जो मन और प्राण को प्रवृत कर शिक्षा, उपदेश और वाक्य के तात्पर्य को ग्रहण कर सकते हैं वे संज्ञी हैं, जो इसके विपरीत हैं वे असंज्ञी हैं। (श्लोक १६४)

इन्द्रियाँ पाँच हैं : त्वचा (स्पर्श), रसना (जिह्वा), नासिका (घ्राण), चक्षु (आँखें), श्रोत्र (कान)।

त्वचा या स्पर्शेन्द्रिय का कार्य है स्पर्श करना, रसना का कार्य है स्वाद ग्रहण करना, नासिका का कार्य है सूँघना अर्थात् आघ्राण लेना, चक्षु का कार्य है देखना और श्रोत्र का कार्य है सुनना।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज (श्लोक १६५)

कीट, शंख, केंचुआ, जोंक, कर्पदिका, सुतही नामक जल-जीव आदि बेइन्द्रिय हैं। (श्लोक १६६)

जूँ, खटमल, चींटी आदि तेइन्द्रिय जीव है। पतंगा, मच्छर, भौंरा, मक्खी आदि चउरिन्द्रिय जीव है। (श्लोक १६७)

जलचर (मछली, मगर आदि), स्थलचर (गाय, भैंसादि पशु), खेचर (कबूतर, तीतर, कौआ आदि पक्षी), नारक (नरक में उत्पन्न जीव), देव (स्वर्ग में उत्पन्न जीव) और मनुष्य पंचेन्द्रिय जीव हैं। (श्लोक १६८)

उपर्युक्त जीवों की हत्या करना, शारीरिक और मानसिक क्लेश देना हिंसा है। हत्या नहीं करना अभयदान है। जो अभयदान देता है वह चार पुरुषार्थ (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) दान देता है। कारण जीवित प्राणी पुरुषार्थ प्राप्त कर सकता है। जीव मात्र को राज्य, साम्राज्य यहाँ तक कि स्वर्ग की अपेक्षा भी अपना जीवन अधिक प्रिय होता है। इसीलिए कीचड़ का कीट और स्वर्ग का इन्द्र इन दोनों को ही प्राण-हानि का भय एक-सा ही होता है।

अतः सत्पुरुषों को सदैव सतर्क होकर अभयदान की इच्छा रखनी चाहिए। अभयदान देने से मनुष्य आगामी जन्म में मनोहर देह, दीर्घ आयु, स्वास्थ्य, कांति, श्री और शक्ति प्राप्त करता है।

(श्लोक १६९-७४)

धर्मोत्साह दान पांच प्रकार का होता है : दाता (जो दान देता है) शुद्ध हो, ग्राहक (जो दान ग्रहण करता है) शुद्ध हो, देयवस्तु (जो दान दी जाती है) शुद्ध हो, काल (दान देने का समय) शुद्ध हो, भाव (दान देने के समय का मनोभाव) शुद्ध हो। (श्लोक १७५)

'वही दाता शुद्ध होता है जिसका धन न्यायोपार्जित है, जिसकी बुद्धि उत्तम है, जो किसी प्रत्याशा से दान नहीं देता, जो ज्ञानी है (क्यों दान दे रहा है) और देने के पश्चात् जो पश्चात्ताप नहीं करता। जो मन में सोचता है : मैं ऐसा चित्त (जिसमें दान देने की इच्छा उत्पन्न हुई है), ऐसा चित्त (न्यायोपार्जित धन), ऐसा पात्र (दान ग्रहण करने वाला भी शुद्ध है) पाकर धन्य हो गया हूँ।

(श्लोक १७६-१७७)

'दान ग्रहण करने वाला वही शुद्ध है जो पाप रहित है, तीन गौरव स्वाद (स्वाद लोलुपता, ऐश्वर्य लोलुपता और सुख लोलुपता) और सुख लोलुपता) रहित है, तीन गुप्तियों (संयमित मन, संयमित वचन और संयमित काया) का धारक है, पांच समितियों (जो चलने फिरने, बोलने एवं आहार लेने के समय तथा किसी वस्तु को उठाने एवं रखने के समय और शौचादि के समय जीव हत्या से सावधान रहता है) का पालन करने वाला है। वह राग-द्वेष से रहित होता है, नगर, ग्राम, स्थान, उपकरण और शरीर से ममत्व नहीं रखता है, अठ्ठारह हजार शीलांगों को धारण करने वाला और रत्न त्रय (सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चरित्र) का अधिकारी होता है। वह धीर होता है। लोहा और सोना को समदृष्टि से देखता है, धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान में निरत रहता है, जितेन्द्रिय और कुक्षि सम्बल (आवश्यकतानुसार भोजनकारी) होता है। वह निरन्तर छोटी-बड़ी तपस्या में निरत रहता है, सत्रह प्रकार के संयम अखण्ड रूप से पालन करता है, अठारह प्रकार के ब्रह्मचर्य का व्रती होता है। ऐसे शुद्धदान ग्रहणकारी को दान देना 'ग्राहक शुद्ध दान या सुपात्र दान कहलाता है। (श्लोक १७८-१८२)

'दो जानेवाली शुद्ध वस्तु भी बयालीस प्रकार की होती है— दोष रहित अशन (पूड़ी, मिठाई आदि) पान (जल, दूध, रस आदि) खादिम (फल, बादाम, किसमिस आदि), स्वादिम (लौंग, सुपारी, इलायची आदि), वस्त्र और संथारा (पहनने के कपड़े तथा बिछाने के कम्बल आदि)। इन वस्तुओं के दान को शुद्ध दान बोला जाता है।

'योग्य समय पर पात्र को दान देना पात्रशुद्ध दान और कामना रहित दान देना भावशुद्ध दान कहलाता है।

(श्लोक १८३-१८४)

'शरीर के बिना धर्म की आराधना नहीं की जा सकती और अन्न के बिना देह धारण करना सम्भव नहीं है। इसीलिए धर्मोपग्रह (जिससे धर्म साधना में सहायता मिलती है। दान देना उचित है। जो व्यक्ति अशन-पानादि धर्मोपग्रह सुपात्र को दान करते हैं वे तीर्थ को स्थिर करने में सहायक बनते हैं और स्वयं भी परमपद को प्राप्त करते हैं। (श्लोक १८५-८६)

'जिस प्रवृत्ति के वश होकर प्राणी हत्या की जाती है उस प्रवृत्ति को नहीं करना शील कहलाता है। शील के भी दो भेद हैं— देश विरति और सर्व विरति। (श्लोक १८७)

'देश विरति बारह प्रकार की होती है। पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत। (श्लोक १८८)

'स्थूल अहिंसा, स्थूल सत्य, स्थूल अस्तेय (अचौर्य), स्थूल ब्रह्मचर्य और स्थूल अपरिग्रह ये पांच अणुव्रत हैं। दिक्‌विरति, भोगोपभोग विरति और अनर्थदण्ड विरति, तीन गुणव्रत हैं। सामायिक, देशावकाशिक, पौषध और अतिथि-संविभाग, चार शिक्षाव्रत है। (श्लोक १८९-९१)

'इसी प्रकार के देश विरति गुणयुक्त शुश्रषु (जिनकी धर्म सुनने की इच्छा रहती है), यति(साधु), धर्म अनुरागी, धर्मपथ्य भोजी (ऐसा भोजन करने वाला जिससे धर्माचरण करना सम्भव हो), शम (निर्विकार शांति), संवेग (वैराग्य), निर्वेद (निःस्पृहता), अनुकम्पा (दया) और आस्तिक्य (श्रद्धा) बुद्धि सम्पन्न, सम्यक् दृष्टि, अज्ञान

और सर्वप्रकार से क्रोध रहित गृहस्थ चारित्र मोहनीय कर्म को नाश करने में सक्षम होता है। (श्लोक १९३-१९४)

'त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा से सर्वथा दूर रहने को सर्व विरति कहा जाता है। यह सर्व विरति रूप शील को प्राप्त करते हैं। (श्लोक १९५)

'जो कर्म को तापित और विनष्ट करता है उसे तप कहते हैं। तप के दो भेद हैं: बाह्य और आभ्यंतर। अनशनादि बाह्य तप है एवं प्रायश्चित्तादि आभ्यंतर तप हैं। (श्लोक १९६-९७)

'बाह्य तप के छह भेद हैं: अनशन उपवास, इकाशना, आयंबिल आदि), वृत्ति संक्षेप (आवश्यकताएँ कम करना), रस त्याग (छह रसों में से प्रतिदिन एक रस का त्याग) कायक्लेश (केशोत्पाटन आदि शारीरिक दुःख), संलीनता (मन और इन्द्रियों को वश में रखना)। (श्लोक १९८)

'आभ्यंतर तप के भी छह भेद हैं प्रायश्चित्त (कृत अतिचार एवं नियम उल्लंघन के लिए आलोचना और आवश्यक तप), वैयावृत्त (त्यागी एवं धर्मात्माओं की सेवा करना), स्वाध्याय (धर्मशास्त्रों का पठन, श्रवण, मनन), विनय (नम्रता), कायोत्सर्ग (शारीरिक समस्त कर्मों का परित्याग) और शुभ ध्यान (धर्म और शुक्ल ध्यान में चित्त नियोग)। (श्लोक १९९)

'ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप तीन रत्नों को धारण करने वाले की भक्ति करना, उनका कार्य करना, शुभ विचार और संसार के असारत्व का चिन्तन करना भावना कहलाता है। (श्लोक २००)

'यह चतुर्विध (दान, शील, तप, भावना) धर्म मोक्षफल प्राप्ति का साधन है। अतः संसार भ्रमण से भयभीत व्यक्ति को सावधान होकर इसकी साधना करना उचित है।' (श्लोक २०१)

धर्मोपदेश सुनकर धन श्रेष्ठी बोले—'ऐसी धर्मकथा तो मैंने कभी नहीं सुनी। इसीलिए इतने दिनों तक मैं मेरे कर्मों के द्वारा प्रवंचित हुआ हूँ।' फिर वे उठ कर आचार्य एवं अन्य मुनियों की वन्दना कर स्वयं को धन्य सोचते हुए अपने आवास स्थान को लौट गए। धर्म-श्रवण के आनन्द में श्रेष्ठी की वह रात्रि एक मुहूर्त्त की

निर्देश – आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

भाँति व्यतीत हो गई। (श्लोक २०२-४)

सुबह जब वे शय्या त्याग कर उठे तो भाटों के शंख की भाँति उदात्त और मधुर स्वर सुनाई पड़ा - (श्लोक २०५)

'घने अन्धकार से मलिन पद्मिनी की शोभा को हरण करने वाली तथा मनुष्य व्यवहार को निरुद्ध करने वाली रात्रि वर्षाऋतु की भाँति व्यतीत हो गई है। तेजस्वी और प्रचण्ड रश्मिरथी सूर्य उदित हो गया है। काम-काज का सुदृढ़ प्रभातकाल शरद् ऋतु की भाँति उपस्थित हो गया है। तत्त्वबोध से बुद्धिमान व्यक्ति का हृदय जिस प्रकार निर्मल हो जाता है उसी प्रकार शरत् के आविर्भाव से सरोवर और सरिता का जल निर्मल हो गया है। आचार्यों के उपदेश से ग्रन्थ जिस प्रकार संशय रहित और सरल हो जाता है सूर्य किरण से शुष्क और कर्दमरहित पथ उसी प्रकार सरल हो गया है। पथ के मध्य से जिस प्रकार गाड़ियों का समूह चलता है नदी भी उसी प्रकार तट की मध्यवर्ती होकर धीरे-धीरे प्रवाहित होती है। पथ के दोनों ओर शस्य क्षेत्र में उत्पन्न श्यामक, नीवार, बालुंक, कुवलय आदि शस्य और फल भार से पथ जैसे पथिकों के अतिथि सत्कार को प्रवृत्त हो गया है। शरत्काल के समीर से आन्दोलित इक्षुवृक्षों के शब्द जैसे पुकार-पुकार कर कह रहे हैं – हे पथिकगण ! तुमलोग अपने-अपने यान और वाहनों पर आरोहण करो। पथ पर चलने का समय हो गया है। मेघ अब सूर्य किरणों से तृप्त पथिकों के लिए मात्र छत्र का कार्य कर रहे हैं। सार्थ के वृषभगण अपने कुम्भ से भूमि को समतल कर रहे हैं ताकि पथ चलते पथिकों को कोई कष्ट न हो। पहले पथ पर जो जल वेग से गर्जन करता-करता प्रवाहित हो रहा था अब वर्षा ऋतु के मेघ की भाँति वह भी अदृश्य हो गया है। फलों के भार से अवनत लगता और पद-पद पर प्रवाहित निर्मल जल के झरने से बिना परिश्रम के ही पथिकों के लिए पथ पाथेय से पूर्ण हो उठे हैं। उत्साही और उद्यमी व्यक्तिगण राजहंस की भाँति दूर देश जाने के लिए तत्पर हो गए हैं।' (श्लोक २०६-२१७)

श्रेष्ठी भाट के मुख से इस मंगलपाठ को सुनकर समझ गए कि ये लोग यह सूचना दे रहे हैं कि यात्रा का समय हो गया है। उन्होंने उसी समय यात्रा के भेरी निनाद का आदेश दिया। उस भेरी

नाद से आकाश और पृथ्वी का मध्यवर्ती अन्तरिक्ष भर उठा। गोपों की शृंगध्वनि सुनकर जैसे गायों का समूह चलना प्रारम्भ कर देता है वह सार्थ भी उसी प्रकार भेरी की ध्वनि सुनकर चलने लगा।

(श्लोक २१८-१९)

मार्गदर्शक : आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जैसे सूर्य किरण-जाल से आवेष्टित होकर चलता है वैसे ही भव्य जीव रूपी कमल को बोध देने में प्रवीण धर्मघोष आचार्य भी मुनिवरों द्वारा परिवृत होकर चलने लगे। सार्थ की रक्षा के लिए सामने पीछे दाएं-बाएं रक्षक नियुक्त कर श्रेष्ठी भी चलने लगे। सार्थ जब उस महारण्य को अतिक्रम कर गया तब आचार्य श्रेष्ठी की अनुज्ञा लेकर अन्य दिशा की ओर विहार कर गए।

(श्लोक २२०-२२२)

नदी समूह जिस प्रकार समुद्र में गमन करता है वैसे ही धन श्रेष्ठी भी समस्त पथ सकुशल अतिक्रम कर वसन्तपुर नगर में उपस्थित हुए। वहाँ कुछ काल अवस्थान कर लाया हुआ पण्य विक्रय किया एवं नया पण्य क्रय किया। फिर मेघ जैसे समुद्र से जलपूर्ण होते हैं उसी प्रकार श्रेष्ठी भी धन ऐश्वर्य से परिपूर्ण होकर वहाँ से प्रत्यावर्तन कर क्षितिप्रतिष्ठितपुर में लौट आए। इसके कई वर्षों पश्चात् आयु शेष होने पर उनकी मृत्यु हो गई।

(श्लोक २२३-२२६)

द्वितीय भव

मुनि को सुपात्र दान देने के फलस्वरूप धन श्रेष्ठी ने उत्तर-कुरुक्षेत्र में युगल रूप में जन्म ग्रहण किया। वहाँ सब समय सुख आराम वर्त्तमान रहता है। यह स्थान सीता नदी के उत्तर तट पर जम्बू वन के पूर्व भाग में है। इन युगलियों की आयु तीन पल्योपम की एवं देह तीन कोश लम्बी होती है। उनकी पीठ में २५६ अस्थियाँ होती हैं। वे अल्प कषायी और ममता रहित होते हैं। तीन दिन में मात्र एक बार उनको खाने की इच्छा होती है। आयु के शेष भाग में स्त्री-युगल केवल एक बार गर्भ धारण करती हैं और उसके युगल (एक पुत्र एक कन्या) उत्पन्न होते हैं। सन्तान के उनचालीस दिवस का हो जाने पर माता-पिता की मृत्यु हो जाती है। वहाँ से वे देव-लोक में जाकर उत्पन्न होते हैं। उत्तर कुरुक्षेत्र की मिट्टी स्वभावतः ही शर्करा की भाँति मीठी होती है, जल शरदकालीन चन्द्रमा की

भाँति निर्मल और भूमि रमणीय होती है। इस भूमि पर दस प्रकार के कल्पवृक्ष उत्पन्न होते हैं। ये कल्पवृक्ष बिना परिश्रम के युगलियों को उनकी प्रयोजनीय वस्तुएँ देते हैं। (श्लोक २२६-२३२)

मद्यांग नामक कल्प-वृक्ष उन्हें मदिरा देता है, भृंगाक पात्रादि देता है, तुर्यांग विविध राग-रागिनी युक्त वाद्ययन्त्र देते हैं, दीप शिखांक और ज्योतिष्कांग अद्भुत आलोक देते हैं। चित्रांग नानाविध फूल और माल्य देते हैं, चित्ररस खाद्य देते हैं, मण्यांग अलंकारादि देते हैं, गेहाकार गृहरूप निवास स्थान देते हैं और अनग्न दिव्य-वस्त्र देते हैं। इन कल्पवृक्षों के अतिरिक्त अन्य कल्पवृक्ष भी होते हैं जो मनोवांछित वस्तु प्रदान करते हैं। वहाँ सब प्रकार की इच्छित वस्तुएँ मिलने के कारण धन श्रेष्ठी युगल जीवन में स्वर्ग-सा विषय-सुख भोग करने लगे। (श्लोक २३३-२३७)

युगल आयु पूर्ण कर धन श्रेष्ठी ने पूर्वजन्म के सुपात्र दान के कारण सौधर्म देवलोक में जाकर देवता-रूप में जन्म-ग्रहण किया। (श्लोक २३८)

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

देवायु पूर्ण होने पर वहाँ से च्युत होकर वे पश्चिम महाविदेह क्षेत्र में गन्धिलावती विजय में वैताढ्य पर्वत के ऊपर गान्धार देश के गन्धस्मृति नगर में विद्याधर शिरोमणि शतबल राजा की चन्द्रकान्ता नामक पत्नी के गर्भ से पुत्र रूप में उत्पन्न हुए। महाविक्रमशाली होने के कारण उनका नाम महाबल रखा गया। वैभव के मध्य लालित-पालित रक्षकों द्वारा सुरक्षित महाबलकुमार वृक्ष की भाँति वर्द्धित होने। क्रमशः चन्द्र की भाँति समस्त कला से पूर्ण होकर वे महाभाग्यशाली समस्त लोक के लिए आनन्ददायक बन गए। उचित समय पर माता-पिता ने साक्षात् विनयलक्ष्मी स्वरूप विनयवती के साथ उनका विवाह कर दिया। इन्होंने भी धीरे-धीरे कामदेव के तीक्ष्ण अस्त्र की भाँति कामनियों के वशीकरण रूप एवं रति के क्रीड़ा क्षेत्र के तुल्य यौवन को प्राप्त किया। उनके चरणों के पृष्ठ भाग कच्छप पृष्ठ की भाँति ऊँचे थे, पदतल समान थे। उनकी देह का मध्यभाग सिंह के मध्यभाग को तिरस्कृत करने वाला (अर्थात् क्षीण कटि) था। वक्ष देश था पर्वत शिलावत्, दोनों स्कन्ध थे वृषभ स्कन्ध की भाँति सुन्दर और दोनों भुजाएँ शेष नाग

के फन की भाँति सुशोभित थीं। उनका ललाट देश अर्धउदित पूनम-चन्द्र की भाँति अभिराम था। उनकी सौम्य आकृति, मणि-मुक्ता-सी दन्त पंक्तियाँ एवं नाखून और सुवर्ण कान्तिमय देह मेरुलक्ष्मी को भी निन्दित कर रही थी। (श्लोक २३९-२४९)

एक दिन सुबुद्धि, पराक्रमी और तत्त्वज्ञ विद्याधरपति शतबल एकान्त में बैठे चिन्तन कर रहे थे कि यह शरीर तो स्वभावतः ही अपवित्र है। इस अपवित्रता को नित्य नूतन भाव से सजाकर और कितने दिनों तक ढककर रख सकेंगे? नाना भाव से नित्य यत्न करने पर भी यदि कभी कुछ अयत्न हो जाए तो दुष्ट पुरुष की भाँति शरीर विकृत हो जाता है। कफ, विष्ठा, मूत्रादि के देह से निर्गत होने पर मनुष्य उससे घृणा करता है; किन्तु जब वह शरीर में रहता है तब उसकी ओर दृष्टि ही नहीं जाती। जीर्ण वृक्ष के कोटर में जिस प्रकार सर्प-वृश्चिक आदि क्रूर प्राणी निवास करते हैं उसी प्रकार इस शरीर में भी यंत्रणादायी अनेक रोग उत्पन्न होते हैं शरत्कालीन मेघ की भाँति यह शरीर स्वभावतः ही नाशवान है, यौवन रूपी लक्ष्मी देखते-देखते ही विद्युत प्रभा की भाँति विलीन हो जाती है। आयु ध्वजा की तरह चंचल है। वैभव तरंग-सा तरल। भोग-सुख भुजंग की भाँति वक्र और संगम स्वप्न-सा मिथ्या है। शरीर स्थित आत्मा पिंजरबद्ध प्राणी की भाँति काम, क्रोध रूप अग्नि के ताप में दग्ध होकर पुटपाक की तरह रात दिन पकता रहता है। कितना आश्चर्य! महादुःखदायी विषय को सुखदायी समझकर विष्ठा में उत्पन्न कीट-सा मनुष्य कभी वैराग्य प्राप्त नहीं करता। परिणामतः दुःखदायी विषय के स्वाद में आबद्ध होकर उसी तरह सिर पर खड़ी मृत्यु को नहीं देख पाता जिस प्रकार अन्धा सम्मुख उपस्थित कुएँ को नहीं देख पाता। मधुर विषय के विष के प्रथम आक्रमण में आत्मा मूर्च्छित हो जाती है। अतः उसका मंगल किसमें है वह यह सोच नहीं पाती। चार पुरुषार्थ यद्यपि समान हैं फिर भी आत्मा पाप रूपी अर्थ और काम पुरुषार्थ में लीन हो जाती है। धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ के लिए प्रयत्न नहीं करती। इस दुस्तर संसार समुद्र में जीव के लिए मनुष्य देह रूपी अमूल्य रत्न प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। मनुष्य-शरीर प्राप्त होने पर भी भाग्योदय

से ही अर्हंत् भगवान और निर्ग्रंथ सुसाधुओं का सान्निध्य मिल पाता है। यदि मनुष्य-देह धारण करके भी हम इसका उत्तम फल ग्रहण नहीं करते हैं तब हमारी दशा उस नागरिक-सी हो जाती है जिनका शहर में रहते हुए भी सर्वस्व लुट जाता है। इसलिए अब मैं कवच-धारी महाबल कुमार को राज्य-भार देकर आत्म-कल्याण में नियुक्त होता हूँ। (श्लोक २५०-२६५)

ऐसा चिन्तन कर राजा शतबल ने महाबलकुमार को बुलवाया और उस विनय सम्पन्न कुमार को राज्य-भार ग्रहण करने को कहा। महाबल कुमार ने पितृ आज्ञा शिरोधार्य कर ली, क्योंकि महान् आत्माएँ गुरुजनों की आज्ञा को अमान्य करने में भयभीत हो जाती हैं। (श्लोक २६६-२६७)

तब राजा शतबल ने महाबलकुमार को सिंहासन पर बैठाकर राज्याभिषिक्त कर स्व हाथों से मंगल तिलक अंकित किया। कुन्द-पुष्प-से मंगल तिलक में नवीन राजा उदयाचल पर आरूढ़ चन्द्रमा की भाँति सुशोभित होने लगे। शरत्कालीन मेघावृत गिरिराज जिस प्रकार देखने में सुन्दर लगता है वे भी हंसधवल पिता के श्वेतछत्र में उतने ही सुन्दर दिखायी दे रहे थे। उड़ते हुए हंस युगलों से मेघ-पंक्ति जिस प्रकार सुशोभित होती है उसी प्रकार दोनों ओर चामर बींजने के कारण वे शोभित हो रहे थे। चन्द्रोदय के समय समुद्र जिस प्रकार मन्द्रित होता है उसी प्रकार अभिषेककालीन मन्त्र ध्वनि से आकाश भी मन्द्रित होने लगा। सामन्त और मन्त्रीगण ने महाबलकुमार को राजा शतबल का रूपान्तर मानकर अभिवादन किया और उनकी आज्ञापालन की शपथ ली। (श्लोक २६८-२७३)

इस भाँति पुत्र को सिंहासन देकर राजा शतबल ने आचार्य के निकट जाकर स्वयं चारित्र रूप साम्राज्य को ग्रहण किया (अर्थात् प्रव्रजित हुए)। उन्होंने असार विषय का परित्याग कर सार रूप त्रिरत्न (सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र) को धारण किया अर्थात् राजवैभव परित्याग कर प्रव्रजित हुए। वे समभाव में अवस्थित रहने लगे। जितेन्द्रिय बनकर क्रोध, मान, माया, लोभ को उसी प्रकार उखाड़ फेंकने लगे जिस प्रकार नदी का प्रवाह तट स्थित वृक्ष को उत्पाटित कर देता है। वे शक्तिशाली महात्मा मन को

आत्म-स्वरूप में लीन कर शरीर और वाणी को नियमित कर दुःसह परिषह सहन करने लगे। मैत्री, करुणा, मध्यस्थ आदि भावनाओं में जिनकी ध्यान धारणा वर्द्धित हो गई है वे शतबल राजर्षि महानंद में इस प्रकार अवस्थान करने लगे जैसे वे मोक्षानन्द में अवस्थित हों। ध्यान और तपस्या निरत वे महात्मा आयु के अवसान होने पर लीलामात्र में ही स्वर्ग में देवता रूप में उत्पन्न हुए।

(श्लोक २७४-२७९)

महाबलकुमार बलवान विद्याधरों की सहायता से इन्द्र की भाँति पृथ्वी का सम्यक् शासन करने लगे। हंस जिस प्रकार कमलिनीवन में आनन्द से क्रीड़ा करता है उसी प्रकार वे भी रमणियों के साथ पुष्पोद्यान में आनन्दक्रीड़ा करने लगे। उनकी राजधानी में नियमित संगीत की झंकार उठती जो कि वैताढ्य पर्वत पर प्रतिध्वनित होकर ऐसी लगती मानो गिरि कन्दराएँ उस संगीत का अभ्यास कर रही हैं। आगे-पीछे, दाएँ-बाएँ रमणियों से परिवृत वे साक्षात् शृंगार रस की भाँति सुशोभित होने लगे। स्वच्छन्द भाव से विषय क्रीड़ा में मग्न होकर उनके दिन-रात विषुवत् रेखा स्थित समभाव दिवा-रात्रि की भाँति व्यतीत होने लगे।

(श्लोक २८०-२८४)

एक दिन सामंत और मन्त्रियों से अलंकृत होकर महाबल कुमार मणिस्तम्भ की भाँति सभास्थल में बैठे थे। अन्यान्य सभासद भी अपने-अपने स्थान पर अधिष्ठित थे। वे महाबलकुमार को एक दृष्टि से इस भाँति देखने लगे जैसे योगसाधना के लिए वे ध्यान करने जा रहे हों। स्वयंबुद्ध, संभिन्नमति, शतमति और महामति नामक चार मुख्यमन्त्री भी वहाँ उपस्थित थे। इनमें स्वयंबुद्ध मन्त्री स्वामिभक्ति में अमृतसागरवत् थे, बुद्धि में रोहणाचल पर्वत की भाँति और सम्यक् दृष्टि सम्पन्न थे। वे सोचने लगे - यह दुःख का विषय है कि हमारे विषयासक्त राजा को इन्द्रिय रूपी दुष्ट अश्व आकृष्ट कर लिए जा रहे हैं। मुझे धिक्कार है कि मैं इसकी उपेक्षा कर रहा हूँ। विषय के आनन्द में आसक्त हमारे प्रभु का जीवन व्यर्थ नष्ट हो रहा है यह देखकर जैसे अल्प जल में मीन दुःखी हो जाती है मैं भी उसी प्रकार दुःखित हूँ। यदि मेरे जैसा मन्त्री राजा को

सद्मार्ग पर नहीं ले जाता है तब मुझमें और विदूषक मन्त्री के मध्य पार्थक्य ही क्या रहा ? अतः उचित है राजा को विषयासक्ति का ह्रास कर उन्हें सत्पथ पर ले जाना। क्योंकि राजागण जल प्रणाली की भाँति मंत्रीगण जिस पथ पर ले जाते हैं उसी पथ पर चलते हैं। जो स्वार्थों के दर्शन द्वारा स्वयं का निर्वाह करते हैं वे इस विचार से क्रुद्ध हो सकते हैं किन्तु मेरे लिए तो उचित है उन्हें सद्युक्ति देना। कारण मृग के भय से क्या हम खेत में बीज-वपन करने से निरस्त रहेंगे ? (श्लोक २८५-२९३)

बुद्धिमानों के मध्य अग्रणी स्वयंबुद्ध मंत्री इस प्रकार चिन्तन कर करबद्ध होकर महाबल से बोले—'महाराज, यह संसार समुद्रवत् है। जिस प्रकार नदी के जल से समुद्र तृप्त नहीं होता, समुद्र जल से बड़वानल, जीवों से यमराज, ईंधन से अग्नि उसी प्रकार विषय सुख-भोग से आत्मा कभी तृप्त नहीं होता। नदी तट की छाया, दुष्टों की संगति, विष, विषम और सर्पादि प्राणियों का अधिक सान्निध्य सर्वदा दुःखदायी होता है। उपभोग के समय कामोपभोग सुखदायी लगते हैं किन्तु परिणाम में रसहीन ही होते हैं। खुजलाने से जिस प्रकार दाद बढ़ता जाता है उसी प्रकार कामोपभोग सेवन से असन्तोष ही बढ़ता है। कामदेव नरक का दूत है, व्यसन का सागर है, विपत्ति रूप लता का अंकुर है और पाप रूपी वृक्ष को वर्द्धन करने वाला है। कामदेव के मद में मतवाला मनुष्य सदाचार पूर्ण मार्ग से भ्रष्ट होकर भव-संसार रूप गह्वर में पतित होता है। चूहा जब घर में प्रवेश करता है तो स्थान-स्थान पर बिल बना देता है उसी प्रकार कामदेव भी जब शरीर में प्रवेश करता है तब अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष रूप पुरुषार्थ में स्थान-स्थान पर छिद्र कर देता है अर्थात् विनष्ट कर देता है। (श्लोक २९४-३०१)

'स्त्रियाँ विषाक्त लता की भाँति देखने से, स्पर्श करने से और उपभोग करने से व्यामोह सृष्टि करती हैं। वे कालरूपी व्याध के जाल की भाँति हैं। इसीलिए मनुष्य रूप हरिण के लिए महा अनिष्टकारी हैं। जो विलास-व्यसन के मित्र हैं वे केवल भोजन-पान और स्त्री-विलास के मित्र हैं। इसलिए वे लोग कभी भी अपने प्रभु के परलोक की हित की चिन्ता नहीं करते। उन्हीं स्वार्थ-परायणों का दल चाटु-कार और लम्पट होता है। वे अपने प्रभु को स्त्रीकथा, नाच-गान

और विनोद की कथाएँ सुनाकर खुश करते हैं। बदरी वृक्ष के साथ रहकर जिस प्रकार कदली वृक्ष अच्छा फल नहीं देता उसी प्रकार कुसंगतिरत कुलीन व्यक्ति का भी कभी कल्याण नहीं होता। इसलिए हे कुलीन स्वामी, आप प्रसन्न होकर विचार करें। आप स्वयं भी ज्ञानी हैं। आप इसलिए मोह में पतित न हों। आसक्ति का परिहार कर अपने चित्त को धर्म में संलग्न करिए। छायाहीन वृक्ष, जलहीन सरोवर, सुगन्धहीन फूल, दन्तहीन हाथी, लावण्यहीन रूप, मन्त्रीहीन राजा, विप्रहीन चैत्य, चन्द्रहीन रात्रि, चरित्रहीन साधु, शस्त्रहीन सैन्य, नेत्रहीन मुख जिस प्रकार शोभा नहीं देता उसी प्रकार धर्महीन पुरुष भी शोभा नहीं देता। चक्रवर्ती राजा भी यदि अधर्मी होता है तो वह वहाँ जन्म लेता है जहाँ सड़े हुए अनाज का मूल्य राज्य सम्पदा-सा होता है। महाकुल में उत्पन्न होकर जो धर्माचरण नहीं करता वह अन्य जन्म में कुत्ते की भाँति अन्य का उच्छिष्ट भक्षण कर ही जीवन धारण करता है। ब्राह्मण भी यदि धर्महीन हो तो वह भी पाप संचय कर बिलाव की भाँति कुक्रियाकारी होकर म्लेच्छ योनि में जन्म लेता है। भव्य जीव भी यदि धर्महीन होता है तो बिलाव, सर्प, सिंह, बाघ, गिद्ध आदि तिर्यक् योनि में कितने ही जन्म व्यतीत कर नरक में जाते हैं। वहाँ वैर के द्वारा क्रुद्ध व्यक्तियों की भाँति परमाधार्मिक देवताओं के द्वारा नाना रूप पीड़ित होते हैं। शीशा जिस प्रकार अग्नि में गल जाता है उसी प्रकार अनेक व्यसनों की अग्नि में अधार्मिक व्यक्ति का शरीर भी गल जाता है। इसलिए ऐसे अधार्मिक व्यक्तियों को धिक्कार है! धर्म परम बन्धु की भाँति सुख देता है और नौका की भाँति विपद्रूप नदी पार करने में सहायक बनता है। जो धर्म उपार्जन करता है वह मनुष्यों में शिरोमणि होता है और लता जैसे वृक्ष का आश्रय लेती है उसी प्रकार सम्पदा उसका आश्रय लेती है। आधि, व्याधि, विरोध आदि दुःख के कारण हैं। जिस प्रकार जल से अग्नि बुझ जाती है उसी प्रकार ये सब भी धर्म से विनष्ट हो जाते हैं। समस्त शक्ति द्वारा कृत धर्म अन्य जन्म में कल्याण और सम्पत्ति प्राप्ति में धरोहर स्वरूप होते हैं। हे स्वामी, और अधिक मैं आपको क्या बोलूँ! जिस प्रकार बाँस की सीढ़ी द्वारा प्रासाद के शिखर पर चढ़ा जाता है उसी प्रकार धर्म की सहायता से लोकाग्रभाग में स्थित मोक्ष धाम में जाया जाता है। धर्म के

द्वारा ही आप विद्याधरों के राजा हुए हैं। इसलिए अब इससे और अधिक प्राप्त करने के लिए धर्म का आश्रय ग्रहण करिए।

(श्लोक ३०२-३२३)

स्वयंबुद्ध मन्त्री की यह बात सुनकर अमावस्या की रात्रि के अन्धकार की भाँति अज्ञान रूप अन्धकार को खान रूप, विष रूप, विषममति सम्पन्न संभिन्नमति नामक मन्त्री बोले—'शाबास, स्वयंबुद्ध, शाबास! उद्गार से आहार की प्रतीति होती है उसी प्रकार तुम्हारे वाक्य द्वारा तुम्हारे मनोभाव को जाना जा सकता है। सर्वदा आनन्द में रहने वाले स्वामी के सुख के लिए तुम्हारे जैसा मन्त्री ही ऐसा बोल सकता है, दूसरा नहीं। किस कठोर स्वभावी उपाध्याय के पास तुमने शिक्षा प्राप्त की है जो इस प्रकार वज्रपात से कठोर वाक्य स्वामी को कहने में तुम सक्षम हो गए हो? सेवक जबकि अपने-अपने भोग के लिए स्वामी की सेवा करता है तब वह स्वामी को यह कैसे कह सकता है कि आप भोग मत करिए। जो इस जन्म में प्राप्त भोग्य की उपेक्षा कर परलोक के लिए यत्न करे वह करतल स्थित लेह्य पदार्थ का परित्याग कर कोहनी चाटने की भाँति मूर्खता का परिचय देता है। धर्म के द्वारा परलोक में सुफल प्राप्त होता है यह कहना भी भूल है। कारण,जो परलोक में निवास करते हैं उनका ही जब अभाव है तो परलोक आया कहाँ से? जिस प्रकार गुड़, मैदा और जल से मादक शक्ति उत्पन्न होती उसी प्रकार पृथ्वी अप तेज और वायु से चेतन शक्ति उत्पन्न होती है। शरीर से अलग और कोई देहधारी नहीं है जो इस लोक का परित्याग कर परलोक जाएगा। अतः निःसंकोच होकर विषय सुख भोग करना उचित है। फिर अपनी आत्मा को ठगना भी तो उचित नहीं है। स्वार्थ नष्ट करना मूर्खता मात्र है। धर्माधर्म की शंका करना भी उचित नहीं है। कारण वह सुख में विघ्न उत्पन्न करता है। फिर धर्माधर्म का गधे के सींग की भाँति कोई अस्तित्व ही नहीं है। पत्थर के एक टुकड़े को स्नान, विलेपन कर पुष्प और वस्त्रालंकार से लोग पूजा करते हैं तो किसी दूसरे पत्थर पर बैठकर मूत्र त्याग करते हैं। जरा बताओ उन दोनों प्रस्तर खण्डों ने क्या कोई पुण्य-पाप किया था? यदि जीव मात्र कर्म के कारण जन्म ग्रहण करते हैं और मृत्यु को प्राप्त होते हैं तो फिर जल में बुदबुदे उठते हैं और नष्ट होते हैं वे किस कर्म के कारण होते हैं? जो जब तक इच्छावश

प्रयत्न करना है तब तक वह चेतन नाम से अभिहित होता है। विनष्ट होने के बाद चेतन का पुनर्जन्म नहीं होता। यह बात बिलकुल युक्ति-संगत नहीं है कि जो प्राणी मरता है वह पुनर्जन्म ग्रहण करता है। यह सब तो मात्र कहने की बात है। हमारे प्रभु शिरीष कुसुम तुल्य कोमल शय्या पर शयन करते रहें, रूप लावण्य-मयी रमणियों के साथ निःसंकोच रमण करते रहें, अमृत तुल्य भोज्य पदार्थ और पेय का आस्वादन करते रहें ऐसी हमारी अभि-लाषा है। जो इनका विरोध करते हैं वे प्रभुद्रोही कहलाते हैं। हे प्रभु, आप कर्पूर, अगरु, कस्तूरी और चन्दनादि का सर्वदा विलेपन करिए ताकि आप सुगन्ध के साक्षात् अवतार लगें। हे राजन्, उद्यान, वाहन, दुर्ग और चित्रशाला आदि जो नेत्रों को आनन्द देते हैं उन्हें बार-बार अवलोकन करिए। हे स्वामी, वीणा, बांसुरी, मृदंग आदि की ध्वनि और उसके साथ गाए गए मधुर गान आपके कर्णकुहरों के लिए रसायन रूप बनें। जब तक जीवन है तब तक विषय सुख का सेवन करिए। धर्मकर्म के नाम पर अनावश्यक कष्ट मत सहन कीजिए। संसार में धर्म-अधर्म का कोई फल नहीं है। (श्लोक ३२४-३४५)

संभिन्नमति की बात सुनकर स्वयंबुद्ध कहने लगे—'उन नास्तिकों को धिक्कार है जो स्वयं को एवं अन्य को, जिस प्रकार अन्धा अपने अनुयायी व्यक्ति को कुएं में डलवा देता है उसी प्रकार ऐसी बातें बनाकर, दुर्गति में डालता है। जिस प्रकार दुःख-सुख स्वसंवेदन से जाना जाता है उसी भांति आत्मा भी स्वसंवेदन से ही जाना जाता है। जैसे स्वसंवेदन में कहीं बाधा नहीं उसी प्रकार आत्मा का निषेध करना भी किसी के लिए सम्भव नहीं है। 'मैं सुखी हूं', 'मैं दुःखी हूं' इस प्रकार की अबाधित प्रतीति आत्मा के सिवाय और कोई नहीं कर सकता। इस प्रकार के ज्ञान से स्वशरीर में जब आत्मा सिद्ध होती है तब अनुमान द्वारा अन्य के शरीर में भी आत्मा है यह सिद्ध होता है। जो प्राणी मरता है वह पुनः जन्म ग्रहण करता है इससे बिना किसी सन्देह के यह प्रमाणित होता है कि चेतना का परलोक भी है। जिस प्रकार चेतना बाल्य से यौवन को प्राप्त होती है यौवन से वार्द्धक्य प्राप्त करती है उसी प्रकार चेतना एक जन्म से दूसरा जन्म भी ग्रहण करती है। पूर्वजन्म की स्मृति

के बिना सद्यजात शिशु बिना शिक्षा प्राप्त किए ही मातृस्तन का पान कैसे कर सकता है ? इस जगत् में जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य होता है। तब अचेतन भूत (पृथ्वी, अप, तेज व वायु) से चेतन किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है ? हे संभिन्नमति, बोलो, चेतन प्रत्येक भूत से उत्पन्न होता है या उसके समवाय से ? यदि तुम कहते हो कि प्रत्येक भूत से चेतना उत्पन्न होती है तब तो जितने भूत हैं उतनी ही चेतना होना उचित है और यदि कहते हो कि समस्त भूत के समवाय से चेतना उत्पन्न होती है तब भिन्न-भिन्न स्वभाव युक्त भूत से एक स्वभाव सम्पन्न चेतना कैसे उत्पन्न हो सकती है ? ये सभी तथ्य विचारणीय हैं। पृथ्वी रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुण-युक्त है, जल रूप, स्पर्श और रस गुण युक्त है, तेज रूप और स्पर्श गुण युक्त है एवं वायु केवल स्पर्शयुक्त है, इस प्रकार भूत के भिन्न-भिन्न स्वभाव सभी को ज्ञात हैं। यदि तुम कहो कि जल से भिन्न गुण-युक्त मुक्ता जिस प्रकार उत्पन्न होता है उसी प्रकार अचेतन भूत से चेतना उत्पन्न होती है तो ऐसा कहना उपयुक्त नहीं है। कारण मुक्ता में जल होता है। दूसरे में मुक्ता और जल दोनों ही पौद्गलिक है। पुद्गल से उत्पन्न होने के कारण उनमें भेद नहीं है। तुमने गुड़, मैदा और जल से उत्पन्न मादक शक्ति का उदाहरण दिया है। किन्तु वह मादक शक्ति भी अचेतन है। अतः चेतना के लिए यह दृष्टान्त कैसे ठीक हो सकता है ? देह और आत्मा एक है यह कभी नहीं कहा जा सकता। एक प्रस्तर खण्ड की लोग पूजा करते हैं अन्य प्रस्तर खण्ड पर मूत्र त्याग, यह दृष्टान्त भी गलत है। कारण प्रस्तर अचेतन है। इसलिए उसे सुख-दुःख का अनुभव कैसे होगा ? अतः इस शरीर से भिन्न परलोकगामी आत्मा है और धर्म-अधर्म भी हैं। (कारण, परलोकगामी आत्मा ही इस जन्म का अच्छा-बुरा फल लेकर जाती है और वहां भोग करती है।) जिस प्रकार अग्नि के उत्ताप से मक्खन गल जाता है उसी प्रकार स्त्रियों के वशीभूत होना भी पुरुषों के विवेक को नष्ट कर देता है। अनर्गल और अधिक रसयुक्त आहार ग्रहण से मनुष्य पशु की भांति उन्मत्त होकर उचित कार्य को भूल जाता है। अगर, चन्दन एवं केशर-कस्तूरी आदि की सुगन्ध से कामदेव सूर्य की भांति मनुष्य पर आक्रमण करता है। जिस प्रकार कांटों में वस्त्र अटक जाने से मनुष्य की गति अवरुद्ध हो जाती है उसी प्रकार स्त्रीरूपी कांटे में उलझकर पुरुष की गति

स्खलित हो जाती है। जिस प्रकार धूर्त मनुष्य की मित्रता अल्पकाल के लिए ही सुखदायक होती है उसी प्रकार मोह उत्पन्नकारी संगीत का भी बार-बार श्रवण अन्ततः दुःखदायक हो जाता है। इसलिए हे प्रभु, पाप का मित्र, धर्म का विरोधी, नरक के द्वार को प्रशस्त करने वाले विषय का दूर से ही परित्याग कर दीजिए। हम देखते हैं यहां एक सेव्य है तो एक सेवक है। एक दाता है तो एक याचक है, एक आरोही है तो एक वाहन है, एक अभयदाता है तो एक अभययाचक है। इन सभी से तो इसी लोक में धर्म-अधर्म का फल परिदृष्ट होता है। हम सब को देखकर भी जो स्वीकार नहीं करते उनका मंगल ही हो। मैं इस विषय में और क्या कहूं? राजन्, आपको असत्य वचन की भांति दुःखदायी अधर्म का परित्याग कर सत्य वचन की भांति सुख का अद्वितीय कारण रूप धर्म का आश्रय ग्रहण करना उचित है।' (श्लोक ३४६-३७४)

यह सब सुनकर शतमति नामक मन्त्री बोला—'प्रति मुहूर्त्त भंगुर पदार्थ विषयक ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई आत्मा नहीं है। वस्तुतः स्थिरता विषयक जो बुद्धि है वह वासना का ही परिणाम है। इसीलिए पूर्व और अपर मुहूर्त्त की वासना रूप एकता वास्तविक है, मुहूर्त्त की एकता वास्तविक नहीं है।' (श्लोक ३७५-३७६)

तब स्वयंबुद्ध ने कहा—'कोई भी वस्तु अन्वय या परम्परा रहित नहीं है। जिस प्रकार गाय से दूध पाने के लिए जल, घास खिलाने की कल्पना करनी होती है उसी प्रकार आकाश-कुसुम की भांति या कच्छप के बाल की भांति इस संसार में अन्वयरहित कोई वस्तु नहीं होती। इसलिए क्षणभंगुरता की बात करना वृथा है। यदि वस्तु क्षणभंगुर है तो संतान परम्परा को भी क्षणभंगुर कहा जा सकता है। यदि हम सन्तान की नित्यता स्वीकार करते हैं तब अन्य पदार्थ को क्षणिक कैसे कह सकते हैं? यदि समस्त पदार्थ को ही क्षणिक कहें तब धरोहर एवं ऋण को पुनः चाहना, जो बीत गया उसे पुनः स्मरण करना, अभिज्ञान (चिह्न) तैयार करना कैसे सम्भव हो सकता है? जन्म के दूसरे मुहूर्त्त ही जातक यदि विनष्ट हो जाता है तब तो पर मुहूर्त्त में उसे माता-पिता की सन्तान नहीं कहा जा सकता और न ही बालक माता-पिता को माता-पिता कहेगा। अतः सभी वस्तु को क्षणभंगुर कहना असंगत

है। विवाह के समय वर-वधू को पति-पत्नी कहा जाता है। वे यदि क्षणिक हैं, नाशवान् हैं तब तो दूसरे मुहूर्त में पति पति नहीं रहेगा और पत्नी पत्नी नहीं रहेगी। इस प्रकार वस्तु को क्षणभंगुर कहना महान् मूढ़ता है। एक मुहूर्त में जो कुकर्म करता है दूसरे मुहूर्त में वह भिन्न व्यक्ति में रूपान्तरित हो जाता है तब तो फिर वह उसका फल-भोग नहीं करेगा। यदि इस प्रकार होता है तब तो कृत का नाश और अकृत का आगमन, ये दो दोष उत्पन्न हो जाते हैं।'

(श्लोक ३७७-३८३)

तब महामति मन्त्री बोले—'यह समस्त माया है। तत्त्वतः यह सब कुछ नहीं है। जो सब वस्तुएं हम देखते हैं वे स्वप्न या मृग-तृष्णा की भांति मिथ्या हैं। गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, धर्म-अधर्म, अपना-पराया यह सब व्यवहार मात्र है—तत्त्वतः यह सब कुछ नहीं है। एक शृगाल एक टुकड़ा मांस लेकर नदी के तट पर आया था। उसने जल में मछली तैरती देखी। तब वह मांस खण्ड छोड़कर मछली पकड़ने गया। मछली गहन जल में उतर गयी। तब वह उस मांस खण्ड को लेने दौड़ा तो देखा मांस खण्ड को चील ले गयी है। इस प्रकार जो प्राप्त वैषयिक सुख को छोड़कर परलोक के सुख के पीछे दौड़ते हैं वे इतः नष्ट ततः भ्रष्ट होकर आत्मा को ही प्रवंचित करते हैं। धर्मध्वजियों का व्यर्थ उपदेश सुनकर लोग नरक के भय से भीत होते हैं और मोहग्रस्त होकर व्रतादि पालन कर शरीर को कष्ट देते हैं। नरक-गमन के भय से इनकी तपस्या वैसी ही होती है जैसे लावक पक्षी जमीन पर गिर जाने के भय से एक पांव से नृत्य करता है।'

(श्लोक ३८४-३८९)

तब स्वयंबुद्ध बोले—'यदि वस्तु सत्य नहीं है तब प्रत्येक को निज-निज कर्म का कर्ता कैसे कहा जा सकता है? यदि सब कुछ माया है तो स्वप्न में प्राप्त हाथी (प्रत्यक्ष की भांति) व्यवहार में क्यों नहीं आता? यदि तुम पदार्थ के कार्य कारण भाव को अस्वीकार करते हो तो वज्रपात से भय क्यों खाते हो? यदि कुछ भी अस्तित्व नहीं है तो तुम-मैं, वाच्य-वाचक यह भेद ही नहीं रहेगा और व्यवहार प्रवर्त्तक इष्ट प्राप्ति कैसे सम्भव होगी? हे राजन्, वितण्डावाद में पण्डित शुभ परिणाम विमुख और विषयकामी व्यक्तियों द्वारा भ्रमित न हों। विवेक द्वारा विचार कर विषय को

दूर से ही परित्याग कर इहलोक और परलोक में सुखदानकारी धर्म का आश्रय ग्रहण करिए। (श्लोक ३९०-३९४)

इस प्रकार मन्त्रियों का पृथक्-पृथक् मतवाद सुनकर स्वाभाविक निर्मलता के लिए कान्तिसम्पन्न महाराज महाबल बोले—'हे बुद्धिमान स्वयंबुद्ध, तुम बहुत अच्छे हो। तुमने धर्म का आश्रय ग्रहण करने को जो कुछ कहा ठीक कहा। मैं भी धर्मद्वेषी नहीं हूं। किन्तु जिस प्रकार मन्त्रास्त्र युद्ध में ही ग्रहण किया जाता है उसी प्रकार धर्म समय होने पर ही ग्रहण किया जाता है। अनेक दिनों के पश्चात् आगत मित्र से यौवन का उपभोग किए बिना कौन उसकी उपेक्षा करता है? तुमने जो धर्म उपदेश दिया वह असामयिक है। जिस समय मधुर वीणा बज रही हो उस समय वेद मन्त्र का उच्चारण शोभा नहीं देता। धर्म का फल परलोक है। वह सन्देहास्पद है। इसलिए तुम इस लोक के सुख भोग का निषेध क्यों करते हो?' (श्लोक ३९५-३९९)

महाराज महाबल का वचन सुनकर स्वयंबुद्ध करबद्ध होकर बोले—'महाराज, आवश्यक धर्म के फल में शंका करना कभी उचित नहीं है। शायद आपको याद होगा बाल्यकाल में एक दिन जबकि हम नन्दन वन गए थे तब एक कान्तिसम्पन्न देवता से हम मिले थे। उस देवता ने प्रसन्न होकर आपको कहा था—'मैं तुम्हारा पितामह हूं। मेरा नाम अतिबल है। मैंने भीत होकर असत् बन्धु की भांति विषय सुख से विरक्त बन राज्य का तृणवत् परित्याग कर रत्नत्रय ग्रहण किया था। अन्तिम समय में भी रत्नरूपी प्रासाद के कलश रूपी त्याग भाव को स्वीकार कर उस शरीर का परित्याग किया था। उसी के फलस्वरूप लान्तकाधिपति देव बना हूं। अतः तुम भी असार संसार में प्रमादी बन कर मत रहना।' ऐसा कहकर वे विद्युत् की भांति स्व-प्रभा से आकाश आलोकित करते हुए प्रस्थान कर गए। इसलिए हे राजन्! आप अपने पितामह के कथन पर विश्वास कर परलोक है यह स्वीकार कीजिए। कारण, जहां प्रत्यक्ष प्रमाण ही रहा हुआ है वहां अन्य प्रमाण की आवश्यकता ही क्या है?' (श्लोक ४००-४०६)

महाबल बोले—'तुमने मेरे पितामह की बात स्मरण करवा कर खूब अच्छा किया। अब मैं धर्म-अधर्म जिसका कारण है उस परलोक को स्वीकार करता हूं। (श्लोक ४०७)

राजा का आस्तिक्ययुक्त कथन सुनकर मिथ्यादृष्टि मानव की वाणी रूप धूल के लिए जलदरूप स्वयंबुद्ध अवसर पाकर बोले – 'महाराज, बहुत पहले आपके वंश में कुरुचन्द्र नामक एक राजा हुए थे। उनके कुरुमति नामक स्त्री और हरिश्चन्द्र नामक एक पुत्र था। वे क्रूर प्रकृति के थे और सदैव बड़े-बड़े आरम्भ समारम्भ किया करते थे। वे अनार्य कार्यों के नेता थे। दुराचारी थे, भयंकर थे और यमराज की भांति निर्दय थे। उन्होंने बहुत दिनों तक राज्य किया। कारण, पूर्व जन्म में उपार्जित धर्म का फल अद्वितीय होता है। अन्ततः वे अत्यन्त दूषित धातु रोग से आक्रान्त हुए। उस समय रुई के नरम तकिए भी उन्हें कांटे की भांति लगते। मधुर स्वादयुक्त भोजन नीम की भांति तिक्त और कटुक लगते। चन्दन, अगरु, कस्तूरी आदि सुगन्धित वस्तुएं दुर्गन्धयुक्त लगतीं। स्त्री-पुत्रादि प्रियजन शत्रु की भांति एवं सुन्दर मधुर गान गर्दभ, ऊंट या सियारों की चीत्कार से प्रतीत होते। कहा भी गया है—जब पुण्य नाश हो जाता है तब समस्त वस्तुएं विपरीत धर्मी हो जाती हैं।'

(श्लोक ४०८-४१५)

'कुरुमती और हरिश्चन्द्र गुप्त रूप से परिणाम में दुःखदायी किन्तु अल्प समय के लिए सुखकर नानाविध विषयोपचार से उनकी परिचर्या करने लगे। अन्ततः कुरुचन्द्र के शरीर में ऐसी ज्वाला उत्पन्न हुई जैसे अंगारे उन्हें दग्ध कर रहे हैं। इस प्रकार दुःख से पीड़ित होकर रौद्रध्यान में उन्होंने इहलोक का परित्याग किया।'

(श्लोक ४१६-४१७)

'कुरुचन्द्र के पुत्र हरिश्चन्द्र पिता का अग्नि संस्कारादि कर सिंहासन पर आरूढ़ हुए। आचरण में वे सदाचार रूप पथ के पथिक थे। वे विधिवत् राज्य परिचालना करने लगे। पाप के कारण पिता की दुःखदायी मृत्यु देखकर वे धर्म सेवा करने लगे। ग्रहों में जिस प्रकार सूर्य मुख्य है उसी प्रकार समस्त पुरुषार्थ में धर्म ही मुख्य है।'

(श्लोक ४१८-४१९)

'सुबुद्धि नामक उनका एक जिनोपासक बाल-मित्र था। हरिश्चन्द्र ने उससे कहा, तुम तत्त्वज्ञ से धर्म अवधारण कर मुझे सुनाओ। सुबुद्धि भी तदनुरूप उन्हें धर्मकथा सुनाने लगा। कहा भी है—मनोनुकूल आदर्श सत्पुरुष का उत्साहवर्द्धन करता है। पाप

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

भय से भीत हरिश्चन्द्र, रोग से डरा हुआ मनुष्य जिस प्रकार औषध पर श्रद्धा रखता है उसी प्रकार, सुबुद्धि कथित धर्म पर श्रद्धा रखने लगा।' (श्लोक ४२०-४२२)

'एक बार उसी नगरोद्यान में शीलंकर नामक एक महामुनि ने केवल-ज्ञान प्राप्त किया। उन्हें वन्दना करने के लिए देवताओं का आगमन हुआ। सुबुद्धि ने यह बात हरिश्चन्द्र से कही। निर्मल-हृदय हरिश्चन्द्र घोड़े पर सवार होकर मुनि के पास गए और मुनि की वन्दना कर उनके सम्मुख बैठ गए। मुनि ने कुमति रूप अन्धकार को दूर करने के लिए चन्द्रिका तुल्य धर्मोपदेश दिया। उपदेश के अन्त में हरिश्चन्द्र ने हाथ जोड़कर मुनि से जिज्ञासा की—हे महात्मन्, मृत्यु के पश्चात् मेरे पिता ने किस गति को प्राप्त किया है?' (श्लोक ४२३-४२६)

त्रिकालदर्शी मुनि बोले—'हे राजन्, आपके पिता सप्तम नरक में गए हैं। उनके जैसे मनुष्य का और कहीं स्थान नहीं हो सकता।' (श्लोक ४२७)

यह सुनकर हरिश्चन्द्र के मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया। वे मुनि को वन्दना कर अपने प्रासाद में लौट गए। वहाँ जाकर पुत्र को सिंहासनारूढ़ कर सुबुद्धि से कहा—'मैं प्रव्रज्या ग्रहण करूँगा। तुम जिस प्रकार मुझे धर्म सुनाते थे उसी प्रकार अब इसे सुनाते रहना।' (श्लोक ४२८-४२९)

सुबुद्धि ने कहा—'मैं भी आपके साथ दीक्षा ग्रहण करूँगा। मेरा पुत्र आपके पुत्र को धर्म सुनाएगा।' (श्लोक ४३०)

'इस प्रकार राजा हरिश्चन्द्र और सुबुद्धि ने कर्मरूप पर्वत को विनष्ट करने वाली व्रतरूप प्रव्रज्या ग्रहण कर दीर्घ दिन तक मुनिधर्म का पालन करते हुए मोक्ष प्राप्त किया।' (श्लोक ४३१)

स्वयंबुद्ध ने फिर कहा—'देव, आपके वंश में दण्डक नामक अन्य एक राजा ने जन्म ग्रहण किया था। वे शत्रुओं के लिए यम-राज तुल्य थे। उनके मणिमाली नामक एक पुत्र था। मणिमाली सूर्य की भाँति तेजस्वी थे। दण्डक पुत्र, स्त्री, मित्र, धनरत्न सुवर्ण आदि में आसक्तिरायण थे एवं इन्हें वे प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे। आयुष्य समाप्त होने पर आर्तध्यान में उनकी मृत्यु हुई।

वे अजगर योनि प्राप्त कर अपने ही कोषागार में उत्पन्न हुए और वहीं रहने लगे। वह सर्वभक्षी क्रूर अजगर जो भी कोषागार में प्रवेश करता, उसे ही खा डालता। एक बार उसी अजगर ने मणिमाली को कोषागार में प्रवेश करते देखा। पूर्वजन्म के ज्ञान से जब वह जान पाया कि मणिमाली उसका पुत्र है तो वह शान्त होकर स्नेह की साक्षात् मूर्ति-सा बना वहाँ उपस्थित हुआ। यह देखकर मणिमाली समझ गया कि यह अजगर उसके पूर्व जन्म का कोई आत्मीय या बन्धु है। अन्ततः मणिमाली ने किसी ज्ञानी से यह ज्ञात किया कि यह उसका पिता है। तब उसने उस अजगर को जिनधर्म का उपदेश दिया। अजगर ने धर्म ग्रहण कर त्याग-व्रत किया और शुभध्यान में मृत्यु प्राप्त कर स्वर्ग में देवता के रूप में उत्पन्न हुआ। उसी देवता ने आकर मणिमाली को एक दिव्य मुक्ता-माला उपहार में दी। वही माला आपने कण्ठ में धारण कर रखी है। आप हरिश्चन्द्र के वंशधर हैं। मैंने सुबुद्धि के वंश में जन्म ग्रहण किया है। एतदर्थ मेरा और आपका सम्बन्ध वंश परम्परागत है। इसीलिए मैं आपसे निवेदन करता हूं कि आप धर्म संलग्न बनिए। फिर मैंने असमय में आपको धर्मकथा क्यों कही इसका भी कारण है। आज नन्दन वन में मैंने दो चारण मुनियों को देखा। वे दोनों ही जगत् प्रकाशक और महामोहरूपी घन अन्धकार को विनष्ट करने वाले चन्द्र-सूर्य की भाँति ज्ञात होते थे। अपूर्व ज्ञान सम्पन्न वे दोनों धर्मोपदेश दे रहे थे। मैंने उनसे यह पूछा कि आपकी आयु कितनी है? इस पर वे बोले कि आपकी आयु अब मात्र एक मास अवशेष रही है। इसीलिए हे राजन्, मैं आपको शीघ्र धर्मकार्य में संलग्न होने का अनुरोध करता हूँ।

(श्लोक ४३२)

महाबल बोले—'हे स्वयंबुद्ध, हे बुद्धि के समुद्र, मेरे एकमात्र बन्धु तो तुम्हीं हो। तुम्हीं मेरे हितचिन्तन में सर्वदा तत्पर रहते हो। विषयासक्त एवं मोहनिद्रा में निद्रित मुझे जागृत कर तुमने बहुत अच्छा कार्य किया है। अब मुझे यह बताओ कि मैं धर्म-साधना कैसे करूँ? आयु कम है। इतने अल्प समय में मैं कितनी धर्माराधना करने में सक्षम हो पाऊँगा? अग्नि लग जाने पर कुआं खुदवाने से क्या अग्नि बुझाई जा सकती है? (श्लोक ४४७-४४९)

स्वयंबुद्ध ने कहा—'महाराज, परिताप मत कीजिए। दृढ़ बनिए। आप परलोक के मित्र रूप यति धर्म का आश्रय ग्रहण कीजिए। एक दिन का भी यति धर्मपालन करने वाला मोक्ष तक प्राप्त कर सकता है, स्वर्ग की तो बात ही क्या ?'

(श्लोक ४५०-४५१)

महाबल ने दीक्षा लेना स्थिर कर अपने पुत्र को इस प्रकार सिंहासन पर बैठाया जैसे मन्दिर में प्रतिमा स्थापित की हो। दीन और अनाथ पर अनुकम्पा कर उन्होंने इतना दान दिया कि उस नगर में कोई दीन रहा ही नहीं। द्वितीय इन्द्र की भांति उन्होंने समस्त चैत्यों में विचित्र वस्त्रादि, माणिक, स्वर्ण और पुष्पों से अर्हत देवों की पूजा की। तत्पश्चात् स्वजन-परिजनों से क्षमायाचना कर मुनिदेवों से मोक्षवासियों की सखीरूप दीक्षा ग्रहण कर ली। समस्त दोषों का परिहार कर उस [illegible] दुश्चिन्त्य आहार का भी परित्याग किया। वे समाधिरूप अमृत निर्झर में सर्वदा लीन रहकर कमलिनी खण्ड-सा किंचित् भी म्लान नहीं हुए। वे महासत्त्ववान् इस प्रकार अक्षीण कान्तिमय होने लगे मानो वे उत्कृष्ट आहार ग्रहण करते हों। बाईस दिनों में अनशन के पश्चात् उन्होंने पञ्च परमेष्ठी का स्मरण करते हुए काल धर्म ग्रहण किया।

(श्लोक ४५२-४५९)

चतुर्थ भव

संचित पुण्यबल से धनश्रेष्ठी का जीव उसी मुहूर्त्त में दुर्लंघ ईशान कल्प में अश्व के समान वेग से जा पहुंचा एवं वहां श्रीप्रभ विमान में देव शय्या पर उसी प्रकार उत्पन्न हो गया जैसे मेघ में विद्युत उत्पन्न होती है। वहां दिव्य आकृति, समचतुरस्र संस्थान, सप्तधातुरहित शरीर, शिरीष पुष्प-सी कोमलता, दिक् समूह के अन्तर्भाग को देदीप्यमान करने जैसी कान्ति, वज्र-सी काया, अदम्य उत्साह, पुण्य के सर्वलक्षण, इच्छानुरूप रूप, अवधिज्ञान, समस्त विज्ञान में पारंगता, अणिमादि अष्ट-सिद्धि की प्राप्ति, निर्दोषता, और वैभव इस प्रकार समस्त गुण सहित ललितांग नामक सार्थक-नामा देव हुए। उसके पांवों में रत्न मंजीर, कमर में कटिभूषण,

हाथ में कंकण, भुजा में भुजबन्ध, वक्षदेश पर हार, गले में ग्रैवेयक, कानों में कुण्डल, सिर पर पुष्पमाला और मुकुटादि भूषण, दिव्य वस्त्र और समस्त अङ्ग का भूषण रूप यौवन उत्पन्न होने के साथ-साथ मिला। उसी समय दिक् समूह को प्रतिध्वनित करती हुई देव दुंदुभी बजी। मंगल पाठक भाट बोल उठे—'हे देव, जगत् को आनन्दित करिए, जयी बनिए।' गीतवादित्र से ध्वनित, चरणादि के कोलाहल से मुखरित यह विमान जैसे अपने स्वामी को प्राप्तकर आनन्द से फूल उठा है। ललितांग उसी प्रकार उठ बैठे जिस प्रकार सोया हुआ मनुष्य नींद टूटने पर उठ बैठता है। मंगल पाठकों की उपर्युक्त उक्ति सुनकर वे सोचने लगे—'यह इन्द्रजाल है? स्वप्न है या माया? क्या है यह सब? मेरे लिए ये नृत्य गीत क्यों हो रहे है? ये विनीत लोग मुझे प्रभु कहने को आतुर क्यों हैं? और इस लक्ष्मी मन्दिर रूप आनन्द के धाम स्वरूप निवास योग्य प्रिय और रमणीय भवन में मैं कहां से आया हूं?' (श्लोक ४६०-४७२)

उनके मन में जब यही सब भाव उदित हो रहे थे उसी समय प्रतिहारी उनके निकट आकर मृदु कर से बोला—'देव, आपके जैसे प्रभु को प्राप्त कर हम सनाथ हो गए हैं, धन्य हो गए है। आप अपने विनयी सेवकों पर कृपा कर अमृत वर्षण कीजिए। यह ईशान नामक द्वितीय देवलोक है, अचंचल लक्ष्मी का निवास रूप और सर्व सुखों का आकर है। यहां आप जिस विमान को सुशोभित कर रहे हैं उसका नाम है श्रीप्रभ। पुण्य बल से आपने इस स्वर्ग को प्राप्त किया है और ये सब लोग सामानिक देवता एवं आपकी सभा के अलङ्कार स्वरूप हैं। इनके साथ इस विमान में आप एक होकर भी अनेक रूपों में प्रतिभासित हो रहे हैं। हे देव! इन्हें त्रयस्त्रिंशक पुरोहित देवता कहा जाता है। ये मन्त्र के स्थान रूप एवं आपकी आज्ञा-पालन में सदैव तत्पर हैं। आप इन्हें समयोचित आदेश दीजिए। (श्लोक ४७३-४७८)

और ये हैं इस परिषद् के नर्म सचिव या विदूषक। ये आनन्द क्रीड़ा में प्रधान हैं। लीला-विलासमय बातों में ये आपका मनोरंजन करेंगे। (श्लोक ४७९)

ये हैं आपके शरीर रक्षक देवता जो कि सर्वदा कवच और छत्तीस प्रकार के प्रहरण धारण कर प्रभु रक्षा के लिए प्रस्तुत रहते है। (श्लोक ४८०)

और ये हैं आपके नगर रक्षणकारी लोकपाल देवता।
ये हैं आपकी सेना वाहिनी के चतुर सेनापतिगण। (४८१)

ये हैं पुर अथवा देशवासी प्रकीर्णक देवता जो आपकी प्रजा-तुल्य हैं। आपके सामान्य आदेश को भी ये मस्तक पर धारण करते हैं। (४८२)

ये होते हैं अभियोग्य देवता जो दास की भांति आपकी सेवा करेंगे।

और ये हैं किल्विषक देवता जो आपके मलिन कर्म करेंगे। (४८३)

यह रहा आपका रत्नजड़ित प्रासाद, जो कि सुन्दरी रमणी-पूर्ण, अंगनयुक्त एवं चित्ततोषकारी है।

ये सब हैं स्वर्ण-कमल की खान-रूप वापी समूह।
रत्न एवं स्वर्ण शिखर युक्त ये आपके क्रीड़ा पर्वत हैं।
आनन्द दानकारी और निर्मल जल से पूर्ण यह क्रीड़ा सरिता है।
नित्य पुष्प और फलदानकारी ये क्रीड़ा उद्यान हैं।

और स्वकान्ति से युक्त दिक् मुख को प्रकाशित करने वाला सूर्यमण्डल के समान स्वर्ण और माणिक्य रचित यह आपका सभा-मण्डप है।

ये वारांगनाएँ चमर, पंखा और दर्पण लेकर खड़ी रहती रहती हैं। ये सब आपकी सेवा को ही महामहोत्सव समझती हैं।

'चार प्रकार के वाद्यों में प्रवीण ये गन्धर्वगण आपको संगीत सुनाने के लिए यहां उपस्थित हैं।' (श्लोक ४८४-४८९)

प्रतिहारी से यह सब सुनकर ललितांग देव चेतना की उपयोग शक्ति के बल से एवं अवधि ज्ञान से स्वयं के पूर्व जन्म की कथा इस प्रकार स्मरण करने लगे जैसे सब कुछ कल ही घटित हुआ हो :
(४९०)

'मैं पूर्व जन्म में विद्याधर राजा था। मेरे धर्म-बन्धु स्वयंबुद्ध ने मुझे जिनधर्म का उपदेश दिया था। फलतः मैंने दीक्षा लेकर अनशन व्रत ग्रहण किया था। उसी के कारण यह समस्त वैभव मैंने प्राप्त किया है। सचमुच धर्म का प्रभाव अचिन्त्य है।'
(श्लोक ४९१-४९२)

पूर्वजन्म की कथा स्मरण कर उसी मुहूर्त्त में वहां उठकर वे प्रतिहारी के कन्धों पर हाथ रखकर सिंहासन पर जा विराजे। उस समय चारों ओर उनकी जय ध्वनियां गूँज उठीं। वेत्राओं ने उनका अभिषेक किया। चमर डलने लगे और गन्धर्वों ने मधुर स्वर में मंगल गीत गाना प्रारम्भ कर दिया। (श्लोक ४९३-४९४)

तदुपरान्त [illegible] वहां से रुचिरांग देव [illegible] एवं चैत्य में जाकर शाश्वत अर्हत् प्रतिमाओं की पूजा की एवं तीन ग्राम और स्वर के साथ मधुर कण्ठ से मंगलमय गीत सहित विविध प्रकार के स्तोत्रों से जिनेन्द्रदेव की स्तुति की, ज्ञान के लिए प्रदीप रूप धर्म ग्रन्थ का पाठ किया और मण्डप के स्तम्भ में रक्षित अर्हतों की अस्थियों का पूजन-अर्चन किया। (श्लोक ४९५-४९७)

तत्पश्चात् छत्र धारण करने के कारण पूर्णिमा के शशांक की भांति दीप्यमान होकर उन्होंने क्रीड़ाभवन में प्रवेश किया। वहां उन्होंने स्वयंप्रभा देवी को देखा जो निज प्रभा से विद्युत्प्रभा को भी लज्जित कर रही थी। उसके हाथ, पांव, मुख अत्यन्त कोमल थे। इसी कोमलता के कारण वह लावण्यसिन्धु स्थित कमल वाटिका सी लग रही थी। अनुक्रम से स्थूल कर्तुल जंघाएँ ऐसी लग रही थीं मानो कामदेव ने वहां अपना मस्तक न्यस्त कर रखा है। स्वच्छ दुकूलों में आवृत नितम्बों के कारण वह ऐसी शोभायमान हो रही जैसे राजहंसों से परिव्याप्त तट से नदी शोभा पाती है। सुपुष्ट उन्नत स्तनभार वहन करने के कारण कृश उदर और कटि वक्ष के मध्य से प्रतीत हो रहे थे। इससे उसका सौन्दर्य और अधिक प्रकाशित हो रहा था। उसका तीन रेखायुक्त सुस्वर कण्ठ कामदेव के जयघोषकारी शङ्ख-सा लगता था। बिम्ब फल को तिरस्कृत करने वाले ओष्ठ और नेत्र रूप कमल की मृणालरूप नासिका ने उसे अपरूप सौन्दर्य प्रदान किया था। पूर्णिमा के द्विखण्डित चन्द्र की समस्त सौन्दर्य लक्ष्मी अपहरणकारी उसका सुन्दर स्निग्ध ललाट मन को मुग्ध कर रहा था। उसके कर्णयुगल कामदेव की हिन्दोल लीला को भी लज्जित कर रहे थे। उसकी भृकुटि पुष्पधन्वा धनुष की शोभा को हरण करने वाली थी। मुखरूप कमल के पीछे गुञ्जायमान भ्रमरों की भांति उसके केश थे स्निग्ध और कज्जल वर्ण के। समस्त अङ्ग रत्नजड़ित भूषणों में वह संचारमान कमलता

सी लग रही थी। हजार हजार अप्सराओं से वेष्टित वह मनोहर पद्मानना वह नदी वेष्टित गंगा की तरह प्रतिभासित हो रही थी।
(श्लोक ४९८-५०९)

ललितांगदेव को अपनी ओर आते देख स्वयंप्रभा देवी स्नेह से भरकर उठी और उनका सत्कार किया। तब श्रीप्रभ विमान के अधिपति ललितांगदेव स्वयंप्रभा को लेकर पर्यंक पर उपवेशित हुए। एक ही क्यारी में वृक्ष और लता जैसे शोभा पाती है उसी प्रकार वे दोनों शोभित होने लगे। एक शृङ्खला में बँधे निविड़ अनुराग में दोनों का चित्त एक दूसरे में लीन हो गया। यहां प्रेम का सौरभ अविच्छिन्न है। उस श्रीप्रभ विमान में ललितांगदेव ने स्वयंप्रभा के साथ नर्म क्रीड़ा में दीर्घकाल व्यतीत किया जो कि कला की भांति व्यतीत हो गया। फिर जिस प्रकार वृक्ष से पत्ता झड़ पड़ता है उसी तरह आयु पूर्ण हो जाने से स्वयंप्रभा देवी ने उस विमान से च्युत होकर अन्य गति प्राप्त की। सत्य ही है आयुष्य पूर्ण होने पर इन्द्र को भी स्वर्ग से च्युत होना पड़ता है।
(श्लोक ५१०-५१५)

प्रिया के अभाव में ललितांगदेव इस प्रकार मूर्छित हो गए जैसे वे पर्वत से पतित हो गए हों या वज्र से आहत हो गए हों। कुछ क्षण पश्चात् जब उन्हें होश आया तो वे उच्च स्वर में क्रन्दन करने लगे। वन-उद्यान उनके मन को शान्त और बावड़ी-तड़ाग शीतल नहीं कर सके। न उन्हें क्रीड़ा-पर्वत पर शान्ति मिली न नन्दनवन उन्हें आनन्द दे सका। हाय प्रिये! हाय प्रिये! तुम कहां हो? ऐसा कहते हुए एवं समस्त जगत् को स्वयंप्रभामय देखते हुए वे चारों ओर विचरण करने लगे। (श्लोक ५१६-५१९)

उधर स्वयंबुद्ध मन्त्री ने महाबल की मृत्यु से वैराग्य प्राप्त कर श्री सिद्धाचार्य नामक आचार्य से दीक्षा ग्रहण कर ली। उसने दीर्घकाल तक अतिचारहीन मुनि धर्म पालन कर आयुष्य शेष होने पर ईशान देवलोक में इन्द्र के दृढ़धर्मा नामक सामानिक देवता के रूप में जन्म ग्रहण किया। (श्लोक ५२०-५२१)

उस उदार बुद्धि सम्पन्न दृढ़धर्मा के मन में पूर्व भव के सम्बन्ध के कारण ललितांगदेव के प्रति बन्धुत्व भाव उत्पन्न हुआ। वह अपने विमान से ललितांगदेव के निकट आया और उन्हें धैर्य प्रदान

करने के लिए बोला—'हे महासत्त्व, आप स्त्री के लिए क्यों इतने व्याकुल हो गए हैं ? धीर व्यक्ति तो स्वयं की मृत्यु के समय भी अधीर नहीं होते।' ललितांगदेव बोले—'हे बन्धु ! यह तुम क्या कहते हो ? निज प्राणवियोग का दुःख सहा जा सकता है; किन्तु कान्ता-विरह का दुःख नहीं सहा जा सकता।' कहा भी गया है—

'इस संसार में एक मृगनयनी ही सार है—जिसके अभाव में समस्त वैभव ही असार है।' (श्लोक ५२२-५२५)

ललितांगदेव की इस वेदनापूर्ण उक्ति को सुनकर ईशानेन्द्र के सामानिक देव दृढ़धर्मा दुःखित हो गए। फिर अवधिज्ञान प्रयोग कर वे बोले—'आपकी प्रिया इस समय कहां है ज्ञात हो गया है अतः धैर्यधारण कर सुनें :

'मर्त्य लोक के धातकी खण्ड के पूर्व विदेह में नन्दी नामक एक ग्राम है। वहां नागिल नामक एक दरिद्र गृहस्थ वास करता है। पेट भरने के लिए भूत की तरह वह सारा दिन फिरता रहता है फिर भी पेट नहीं भर पाता। भूख लेकर ही सोता है, भूख लेकर ही उठता है। दरिद्र की क्षुधा की भांति नागश्री नामक उसकी एक पत्नी है जिसे अभागिनों की प्रमुखा बोला जाता है। दाद पर विष-फोड़े की भांति उसके एक-एक कर छह कन्याएँ जन्मीं। ग्राम कुतियाओं की तरह वे बहुभोगी, कुत्सित और सभी की निन्दा की पात्र थीं। इस पर भी उसकी पत्नी गर्भवती हुई। ठीक ही तो कहा है—'प्रायः दरिद्र के घर ही बहुप्रसवा स्त्री देखी जाती है।

(श्लोक ५२६-५३३)

तब नागिल सोचने लगा—'किस कर्म के फल से मनुष्यलोक में वास करने पर भी मैं नरक-यन्त्रणा भोग रहा हूं ? मेरे जन्म समय से ही जिसका प्रतिकार करना असम्भव है ऐसे दरिद्र ने मुझे इस प्रकार जीर्ण कर दिया जैसे कि कीट पेड़ के शरीर को जीर्ण कर देता है। प्रत्यक्ष अलक्ष्मी की भांति, पूर्वजन्म के बैरी की भांति, मूर्त्तिमान् अशुभ लक्षण-सी ये कन्याएँ मेरे दुःख का कारण हो गई हैं। इस बार भी यदि कन्या ही जन्मी तो इस परिवार का परि-त्याग कर मैं विदेशगमन करूंगा।' (श्लोक ५३४-५३७

इस प्रकार सोचते-सोचते नागिल ने एक दिन सुना उसकी स्त्री ने फिर कन्या को ही जन्म दिया है तो यह बात उसके कानों

को सूई की तरह बींध गई। अधम बलद जिस प्रकार भार परित्याग कर भाग जाता है उसी प्रकार वह अपने परिवार का परित्याग कर अन्यत्र चला गया। पति के विदेश गमन का संवाद प्रसववेदना से पीड़ित नागश्री को घाव पर नमक छिड़कने की भांति लगा। अतः दुःखिता नागश्री ने उस कन्या का कोई नाम नहीं रखा। इसलिए लोग उसे निर्नामिका कहकर पुकारने लगे। नागश्री ने भली-भांति लालन-पालन नहीं किया फिर भी वह दिन-दिन बड़ी होने लगी। ठीक ही तो कहा है—'वज्राहत होने पर भी यदि आयु रहती है तो उसकी मृत्यु नहीं होती।' उस अभागिन मां के दुःख का कारण बनकर दूसरे के घर छुट-पुट काम कर किसी प्रकार वह अपना दिन व्यतीत करने लगी। (श्लोक ५३८-५४६)

एक दिन उसने किसी धनी लड़के के हाथ में मोदक देखा। उसने भी मोदक मांगा। उसकी मां क्रोध से दांत पीसते-पीसते बोली—'तेरा क्या बाप है जो तू मोदक खाना चाह रही है? यदि मोदक खाने का इतना ही शौक है तो रस्सी लेकर अम्बरतिलक पहाड़ पर जा और वहां से लकड़ी काटकर ला।' (श्लोक ५४४-५४६)

मां की अग्निकुण्ड-सी ज्वालामयी वाणी सुनकर निर्नामिका रस्सी लेकर रोती-रोती अम्बरतिलक पहाड़ की ओर चली। उस समय उसी पर्वतशिखर पर एक रात्रि प्रतिमाधारी मुनि युगन्धर ने केवल ज्ञान प्राप्त किया था। इस उपलक्ष में देवतागण उनका केवलज्ञान समारोह मनाने के लिए एकत्र हुए थे। यह समाचार विदित होते ही निकटवर्ती ग्राम और नगर के लोग भी पर्वतशिखर की ओर जाने लगे। विभिन्न प्रकार के वस्त्रालंकारों से भूषित नर-नारियों को जाते देखकर निर्नामिका विस्मित होकर चित्र लिखित-सी उनकी ओर देखती रही। जब उसे उनसे पर्वतशिखर पर जाने का कारण मालूम हुआ तो वह भी दुःखभार की भांति सिर के काष्ठभार को पटक कर पर्वतशिखर पर चढ़ गई। कारण, तीर्थ तो सबके लिए ही समान है। उसने मुनि के चरण कमलों को कल्पवृक्ष मानकर पुलकित चित्त से उनका वन्दन और नमस्कार किया। ठीक ही कहा है—'बुद्धि भाग्य के अनुरूप ही हो जाती है।' (श्लोक ५४७-५५४)

महामुनि ने तब गम्भीर स्वर में लोक हितकारी और आनन्दकारी धर्मोपदेश दिया : (श्लोक ५५५)

'कच्चे सूत से बुने हुए पलंग पर सोने वाला मनुष्य जिस प्रकार धरती पर गिर पड़ता है उसी प्रकार विषयसेवनकारी मनुष्य भी संसार रूपी धरती पर आ गिरता है। संसार में पुत्र-मित्र और पत्नी आदि का समागम (पन्थशाला में) एक रात्रि के लिए मिले पथिकों के स्नेहसमागम की भांति है। चौरासी लक्ष योनियों में परिभ्रमणकारी जीव जो अनन्त दुःख भोग करता है वह उसके स्वकर्मानुसार ही होता है।' (श्लोक ५५६-५५८)

तब निर्नामिका ने करबद्ध होकर जिज्ञासा की—'हे भगवन्, राजा और दरिद्र में आप समभावी हैं इसीलिए मैं आपसे पूछती हूं—आपने बताया संसार दुःखों का घर है; किन्तु क्या मुझसे भी अधिक दुःखी इस संसार में कोई है?' (श्लोक ५५९-५६०)

केवली भगवान् ने प्रत्युत्तर दिया—'हे दुःखिनी बालिका, तुम्हें ऐसा क्या दुःख है? तुमसे भी अधिक दुःखी जीव हैं। उनके विषय में बताता हूं, सुन—जो जीव अपने मन्द कर्म के लिए नरक गति प्राप्त करते हैं उनमें से अनेक का शरीर भेदन किया जाता है, [illegible] का छेदन किया जाता है। कोई [illegible] से उत्क्षिप्त किया जाता है। अनेक जीव परमधामी देवों द्वारा घानी में तिल की तरह पीसे जाते हैं, अनेक को काष्ठ की भांति तीक्ष्ण आरों से चीरा जाता है। किसी को लौह पात्र की तरह हथौड़ी से पीटा जाता है। वे असुर कइयों को शूल के बिछौने में सुलाते हैं, किसी को पत्थर पर कपड़े की तरह पटकते हैं और अनेकों को साग की तरह टुकड़े-टुकड़े काट डालते हैं। किन्तु, उनका शरीर वैक्रिय होने के साथ-साथ जुड़ जाता है। इस तरह परमधामी जीव पुनः उन्हें वही दुःख देते हैं। इस प्रकार दुःख भोग करते-करते वे करुण चीत्कार करते रहते हैं। वहां जो जल चाहते हैं उन्हें तप्त सीसे का रस पीने के लिए देते हैं, जो छाया चाहते हैं उन्हें असिपत्र वृक्ष के नीचे बैठाया जाता है। वे पूर्व कर्म को स्मरण करते-करते एक मुहूर्त्त के लिए भी दुःख से रहित नहीं होते। हे वत्सा, उन नपुंसक नारकीय जीवों का जो दुःख है उसका वर्णन ही मनुष्य को कंपा देता है। (श्लोक ५६१-५६८)

इन समस्त नारकों की बात तो दूर रही वे जितने भी जलचर, स्थलचर और खेचर जीव हैं उन्हें भी हम पूर्व कर्मानुसार

नाना प्रकार के दुःख भोगते हुए देखते हैं। जलचर जीवों में कुछ जलचर जीव अन्य जलचर जीव का भक्षण करते हैं, अन्य को धीवर जाल में आबद्ध कर लेता है। कुछ बक के भक्ष्य बन जाते हैं। चमड़े के लिए मनुष्य उनका चमड़ा उतारता है, मांस के लिए कुछ भोजनविलासीगण उन्हें भूँजते हैं और चर्बी के लिए पकाते हैं। (श्लोक ५६९-५७२)

'स्थलचर जीव में मांस की आशा से बलवान, सिंहादि दुर्बल हरिणादि की हत्या करते हैं, शिकार करने वाले मांस के लिए अथवा मात्र शिकार के आनन्द के लिए ही उनका वध करते हैं। बलद आदि पशुगण क्षुधा, पिपासा, शीत, ग्रीष्म सहन करते हुए बहुत भार वहन करते हैं और कशा, अंकुश आदि का आघात सहन करते हैं।' (श्लोक ५७३-५७५)

'नभचर जीवों में तीतर, तोता, कबूतर आदि पक्षियों को मांसभोजी बाज, गिद्ध, सिचान आदि पक्षी पकड़ कर खा जाते हैं। पक्षी पकड़ने वाले विभिन्न प्रकार से उन्हें पकड़ते हैं और तरह-तरह से निर्यातन करते हैं, हत्या करते हैं। तिर्यंक पक्षियों को शस्त्रादि जल आदि का भय रहता है। पूर्व कर्मों के बन्धन एवं उनके विपाक को टाला नहीं जा सकता।' (श्लोक ५७६-५७८)

'जो जीव मनुष्य योनि में जन्म लेते हैं उनमें अनेक जन्म से ही अन्धे, बहरे, पंगु, खंज और कुष्ठ रोगग्रस्त होते हैं, अनेक चोर और परस्त्रीगामी बनकर दण्डित होते हैं—नारक जीवों की भांति दुःख भोग करते हैं। अनेक नाना प्रकार के रोगों से ग्रस्त होकर, अपने पुत्रों द्वारा उपेक्षित होते हैं। नौकर-क्रीतदासी की भांति अनेक बिकते हैं, खच्चर की भांति मालिक द्वारा दिए दण्ड को पाते हैं, अपमानित होते हैं। अनेक भार वहन करते हैं, क्षुत् पिपासा का दुःख सहन करते हैं।' (श्लोक ५७९-५८२)

'परस्पर झगड़ा करके हार जाने पर अपने स्वामी के अधीन रहने के कारण देवता भी सदा दुःखी रहते हैं। स्वभाव से भयंकर और अपार समुद्र में जिस प्रकार अपार जल-जन्तु है उसी प्रकार संसार रूपी समुद्र में दुःख रूपी अपार जल-जन्तु है। भूत-प्रेत के स्थान में जिस प्रकार मंत्राक्षर रक्षक है उसी प्रकार जिनोपदिष्ट धर्म संसार रूपी दुःख से हमारी रक्षा करता है। अत्यधिक भार से

पोत जैसे समुद्र में डूब जाता है उसी प्रकार हिंसा रूप भार से जीव नरक रूप समुद्र में डूब जाता है। इसीलिए हिंसा करना कभी भी उचित नहीं है। मिथ्या का सर्वदा परित्याग करना ही उचित है। कारण, मिथ्या भाषण से जीव संसार में इस प्रकार भ्रमित होता है जैसे चक्करदार हवा में तृण। चोरी भी नहीं करनी चाहिए। स्वामी की अनुमति के बिना कभी कोई चीज नहीं लेनी चाहिए। कारण, चौर्य कर्म के द्वारा वस्तु अपहरणकारी उसी प्रकार कष्ट पाता है जिस प्रकार कौंच की फलीस्पर्शकारी मनुष्य खुजलाते-खुजलाते कष्ट पाता है। अब्रह्मचर्य (संभोग सुख) सर्वदा परिहार करना उचित है। कारण, ब्रह्मचर्यहीन उसी प्रकार नरक में जाता है जिस प्रकार आरक्षी दुष्कृतकारी को ले जाता है। परिग्रह, संचित करना भी उचित नहीं है। कारण, अत्यन्त भार से बलीवर्द जिस प्रकार कीचड़ में अटक जाता है उसी प्रकार परिग्रहकारी परिग्रह भार से दुःख सागर में निमग्न हो जाता है। जो हिंसादि पांच अव्रतों का सामान्य रूप से ही परित्याग करता है वह उत्तरोत्तर कल्याण सम्पत्ति का पात्र बनता है। (श्लोक ५८३-५९१)

'केवली भगवान के मुख से उपदेश सुनकर निर्नामिका को वैराग्य उत्पन्न हो गया। लौह-गुटिका की भांति उसकी कर्म ग्रन्थि विद्ध हो गयी। उसने सम्यकतया महामुनि से सम्यक्त्व ग्रहण किया। सर्वज्ञ कथित श्रावक धर्म अङ्गीकार कर परलोक के पाथेय रूप पंच अणुव्रत धारण किए। तदुपरान्त महामुनि को वन्दन कर स्वयं को कृत्य-कृत्य समझती हुई काष्ठ बोझ लेकर अपने घर लौट गयी। उस दिन से उस बुद्धिमती निर्नामिका ने अपने नामानुकूल युगन्धर मुनि के उपदेश को हृदय से धारण कर नाना प्रकार के तप करने आरम्भ किए। क्रमशः वह यौवन को प्राप्त हुई; किन्तु किसी ने भी उससे विवाह नहीं किया। जिस प्रकार कड़वे तुम्बे को पकने पर भी कोई ग्रहण नहीं करता उसी प्रकार उसे भी किसी ने ग्रहण नहीं किया। तब विशेष वैराग्यभाव से निर्नामिका ने युगन्धर मुनि से अनशनव्रत ग्रहण किया। हे ललितांगदेव, अब उसकी मृत्यु सन्निकट अनुरक्त है। तुम उसके निकट जाओ। उसे स्वयं को दिखलाओ ताकि तुममें होकर मृत्यु के पश्चात् वह पुनः तुम्हारी पत्नी बने। कहा भी गया है--'अन्त में जैसी मति होती है वैसी ही गति होती है।' (श्लोक ५९२-५९९)

ललितांगदेव ने वैसा ही किया। ललितांगदेव में अनुरक्त होकर निर्नामिका मृत्यु के पश्चात् पुनः स्वयंप्रभा के रूप में उसी श्रीप्रभ विमान में उत्पन्न हुई। प्रणयकोप से दूर हो जाने वाली स्त्री के पुनः आने की भांति अपनी प्रिया को प्राप्तकर ललितांगदेव उसके साथ अधिक आनन्द क्रीड़ा करने लगे। कारण, चूप से वीक्षित प्राणी को छाया अत्यन्त प्रिय व सुखदायी लगती है।

(श्लोक ६००-६०१)

इस प्रकार क्रीड़ा करते-करते बहुत समय व्यतीत हो गया। ललितांग देव में स्वर्ग से पतन होने के क्रमशः समस्त चिह्न प्रकट होने लगे। स्वामी का वियोग निकट जानकर उसके रत्नाभरण निस्तेज, मुकुट की माला म्लान और अङ्ग के वस्त्र मलीन होने लगे। कहा गया है—'जब दुःख समीप आ जाता है तो लक्ष्मी विष्णु को भी छोड़ जाती है।' उस समय ललितांग देव के हृदय में धर्म के प्रति अनादर और भोग की विशेष लालसा उत्पन्न हुई। जब अन्त समय निकट आता है तब प्राणि की प्रकृति में परिवर्तन होता ही है। उनके परिजनों के मुख से अपशकुनमय शोककारक और नीरस वचन निकलने लगे। कहा है—'बोलने वाले की जबान से जो कुछ होने वाला होता है वैसा ही वाक्य निकलता है।'

(श्लोक ६०२-६०६)

जन्म से प्राप्त लक्ष्मी और लज्जा रूप प्रिया ने उनका इस प्रकार परित्याग कर दिया जिस प्रकार लोग अपराधी का परित्याग कर देते हैं। चींटी के जिस प्रकार मृत्यु के समय पंख निकल आते हैं उसी प्रकार अदीन और निद्रारहित ललितांग देव दीन व निद्राधीन हो गए। हृदय के साथ उनका सन्धि-बन्ध शिथिल होने लगा। महाबलवान् पुरुष भी उनके जिन कल्पवृक्षों को हिला नहीं सकते थे वे कांपने लगे। उनके नीरोग अङ्ग-प्रत्यङ्गों की सन्धि भविष्य के दुःख की शंका से भग्न होने लगी। अन्य के स्थायी भाव को देखने में असमर्थ उनकी आंखें वस्तु को देखने में असमर्थ हो गयीं। गर्भावास के दुःख का भय प्राप्त हो गया हो इस प्रकार उनका समस्त शरीर कांपने लगा। ऊपर अंकुश लिए बैठे महावत के कारण जिस प्रकार हस्ती स्वस्तिलाभ नहीं करता उसी प्रकार ललितांग देव भी रम्य क्रीड़ा पर्वत, सरिता, वापी, दीर्घिका और उद्यान में आनन्द प्राप्त नहीं करते। (श्लोक ६०७-६१३)

उनकी यह अवस्था देखकर देवी स्वयंप्रभा बोली—'मैंने ऐसा कौन-सा अन्याय किया है कि आप इस प्रकार मुझसे असन्तुष्ट हो गए हैं ?' (श्लोक ६१४)

ललितांग देव बोले—'हे शुभ्रे, तुमने कोई अन्याय नहीं किया है। अपराध मेरा ही है कि मैंने कम पुण्य और कम तपस्या की है। पूर्व जन्म में मैं विद्याधर राजा था। तब मैं भोगकार्यरत और धर्मकार्य में प्रमादी था। मेरे सौभाग्य दूत की भांति स्वयंबुद्ध नामक मन्त्री ने मेरी आयु कम है यह जानकर मुझे जिनधर्म का उपदेश दिया। मैंने उसे स्वीकार किया। उस सामान्य सत्य के लिए किए धर्म के प्रभाव से मैं इतने दिनों तक श्रीप्रभ विमान का अधीश्वर बना; किन्तु अब मुझे यहां से जाना होगा। कारण, 'अलभ्य वस्तु कभी प्राप्त नहीं होती।' (श्लोक ६१५-६१८)

उसी समय इन्द्र की आज्ञा से दृढ़धर्मा नामक देवता उसके निकट आए और बोले—'आज ईशान कल्प के अधीश्वर नन्दीश्वरादि द्वीप में जिनेश्वर प्रतिमापूजन के लिए जाएंगे। उनकी आज्ञा है आप भी उनके साथ जाएं। (श्लोक ६१९-६२०)

यह सुनकर ललितांग देव आनन्दित हो गए। सौभाग्यवश आज्ञा समयानुकूल प्राप्त हुई है यह सोचते हुए स्वयंप्रभा को लेकर यात्रा पर निकल पड़े। नन्दीश्वर द्वीप जाकर उन्होंने शाश्वत अर्हत प्रतिमाओं की पूजा की। उस पूजा से प्राप्त आनन्द में वे अपना पतन काल भी भूल गए। निर्मल मन से वे जब अन्य तीर्थ की ओर जा रहे थे उनकी आयु समाप्त हो गई और वे अल्प बचे हुए तेल के प्रदीप की भांति राह में ही बुझ गए अर्थात् देवयोनि से च्युत हो गए। (श्लोक ६२१-६२३)

जम्बूद्वीप में समुद्र के निकट पूर्व विदेह क्षेत्र अवस्थित है। वहां सीता नामक नदी के उत्तर तट पर पुष्कलावती नामक एक वृहद नगर है। उस नगर के राजा का नाम है स्वर्णध्वज। उसकी पत्नी लक्ष्मी के गर्भ से ललितांग देव पुत्र के रूप में उत्पन्न हुए। आनन्द से उत्फुल्ल उनके माता-पिता ने उनका नाम रखा वज्रजंघ। (श्लोक ६२४-६२६)

स्वयंप्रभा देवी भी ललितांग देव के वियोग से दुःखी होकर धर्म कार्य में दिन व्यतीत करने लगी। कुछ समय बाद वहां से

च्युत होकर उसी विजय के पुण्डरीकिनी नगरी के राजा वज्रसेन की पत्नी गुणवती के गर्भ से कन्या रूप में उत्पन्न हुई। देखने में वह खूब सुन्दर थी। अतः उसके माता-पिता ने उसका नाम रखा श्रीमती। मालियों द्वारा प्रतिपालित होकर लता जिस प्रकार बढ़ती है उसी प्रकार परिचारिकाओं द्वारा प्रतिपालित श्रीमती बढ़ने लगी। उसका शरीर कोमल और करतल नवीन किसलय की भांति प्रभा सम्पन्न था। रत्नों से जड़कर अंगूठी जिस प्रकार शोभा देती है उसी प्रकार स्वकान्ति से पृथ्वी को आनन्दित करती हुई श्रीमती यौवन को प्राप्त हुई। सान्ध्यकालीन अभ्रमाला जिस प्रकार पर्वत-शिखर पर आरूढ़ होती है उसी प्रकार उसने एक दिन अपने सर्वतोभद्र नामक प्रासाद के शीर्ष पर आनन्द के साथ आरोहण किया। वहां से उसने प्रत्यक्ष एक देव-विमान को जाते देखा। मनोरम नामक उद्यान में किसी मुनि को केवल ज्ञान होने के कारण देवगण उनके पास जा रहे थे। उसे देखकर श्रीमती को लगा, ऐसा विमान उसने कभी देखा है। सोचते-सोचते रात को दृष्ट स्वप्न की भांति उसे पूर्वजन्म स्मरण हो आया। पूर्वजन्म के ज्ञान भार को सहन करने में असमर्थ होने के कारण वह उसी क्षण बेसुध होकर गिर पड़ी। सखियों ने चन्दनादि लगाकर उसकी चेतना को लौटाया। वह सोचने लगी—'पूर्वभव में ललितांगदेव मेरे पति थे। वे स्वर्ग से च्युत हो गए थे। नहीं जानती अभी वे कहां है? हाय! इसीलिए मेरा मन दुःख से भाराक्रान्त है। मेरे हृदय पर एकमात्र उन्हीं का अधिकार है। वही मेरे प्राणेश्वर हैं। सचमुच ही कर्पूर के पात्र में कोई लवण निक्षेप करता है। यदि मैं अपने प्राणपति के साथ ही बात नहीं कर सकती तब अन्य के साथ बात करने से काम ही क्या है?' यह सोचकर उसने मौन धारण कर लिया।

(श्लोक ६२७-६३९)

जब उसने बोलना बन्द कर दिया तो उसकी सखियों ने इसे देव-दोष मानकर उसे स्वस्थ करने के लिए मन्त्र-तन्त्र से उपचार करने लगीं; किन्तु विभिन्न उपचारों के पश्चात् भी वे उसे स्वस्थ नहीं कर पायीं। कारण, एक रोग की औषधि अन्य रोग को ठीक नहीं कर सकती। जितना प्रयोजन होता उतना लिखकर या संकेत से वह अपनी प्रयोजनीय बातें परिजनों को ज्ञात करवाने लगी।

(श्लोक ६४०-६४२)

एक दिन श्रीमती अपने क्रीड़ा-उद्यान में गई। वहां एकान्त पाकर पण्डिता नामक एक दासी उससे बोली—'हे राजकन्या! तुम मुझे अपने प्राणों से भी प्यारी हो और मैं तुम्हारी मां के समान हूं। इसलिए, हम लोगों का एक-दूसरे पर अविश्वास रखना उचित नहीं है। तुम किस लिए मौन हो वह कारण मुझे बताओ और अपने दुःखलाघव में मुझे भागीदार बनाओ। मैं तुम्हारे दुःख को समझकर उसका निराकरण करने की चेष्टा करूँगी। कारण, रोग जाने बिना उसका निराकरण होगा कैसे?' (श्लोक ६४३-६४६)

तब श्रीमती ने अपने पूर्व भव की कथा पण्डिता को इस प्रकार बताई जैसे शिष्य प्रायश्चित्त के लिए गुरु के समक्ष यथातथ्य तथ्य विवृत करता है। पण्डिता ने तदनुरूप एक चित्रपट अंकित करवाया और उसे लेकर वहां से प्रस्थान किया।

(श्लोक ६४७-६४८)

उसी समय चक्रवर्ती वज्रसेन का जन्मदिन निकटवर्ती होने से उस उपलक्ष में अनेक राजा और राजपुत्र वहां आए थे। श्रीमती के मनोभावों को व्यक्त करने वाला वह चित्रपट लेकर पण्डिता जिस राजपथ से वे आ रहे थे उसी राजपथ के किनारे खड़ी हो गई। जो आए उनमें जो शास्त्रज्ञ थे आगम के अनुसार चित्रित नन्दीश्वर द्वीप आदि देखकर उसकी स्तुति करने लगे। अनेक श्रद्धा से सिर झुका-झुकाकर चित्रपट अंकित अर्हत् मूर्ति का विशद् वर्णन करने लगे। कलाभिज्ञगण सूक्ष्म रूप से रेखा-प्रच्छन्न आदि वास्तविकता की प्रशंसा करने लगे। कोई सान्ध्य अभ्र की भांति चित्रपट पर चित्रित सफेद, पीला, नीला, लाल आदि रंगों का वर्णन करने लगे। (श्लोक ६४९-६५४)

इसी बीच नामानुरूप गुणयुक्त दुर्दर्शन नामक राजा का दुर्दान्त नामक पुत्र आया। वह कुछ क्षण तक चित्रपट को देखता रहा और तभी मूर्च्छित होने का बहाना कर धरती पर गिर पड़ा। फिर संज्ञा लौट आई हो इस प्रकार धीरे-धीरे उठ बैठा। लोगों ने उसके बेहोश होने का कारण पूछा तो वह झूठ बनाकर बोला—

'इस पट में किसी ने मेरे पूर्व जन्म की कथा चित्रित की है। अतः पट देखकर पूर्वजन्म स्मरण हो आया है। यह मैं ललितांगदेव हूं और यह मेरी देवी स्वयंप्रभा है। इस प्रकार वहां जो-जो घटना चित्रित थी उसका वर्णन किया।' (श्लोक ६५५-६५९)

पण्डिता बोली—'यदि ऐसा ही है तो चित्र में चित्रित स्थानों का अंगुली के संकेत से नाम बताओ।' (श्लोक ६६०)

दुर्दान्त बोला—'यह सुमेरु पर्वत है, यह पुण्डरीकिनी नगरी है।'

पण्डिता बोली—'इस मुनि का नाम क्या है?'

वह बोला—'मुनि का नाम मैं भूल गया हूं।'

पण्डिता ने फिर पूछा—'मन्त्री परिवृत इस राजा का क्या नाम है? वह तपस्विनी कौन है?'

दुर्दान्त बोला—'मैं उनका नाम नहीं जानता।'

(श्लोक ६६१-६६२)

इससे पण्डिता समझ गई यह यथार्थ ललितांगदेव नहीं है। तब वह हँसते-हँसते बोली—'तुम्हारे कथनानुरूप यह तुम्हारे पूर्व जन्म का विवरण है। तुम ललितांगदेव और तुम्हारी पत्नी इस स्वयंप्रभा ने कर्म-दोष से इस वक्त पंगु होकर नन्दीग्राम में जन्म ग्रहण किया है। अपना पूर्वजन्म स्मरण हो आने के कारण इस चित्रपट में उसने अपना पूर्वजन्म चित्रित किया है। मैं जब धातकी खण्ड गई थी तो उसने यह चित्रपट मुझे दिया था। उस पंगु पर दया आ जाने के कारण मैंने तुम्हें खोज निकाला है। अब तुम मेरे साथ चलो। धातकी खण्ड में मैं तुम्हें उसके पास पहुंचा दूंगी। वत्स, दारिद्र्य-पीड़ित तुम्हारी पत्नी तुम्हारे विरह में दुःखी जीवन व्यतीत कर रही है। अतः तुम उसके पास जाकर तुम्हारी पूर्वजन्म की वल्लभा को आश्वस्त करो।' (श्लोक ६६३-६६७)

पण्डिता के चुप होने पर दुर्दान्त के बन्धु-बान्धव परिहास करते हुए बोले—'बन्धु, लगता है तुम स्त्रीरत्न प्राप्त करोगे। तुम्हारा पुण्योदय हुआ है। अतः तुम जाकर उस पंगु स्त्री से मिलो और आजीवन-उसका लालन-पालन करो।' (श्लोक ६६८-६६९)

मित्रों के इस परिहास को सुनकर दुर्दान्त कुमार लज्जित हो गया और विक्रय के लिए लाई हुई वस्तु में जो बच जाती है उस भांति मुख बनाकर वहां से विदा हो गया। (श्लोक ६७०)

इसके कुछ पश्चात् ही लोहार्गलापुर से आए हुए वज्रजंघ कुमार भी वहां पहुंचे। वे चित्रपट पर अंकित चित्र देखकर मूर्च्छित हो गए। उन्हें पंखे से हवा की गई, आंख-मुंह पर जल के छींटे

डाले गए। तब उनकी चेतना लौटी। उसी क्षण मानो इसी मुहूर्त्त में स्वर्ग से अवतरण किया हो इस प्रकार उन्हें जाति स्मरण ज्ञान हुआ। (श्लोक ६७१-६७२)

पण्डिता ने तब उनसे पूछा—'कुमार, इस चित्रपट को देखकर तुम मूर्च्छित क्यों हो गए?'

वज्रजंघ ने प्रत्युत्तर दिया—'भद्रे, मेरे पूर्वजन्म की कथा मेरी स्त्री सहित इस चित्रपट पर अंकित है। वही देखकर मैं मूर्च्छित हो गया। यह है ईशान कल्प, उसमें यह श्रीप्रभ विमान है। यह मैं ललितांगदेव हूं। यह मेरी देवी स्वयंप्रभा है। धातकी खण्ड के नन्दीग्राम में महा दरिद्र के घर जन्मी निर्नामिका अम्बरतिलक शिखर पर यह खड़ी है और युगन्धर नामक मुनि से अनशन व्रत ग्रहण कर रही है यहां यह वृक्ष पर स्थानक हो इन्द्रदत्त को उसे दिखलाई दे रहा हूं। वहां उसने मृत्यु प्राप्त होने पर मेरी स्वयंप्रभा नामक देवी के रूप में जन्म ग्रहण किया है। यहां मैं नन्दीश्वर द्वीप में अर्हत् प्रतिमा के पूजन-वन्दन में निरत हूं और यहां अन्य तीर्थ को जाते समय मैं च्युत हुआ। एकाकिनी दीन और दरिद्र की भांति स्वयंप्रभा ने यहां जन्म ग्रहण किया—ऐसा मेरा अनुमान है। वह मेरे पूर्व भव की प्रिया थी। अब यहीं है। मेरा विश्वास है जाति स्मरण ज्ञान से उसने ही यह चित्रपट अंकित करवाया है। कारण, अनुभव के बिना दूसरा कोई यह सब नहीं जान सकता।'

(श्लोक ६७३-६८१)

समस्त स्थानों पर निर्देशन कर वज्रजंघ जो कुछ बोला, सुन कर पण्डिता बोली—'बस, तुम्हारी बात सत्य है।'

तब पण्डिता श्रीमती के पास गई और हृदय के दुःख को दूर करने वाली औषध की भांति सारा वृतान्त उसे सुनाया।

मेघ के शब्द सुनकर विदुर पर्वत की भूमि जिस प्रकार रत्नों से अंकुरित हो जाती है उसी प्रकार श्रीमती अपने प्रिय पति के विषय में सुनकर रोमांचित हो गई। फिर उसने पण्डिता से सब कुछ पिता को कहलवा भेजा। कारण, स्वच्छन्द न होना कुलीन कन्या का धर्म है। (श्लोक ६८२-६८४)

पण्डिता की बात सुनकर वज्रसेन उसी प्रकार आनन्दित हुए जैसे मेघ-ध्वनि सुनकर मयूर आनन्दित होता है। उन्होंने वज्रजंघ

कुमार को बुलवाकर कहा—'मेरी कन्या श्रीमती पूर्वजन्म की भांति ही इस जन्म में भी तुम्हारी बने यही मैं चाहता हूँ।'

(श्लोक ६८५-६८६)

वज्रजंघ ने यह बात स्वीकार कर ली। समुद्र ने जिस प्रकार लक्ष्मी का विवाह विष्णु से किया था वज्रसेन ने भी अपनी कन्या श्रीमती का विवाह उसी प्रकार वज्रजंघ से कर दिया। फिर चन्द्रिका की भांति एक रूप पति पत्नी ने उज्ज्वल पट्टवस्त्र धारण कर राजा की आज्ञा लेकर लोहार्गलापुर को गमन किया। वहाँ पुत्र की योग्यावस्था समझकर सुवर्णजंघ ने भी पुत्र को राज्यभार देकर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। (श्लोक ६८७-६८९)

इधर पक्षदर्शी वज्रसेन ने भी स्वपुत्र पुष्करपाल को राज्यभार देकर प्रव्रज्या ग्रहण की और तीर्थंकर हुए।

वज्रजंघ निजप्रिया के साथ सम्भोग करते हुए जिस प्रकार हस्ती कमल को वहन करता है उसी प्रकार राज्यभार वहन करने लगे। गंगा और समुद्र की तरह वे कभी वियुक्त नहीं होते। निरन्तर सुख भोग करते हुए उस दम्पती के एक पुत्र उत्पन्न हुआ।

(श्लोक ६९०-६९२)

अहिकुल की उपमा सेवनकारी और महाक्रोधी सामन्त राजा पुष्करपाल के विरोधी हो गए। सर्प की भांति उन्हें वश में लाने के लिए पुष्करपाल ने वज्रजंघ को बुलवाया। शक्तिशाली वज्रजंघ उसकी सहायता के लिए रवाना हुए। इन्द्र के साथ जिस प्रकार इन्द्राणी जाती है उसी प्रकार अचल भक्तिमती श्रीमती भी स्वामी के साथ हो गई। अर्द्धपथ जाते न जाते अमावस्या की रात्रि में चन्द्रिका का भ्रम उत्पन्नकारी एक विस्तृत काशवन उन्होंने देखा। पथिकों ने कहा—'इस पथ पर दृष्टि विष सर्प रहता है।' यह सुन कर उन्होंने भिन्न पथ से गमन किया क्योंकि नीतिवान् पुरुष उपस्थित कार्य में ही तत्पर होते हैं। (श्लोक ६९३-६९७)

पुण्डरीक सदृश वज्रजंघ पुण्डरीकिनी नगरी में उपस्थित हुए। उसके शक्तिबल से समस्त सामन्त नृपतिगण पुष्करपाल के अधीन हुए। विधिज्ञाता पुष्करपाल ने जिस प्रकार गुरुजनों का सम्मान करना चाहिए उसी प्रकार वज्रजंघ राजा का सम्मान किया।

(श्लोक ६९८-६९९)

कुछ दिन पश्चात् पुष्करवाल से विदा लेकर वज्रजंघ ने श्रीमती को साथ लिए लक्ष्मी के साथ जिस प्रकार लक्ष्मीपति आता है उसी प्रकार प्रस्थान किया। शत्रुनाशकारी राजा जब उस काशवन के के निकट आए तब मार्गदर्शक चतुर व्यक्ति बोले—'अभी इस वन में दो मुनियों को केवलज्ञान उत्पन्न होने के कारण देवतागण आए हैं। उनकी द्युति से दृष्टिविष सर्प निर्विष हो गया है। वही दोनों मुनि सागरसेन और मुनिसेन सूर्य और चन्द्र की भाँति अभी यहाँ अवस्थित हैं। संसार सम्पर्क में वे दोनों सहोदर भाई हैं।' यह सुनकर वज्रजंघ आनन्दित हुए और विष्णु जिस प्रकार समुद्र में निवास करते हैं उसी प्रकार वे भी वहाँ निवास करने लगे। देवताओं द्वारा परिवृत और धर्मोपदेशदानरत उन दोनों मुनियों को राजा ने श्रीमती सहित वन्दना की। उपदेश के अन्त में उन्होंने मुनियों को अन्न-वस्त्रादि दान किया। फिर वे सोचने लगे—धन्य हैं ये मुनि युगल जो सहोदर के सम्बन्ध में भी समान कषायरहित, ममतारहित और परिग्रहरहित हैं। मैं ऐसा नहीं हूँ अतः अधम हूं। व्रत ग्रहणकारी पिता के सन्मार्ग के अनुसरणकारी होते हैं तभी तो पिता के औरस पुत्र कहलाते हैं। मैं ऐसा नहीं हूँ अतः क्रीत पुत्र की भाँति हूँ। इतना होने पर भी यदि मैं अभी व्रत ग्रहण करूँ तो उचित ही होगा। कारण, दीक्षा प्रदीप की भाँति ग्रहण मात्र से ही अन्धकार दूर करती है। इसलिए मैं यहाँ से राजधानी लौटकर पुत्र को राज्य सौंप हंस जिस प्रकार हंसगति को प्राप्त होता है मैं भी उसी प्रकार पिता के पदचिह्नों का अनुसरण करूँगा। (श्लोक ७००-७१०)

श्रीमती को इसमें आपत्ति होने पर भी दोनों एक मन होकर लोहार्गला नगर को लौट गए। वहाँ राज्यलोभी उनके पुत्र ने मंत्रियों को धन देकर अपने वशीभूत कर लिया था। कारण, जल के लिए कुछ अभेद्य नहीं है उसी प्रकार धन के लिए भी कुछ अभेद्य नहीं है। (श्लोक ७११-७१२)

श्रीमती और वज्रजंघ दूसरे दिन सुबह पुत्र को राज्य देकर स्वयं दीक्षा ग्रहण करेंगे ऐसा सोचते हुए सो गए। उसी समय सुख से सोए हुए राज्य दम्पती को मारने के लिए राजपुत्र ने उनके कक्ष में विषाक्त धुएँ का प्रयोग किया। गृह अग्नि की भाँति उसे रोकने में समर्थ कौन था? प्राण को चिमटे से पकड़ कर निकालने में समर्थ

उस वृद्ध ने राजा-रानी को मधुर वेषवाले कबूतर-कबूतरी का जोड़ा दिया। अतः उसी भव में उसी स्थान पर उनका देहान्त हो गया। (श्लोक ७१३-७१५)

पंचम भव

वज्रजंघ और श्रीमती का जीव उत्तर कुरुक्षेत्र में युगल रूप में उत्पन्न हुए। ठीक ही कहा गया है—'समान विचार वाले मृत्यु-पथ यात्रियों की गति एक-सी होती है। (श्लोक ७१६)

षष्ठ भव

वहाँ से आयु शेष होने पर उन्होंने सौधर्म देवलोक में स्नेह-शील देवता के रूप में जन्म ग्रहण किया और वहाँ दीर्घकाल तक स्वर्गसुख का भोग किया। (श्लोक ७१७)

देव आयु समाप्त होने पर उष्णता पाकर जिस प्रकार हिम पिघल जाता है उसी प्रकार विगलित होकर वज्रजंघ का जीव वहाँ से चलकर जम्बूद्वीप के विदेह क्षेत्र में क्षिति प्रतिष्ठित नगर के सुविधि वैद्य के घर पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। उनका नाम जीवानन्द रखा गया। उसी दिन उसी नगर में धर्म के शरीरधारी चार अंग की भाँति अन्य चार बालक उत्पन्न हुए। पहला ईशानचन्द्र राजा के घर कनकवती नामक रानी के गर्भ से महीधर नामक पुत्र हुआ। दूसरा गुनासीर मंत्री के घर लक्ष्मी नामक स्त्री के गर्भ से सुबुद्धि नामक पुत्र हुआ। तृतीय सागरदत्त श्रेष्ठी के घर अभयमती स्त्री के गर्भ से पूर्णभद्र नामक पुत्र हुआ। चतुर्थ धनश्रेष्ठी के घर शीलमती स्त्री के गर्भ से शीलपुञ्ज की भाँति गुणाकर नामक पुत्र हुआ। धात्रियों के द्वारा सयत्न परिपालित और रक्षित होकर वे चारों पुत्र अंग के चार प्रत्यंग की भाँति समान रूप से बढ़ने लगे। वे सदा एक साथ खेलते। वृक्ष जैसे मेघवारि को समान रूप से ग्रहण करता है उसी प्रकार समान रूप से उन्होंने समस्त कलाएँ अधिगत कर लीं। (श्लोक ७१८-७२६)

श्रीमती का जीव भी देवलोक से च्युत होकर उसी नगर के ईश्वरदत्त श्रेष्ठी के घर पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। उसका नाम केशव रखा गया। पाँच इन्द्रिय और छठे मन की भाँति वे छहों मित्र समस्त दिन प्रायः एक साथ ही रहते। (श्लोक ७२७-७२८)

इनमें सुविधि वैद्य का पुत्र पिता से औषधि और रसायन शास्त्र की शिक्षा प्राप्त कर अष्टाङ्ग आयुर्वेद का ज्ञाता बना। हाथी के मध्य जैसे ऐरावत, नवग्रहों में जैसे सूर्य अग्रणी है वैसे ही वह वैद्यों में ज्ञानवान्, निर्दोष विद्या का ज्ञाता और अग्रणी था। वे छह मित्र सहोदर भाइयों की तरह निरन्तर साथ-साथ रहते, एक-दूसरे के घर जाते रहते। (श्लोक ७२९-७३१)

एक दिन वे वैद्यपुत्र जीवानन्द के घर बैठे थे। उसी समय वहाँ एक मुनि भिक्षा ग्रहण करने आए। वे पृथ्वीपाल राजा के पुत्र थे। नाम था गुणाकर। गुणाकर मलिनता की भाँति राज-सम्पदा का परित्याग कर राम साम्राज्य अर्थात् दीक्षा ग्रहण कर ली थी। ग्रीष्मकाल में जैसे नदी सूख जाती है उसी प्रकार तपस्या से उनका शरीर शुष्क हो गया। अनमय में एवं अपथ्य भोजन से उन्हें कृमि कुष्ठ नामक रोग हो गया था। सारी देह में वह रोग फैल गया था। तब भी वे महात्मा कभी भिक्षा में औषध नहीं माँगते। कहते हैं, 'मुमुक्षु कभी शरीर की परिचर्या नहीं करते।'

(श्लोक ७३२-७३५)

गोमूत्रिका विधान से घर-घर भिक्षाचारी उन मुनि को दो दिन के उपवास के पश्चात् अन्न जल के लिए उन्होंने उन्हें अपने आँगन में आते देखा। उन्हें देखकर संसार में अद्वितीय ऐसे महीधर कुमार ने वैद्य जीवानन्द से परिहास करते हुए कहा—'तुम्हें रोग का ज्ञान है, औषधि का ज्ञान है, चिकित्सा भी तुम अच्छी करते हो; किन्तु तुममें दया जरा भी नहीं है। धन के बिना गणिका जिस प्रकार किसी के मुख की ओर नहीं देखती तुम भी उसी प्रकार धन के बिना दुःखी व्यक्ति के प्रार्थना करने पर भी उसकी ओर नहीं देखते। विवेकी मनुष्य को केवल धन का लोभी बनना उचित नहीं है। कभी धर्म समझकर भी चिकित्सा करनी चाहिए। तुम्हारे रोग-निदान और चिकित्सा-ज्ञान को धिक्कार है यदि तुम ऐसे सत्पात्र अस्वस्थ मुनि की ओर नहीं देखते हो।'

(श्लोक ७३६-७४१)

यह सुनकर विज्ञानरत्न के रत्नाकर तुल्य जीवानन्द बोला—'तुमने मुझे कर्तव्य स्मरण करवा कर बहुत अच्छा किया। तुम्हें धन्यवाद।' (श्लोक ७४२)

'वास्तव में संसार में ब्राह्मण प्रायः द्वेषरहित नहीं होते, वणिक प्रवंचक नहीं होते, मित्र-मण्डली ईर्ष्याहीन नहीं होती, शरीरधारी नीरोग नहीं होते, विद्वान् धनवान नहीं होते, गुणवान निरभिमानी नहीं होते, स्त्री अ-चपल नहीं होती, राजपुत्र उत्तम चरित्रवान नहीं होते। (श्लोक ७४३-७४४)

'ये मुनि चिकित्सा के योग्य हैं; किन्तु वर्तमान में मेरे पास औषध के उपकरण नहीं है। यही इसका अन्तराय है। इस व्याधि को दूर करने के लिए लक्षपाक तेल, गोशीर्ष चन्दन और रत्न-कम्बल की आवश्यकता पड़ती है। मेरे पास लक्षपाक तेल है; किंतु अन्य वस्तुएं नहीं हैं। वे वस्तुएं तुम लोग ला दो।'

(श्लोक ७४५-७४६)

'वे दोनों वस्तुएं हम लाएंगे' कहकर पाँचों मित्र बाजार गए। मुनि भी अपने निवास स्थान पर लौट गए। (श्लोक ७४७)

वे पाँचों मित्र बाजार जाकर एक वृद्ध वणिक को बोले—'हमें गोशीर्ष चन्दन और रत्नकम्बल चाहिए। मूल्य लेकर हमें ये वस्तुएं दो।' (श्लोक ७४८)

वह वृद्ध वणिक बोला—'इन दोनों वस्तुओं में प्रत्येक का मूल्य लक्ष सुवर्ण मुद्रा है अर्थात् दोनों वस्तुओं का मूल्य दो लक्ष सुवर्ण मुद्रा हुआ। मूल्य ले आओ, वस्तु ले जाओ; किन्तु पहले यह बताओ कि तुम्हें ये वस्तुएं क्यों चाहिए?' (श्लोक ७४९)

वे बोले—'जो मूल्य लगे लो, हमें दोनों वस्तुएं दो। एक महात्मा की चिकित्सा के लिए हमें ये दोनों वस्तुएं चाहिए।'

(श्लोक ७५०)

यह सुनकर वणिक आश्चर्यचकित हो गया। आनन्द से उसकी आँखों में जल भर आया और शरीर रोमांचित हो गया। वह सोचने लगा—'कहाँ उन्माद आनन्द और तारुण्य भरा इनका यौवन और कहाँ वयोवृद्ध-सा इनका विवेक और विचारशक्ति। जो काम मेरे जैसे वार्द्धक्य जर्जरित व्यक्ति को करना चाहिए वह काम ये कर रहे हैं और अदम्य उत्साह से करने के लिए अग्रसर हो रहे हैं।' (श्लोक ७५१-७५३)

ऐसी विवेचना कर वह वृद्ध वणिक उनसे बोला—'हे विवेक-शाली युवकगण! गोशीर्ष चन्दन और रत्नकम्बल तुम ले जाओ।

मूल्य देने की आवश्यकता नहीं है। इनका मूल्य रूप में धर्म रूप अक्षय निधि मैं प्राप्त करूँगा। तुम लोगों ने सहोदर भाई की तरह धर्मकार्य में अंशीदार बनाया उसके लिए धन्यवाद।' ऐसा कहकर वणिक ने उन्हें दोनों वस्तुएँ दे दीं। फिर उसी शुद्ध अन्तःकरण से उस वणिक ने दीक्षा ग्रहण कर मोक्ष प्राप्त किया।

(श्लोक ७५४-७५६)

औषध लेकर महात्माओं में अग्रणी वे मित्र जीवानन्द को लेकर मुनि के पास गए। वे मुनि कायोत्सर्ग ध्यान में एक वट-वृक्ष के नीचे खड़े थे। उन्हें देखकर लगता था जैसे बड़ की जड़ हो। मुनि महाराज को वन्दना कर वे मित्र बोले—'हे भगवन्, चिकित्सा के लिए हम आज आपकी तपस्या में विघ्न करेंगे। आप आज्ञा दीजिए और पुण्य दान प्रदान कर हमें अनुगृहीत कीजिए।'

(श्लोक ७५७-७५९)

मुनि ने चिकित्सा की अनुमति दी। तब वे लोग तुरन्त की मरी हुई एक गाय ले आए। कारण, सद्वैद्य कभी विपरीत (पाप-युक्त) चिकित्सा नहीं करते। फिर उन्होंने मुनि के समस्त शरीर में लक्षपाक तेल मालिश किया। वह तेल नाले के पानी की भाँति उनकी शिरा-उपशिरा में प्रविष्ट हो गया। देह में ताप उत्पन्नकारी उस तेल की गर्मी से मुनि बेसुध हो गए। कहे रोग में उग्र औषध ही कार्य करती है। (श्लोक ७६०-७६२)

बल्मीक में जल डालने से जैसे उसमें से दीमक निकलती है उसी प्रकार उत्ताप से आतुर होकर मुनि के शरीर से कुष्ठ कृमि निकलने लगी। तब जीवानन्द ने चाँद जैसे अपनी चन्द्रिका से गगन को आच्छादित कर देता है उसी प्रकार मुनिदेह को रत्नकम्बल से आच्छादित कर दिया। रत्नकम्बल में शीतलता थी। इसीलिए शरीर से निकली हुए कुष्ठ कृमियों ने गर्मी के दिन में दोपहर के समय मछलियाँ जैसे शीतलता के लिए शैवाल में आश्रय लेती है उसी प्रकार रत्नकम्बल में आश्रय लिया। तब उसने रत्नकम्बल को बिना हिलाए धीरे-से उठाकर उसकी समस्त कृमियों को उस मरी हुई गाय पर डाल दिया। कहते हैं सत्पुरुषों का समस्त कार्य अद्रोह ही प्रकाशित करता है। इसके पश्चात् जीवानन्द ने अमृत रस तुल्य जीवमात्र को प्राणदानकारी गोशीर्ष चन्दन का उनके सर्वाङ्ग में

विलेपन कर दिया। इससे देह में प्रशान्ति आयी। इस प्रकार प्रथम चर्म के भीतर रहे हुए कीटों को निकाला। तदुपरान्त फिर शतपाक तेल का मर्दन किया। इससे उदानवायु से जिस प्रकार रस निकलता है उसी प्रकार मांस के भीतर से कृमियों को निकाला। पूर्व की भांति ही रत्नकम्बल से उनकी देह आच्छादित की। इससे दो-तीन दिन के दधिकीट जिस प्रकार लाक्षारंजित वस्त्र में तैरने लगते हैं उसी प्रकार कुष्ठ कृमियां उस रत्नकम्बल में तैरने लगीं। इस बार भी जीवानन्द ने उसे गाय के मृत शरीर पर डाल दिया। धन्य है वैद्य की यह चतुराई। पुनः जीवानन्द ने ग्रीष्मकाल पीड़ित हस्ती को जैसे मेघ शान्त करता है उसी प्रकार गोशीर्ष चन्दन के रस से मुनि को शान्त किया। इसके कुछ क्षण पश्चात् उन्होंने लक्षपाक तेल मर्दन किया। इससे हाड़ों में रहे हुए कुष्ठ कीट निकल पड़े। कारण, बलवान व्यक्ति यदि रोष करे तो वज्रनिर्मित पिंजरा भी उसकी रक्षा नहीं कर सकता। वे कृमियां भी पूर्व की भांति ही रत्नकम्बल में लाकर गाय पर फेंक दी गयीं। ठीक ही कहा गया है, मन्द के लिए मन्द स्थान ही उपयुक्त रहता है। फिर उस वैद्य शिरोमणि ने परम भक्ति के साथ जिस प्रकार देवताओं की देह में विलेपन किया जाता है उसी प्रकार गोशीर्ष चन्दन का रस मुनि के सर्वांङ्ग में विलेपन किया। इस चिकित्सा से वे मुनि नीरोग और कान्तिसम्पन्न हुए और मार्जित स्वर्णमूर्त्ति की भांति शोभासम्पन्न हुए। अन्त में उन मित्रों ने मुनि से क्षमा याचना की। मुनि भी वहां से विहार कर अन्यत्र चले गए। कारण, वैसे साधु पुरुष कभी भी एक स्थान में नहीं रहते। (श्लोक ७६३-७७७)

तत्पश्चात् उन्हीं बुद्धिमानों ने अवशिष्ट रत्नकम्बल और गोशीर्ष चन्दन विक्रय कर स्वर्ण खरीदा। जिस स्वर्ण और अर्थ से वे गोशीर्ष चन्दन और रत्नकम्बल पहले क्रय करना चाहते थे उसी अर्थ और स्वर्ण से उन्होंने मेरुशिखर जैसे एक जिनालय का का निर्माण करवाया। जिन प्रतिमा की पूजा और गुरु की उपासना कर उन्होंने कर्मक्षय करते हुए बहुत समय व्यतीत किया। तदुपरान्त एक दिन उनके मन में संवेग उत्पन्न हुआ। तब वे गुरु महाराज के सन्निकट जाकर जंबूवृक्ष के फल-सी दीक्षा ग्रहण कर ली। नवग्रह जिस प्रकार निर्दिष्ट समय तक अवस्थान कर एक राशि से दूसरी

राशि में जाता है वे भी उसी प्रकार ग्राम, नगर एवं वन में निर्दिष्ट समय तक अवस्थित रहकर अन्यत्र विहार करने लगे। उपवास, छह दिन का उपवास, अट्ठाई आदि तपस्या द्वारा वे चारित्ररूपी रत्न को उज्ज्वल करने लगे। आहार देने वाले को कोई कष्ट नहीं हो इस प्रकार केवल प्राण धारण करने के लिए वे मधुकरी वृत्ति से पारने के दिन भिक्षा ग्रहण करते। वीर जैसे शस्त्र प्रहार सहन करते हैं वे भी उसी प्रकार धैर्य से क्षुधा, पिपासा, शीष्मादि परिषह सहन करते। मोहराज के चार सेनापति रूप चार कषाय को उन्होंने क्षमा शस्त्र से जय कर लिया। फिर वे द्रव्य व भाव से संलेखना ग्रहण कर कर्मरूप पर्वत का नाश करने के लिए वज्ररूप अनशन व्रत ग्रहण किया। समाधि धारण कर पंच परमेष्ठी का स्मरण करते हुए उन्होंने अपना शरीर त्याग दिया। कहा भी गया है, महात्माओं को अपनी देह से भी मोह नहीं होता। (श्लोक ७७८-७८८)

सप्तम भव

वे छहों महात्मा वहाँ की आयु भोग कर अच्युत नामक देवलोक में इन्द्र के सामानिक देव के रूप में उत्पन्न हुए क्योंकि, ऐसी तपस्या का फल सामान्य नहीं हो सकता। देवलोक का बाईस सागरोपम का आयुष्य पूर्ण कर पुनः च्युत हुए। कारण, मोक्ष के अतिरिक्त कोई स्थान ही अच्युत नहीं। (श्लोक ७८९-७९०)

पूर्व विदेह के पुष्कलावती नामक विजय में लवण समुद्र के तट पर पुण्डरीकिनी नाम का एक नगर था। उस नगर के राजा का नाम था वज्रसेन। उनकी धारिणी नामक पत्नी के गर्भ से उनमें से पाँच पुत्र रूप में उत्पन्न हुए। इन पाँच पुत्रों में जीवानन्द का जीव चौदह महास्वप्न सूचित वज्रनाभ नामक प्रथम पुत्र उत्पन्न हुआ। राजपुत्र महीधर का जीव सुबाहु नाम का द्वितीय और मंत्री पुत्र सुबुद्धि का जीव तृतीय, श्रेष्ठीपुत्र पूर्णभद्र का जीव पीठ नामक चतुर्थ एवं सार्थवाह पुत्र पूर्णभद्र का जीव पंचम पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। केशव का जीव सुयश नामक अन्य राजपुत्र हुआ। सुयश बाल्यकाल से ही वज्रनाभ के सन्निकट रहने लगा क्योंकि पूर्व भव का स्नेह-सम्बन्ध इस भव में भी प्रेम उत्पन्न करता है।

(श्लोक७९१-७९६)

छह वर्षधर पर्वतों ने ही जैसे मनुष्य देह धारण कर रखी हो इस प्रकार वे पाँच राजपुत्र व सुयश क्रमशः बढ़ने लगे। वे महा-पराक्रमी राजपुत्र जब राजपथ पर अश्व धावित करते तो सूर्यपुत्र रेवन्त की भाँति लगते। कला शिक्षा देने वाले आचार्य तो साक्षी मात्र थे। कारण, महान् आत्माओं के गुण अपने से ही उत्पन्न होते हैं। वे स्व-हाथों से बड़े-बड़े पर्वत को भी शिलाखण्ड की भाँति पकड़ लेते। इसलिए उनकी बाल-क्रीड़ाओं को करने में अन्य कोई भी सक्षम नहीं था। (श्लोक ७९७-८००)

एक दिन लोकान्तिक देव आकर वज्रसेन को बोले—'हे प्रभु! [illegible] प्रवर्तन करिए इसी तीर्थ धारण करिए।' (श्लोक ८०१)

तब वज्रसेन ने वज्र की भाँति पराक्रमी पुत्र वज्रनाभ को सिंहासन पर बैठाकर एक वर्ष तक दान देकर लोगों को उसी प्रकार तृप्त किया जैसे मेघ वर्षा कर धरती को जलमय कर देता है। फिर देवता, असुर और मनुष्यों के अधिपति वज्रसेन की प्रव्रज्या ग्रहण उपलक्ष में एक शोभायात्रा निकाली। चन्द्रमा जैसे आकाश को सुशोभित करता है वज्रसेन ने भी उसी प्रकार नगर के बाहरी उद्यान को सुशोभित किया। वहाँ उन्होंने स्वयंबुद्ध दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करने के साथ-साथ उन्हें मनःपर्यव ज्ञान उत्पन्न हुआ। फिर आत्म-स्वभाव में रमण करते हुए समताधारी, ममताहीन निष्परिग्रही वे नाना प्रकार के अभिग्रह धारण कर पृथ्वी पर विचरण करने लगे। (श्लोक ८०२-८०६)

उधर वज्रनाभ ने अपने प्रत्येक भाई को पृथक्-पृथक् राज्य दिया। वे चारों भाई उसकी सेवा में सदा तत्पर रहते थे। इससे लोकपालों से जैसे इन्द्र शोभा पाते हैं वैसे ही वे भी शोभा पाने लगे। अरुण जैसे सूर्य का सारथी है उसी तरह सुयश उनका सारथी हो गया। महारथियों को अपना जैसा ही सारथी बनाना उचित है। (श्लोक ८०७-८०८)

वज्रसेन की घातीकर्म रूपी मलिनता दूर होने पर, दर्पण मलिनता हट जाने से जिस प्रकार उज्ज्वल हो जाता है उसी प्रकार उन्हें उज्ज्वल केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। (श्लोक ८०९)

उसी समय वज्रनाभ राजा की आयुधशाला में सूर्य मण्डल को भी तिरस्कृत करने वाला चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। साथ ही

अवशेष तेरह रत्न भी प्राप्त हुए। कहा ही गया है—कमलिनी जैसे जलानुरूप ऊँची होती है सम्पत्ति भी पुण्य के अनुसार ही मिलती है। सुगन्ध से आकृष्ट होकर जैसे भ्रमरगण आते हैं उसी प्रकार प्रबल पुण्य से आकृष्ट होकर [illegible] करने लगी। (श्लोक ८१०-८१२)

फिर उन्होंने समस्त पुष्कलावती विजय को जय कर लिया। इससे वहाँ के समस्त राज्यगणों ने उन्हें चक्रवर्ती पद पर अभिषिक्त किया। भोगोपभोग उपभोगकारी राजा की धर्म बुद्धि भी इस प्रकार अधिकाधिक बढ़ने लगी जैसे वह बढ़ती हुई आयु की प्रतिस्पर्धा करती हो। अधिक जल में जैसे लता वर्द्धित होती है उसी प्रकार संसार-वैराग्य की सम्पत्ति से उनकी धर्म बुद्धि भी बढ़ने लगी। (श्लोक ८१३-८१५)

एक बार साक्षात् मोक्षरूप आनन्द उत्पन्नकारी भगवान् वज्रसेन प्रव्रजन करते हुए वहाँ उपस्थित हुए। समवसरण में चैत्य वृक्ष के नीचे बैठकर उन्होंने कानों के लिए अमृत तुल्य धर्मदेशना देनी आरम्भ कर दी। उनके आगमन का संवाद पाकर सम्राट् वज्रनाभ राजहंस की भाँति बन्धु-बान्धवों सहित समवसरण में पहुँचे और सानन्द तीन प्रदक्षिणा देकर उनके चरणों की वन्दना कर इन्द्र के पीछे अनुज भ्राता की भाँति बैठ गए। फिर भव्य जीवों के मनरूपी सीप में बोधरूपी मुक्ता उत्पन्न करने वाली स्वाति नक्षत्र की वृष्टि के समान उनकी देशना श्रावकगण सुनने लगे। मृग जैसे गीत-ध्वनि सुनकर उत्सुक होता है वे भी उसी प्रकार उनकी सुमधुर वाणी सुनकर सोचने लगे—यह संसार अपार समुद्र की भाँति दुस्तर है। इसे उत्तीर्ण कर मेरे पिता त्रिलोकनाथ बन गए हैं। पुरुष को अन्धकार की भाँति जो अन्ध करता है उस मोह को सूर्य की भाँति जिन्होंने सभी प्रकार से भेदा है वे यही जिनेश्वर हैं। चिरकाल संचित ये कर्म समूह महाभयंकर असाध्य रोग की भाँति है। इसके चिकित्सक मेरे पिता ही हैं। अधिक और क्या कहने को है? करुणा रूप अमृत सागर तुल्य ये ही दुःख नाशकारी और अद्वितीय सुख उत्पन्न करने वाले हैं। इस प्रकार के जिनेश्वर देव के रहते हुए भी मैं मोह के द्वारा प्रमादी होकर लोक में जो भी प्रधान है उस स्व-आत्मा को धर्म से बहुत दिनों से वंचित रखा है।

(श्लोक ८१६-८२६)

इस प्रकार विचार करके उन चक्रवर्ती ने धर्म चक्रवर्ती केवली से भक्ति गद्‌गद कण्ठ से निवेदन किया—'हे प्रभु, दूध जैसे गोल को विनष्ट कर देता है उसी प्रकार अर्थ साधन प्रतिपन्नकारी नीतिशास्त्र ने मेरी बुद्धि को विनष्ट कर दिया है। विषय लोलुप होकर मैंने विभिन्न रूप धारण कर इस आत्मा को नट की भाँति दीर्घकाल तक नचाया है। मेरा यह साम्राज्य अर्थ और काम के लिए ही है। इसमें रहकर धर्म का जो अनुचिन्तन किया जाता है वह भी पापानुबन्धी ही होता है। मैं यदि आप जैसे पिता का पुत्र होकर भी संसार-समुद्र में पथ-भ्रष्ट होता हूँ तो मुझमें और सामान्य मनुष्य में अन्तर ही क्या है? इसलिए मैंने जिस प्रकार आप द्वारा प्रदत्त राज्य का पालन किया उसी प्रकार अब आप संयमरूपी राज्य मुझे दीजिए मैं उसका पालन करूँगा।' (श्लोक ८२७-८३२)

अपने वंश रूपी आकाश में सूर्य समान चक्रवर्ती वज्रजंघ ने अपने पुत्र को राज्य देकर भगवान् से दीक्षा ग्रहण कर ली। पिता एवं ज्येष्ठ भ्राता ने जो व्रत ग्रहण किया वही व्रत सुबाहु आदि भाइयों ने भी ग्रहण कर लिए। कारण, उनकी कुलरीति यही थी। सुयश सारथी ने भी अपने प्रभु के साथ ही दीक्षा ग्रहण कर ली। सेवक प्रभु का अनुकरणकारी ही होता है। (श्लोक ८३३-८३५)

वज्रनाभ मुनि ने अल्प दिनों के मध्य ही शास्त्र समुद्र अतिक्रमण कर लिया। इसलिए वे एक अङ्ग शरीर में प्रत्यक्ष द्वादशांगी तुल्य लगने लगे। सुबाहु आदि अन्य भाइयों ने ग्यारह अङ्ग अधिगत कर लिए। ठीक ही कहा गया है—क्षयोपशम से प्राप्त विचित्रता के लिए गुण सम्पत्ति भी विचित्र होती है। यद्यपि वे सन्तोषरूपी धन से धनी थे फिर भी वे तीर्थंकर भगवान् की चरण सेवा रूप दुष्कर तप करने पर भी असन्तुष्ट थे। एक मास से अधिक तपस्या होने पर भी वे निरन्तर तीर्थंकर की वाणी रूप अमृत का पान करने में कभी ग्लानि महसूस नहीं करते। भगवान् वज्रसेन ने उत्तम शुक्ल ध्यान में निर्वाण पद प्राप्त किया। देवताओं ने उनका निर्वाणोत्सव मनाया। (श्लोक ८३६-८४०)

वज्रनाभ मुनि धर्म भ्राता की भाँति अपने साथ दीक्षित मुनियों के साथ पृथ्वी पर विचरण करने लगे। अन्तरात्मा से जैसे पाँच इन्द्रियाँ सनाथ होती हैं उसी प्रकार, वज्रनाभ स्वामी के द्वारा

बाहु आदि चार भाई और सारथी पाँचों मुनि सनाथ हो गए। चन्द्र की चन्द्रिका से जैसे पर्वत पर ओषधि प्रकट होती है वैसे ही योग के प्रभाव से उनमें निम्न योग शक्तियाँ प्रकट हुईं।

(श्लोक ८४१-८४३)

१ श्लेष्मौषधि लब्धि—ऐसी लब्धि सम्पन्न मुनि का सामान्य थूक यदि कुष्ठरोगाक्रान्त व्यक्ति के शरीर में लेपन कर दे तो कोटि-रस से (सुवर्ण तैयार करने का रस) जैसे ताम्र सुवर्ण वर्ण हो जाता है वैसे ही उनका शरीर स्वर्ण कान्तिमय हो जाता है।

२ जल्लौषधि लब्धि—इस लब्धि से सम्पन्न मुनि के कान का मैल, आँख की गीद और देह का मैल समस्त रोगों का नाश करने वाला और कस्तूरी की भाँति सुगन्धयुक्त होता है।

३ आमर्शौषधि लब्धि—अमृत स्नान से जैसे रोगी का रोग दूर हो जाता है उसी प्रकार ऐसे लब्धि सम्पन्न मुनि के शरीर स्पर्श से समस्त रोग दूर हो जाते हैं। (श्लोक ८४४-८४६)

४ सर्वौषधि लब्धि—वृष्टि या नदी का जल ऐसे लब्धि सम्पन्न मुनि का शरीर स्पर्श करने से सूर्य का तेज जैसे अन्धकार को नष्ट करता है उसी प्रकार समस्त रोगों को नष्ट करता है। गन्ध हस्ती की मद गन्ध से जैसे अन्य हस्तीगण भाग जाते हैं उसी प्रकार उनका शरीर स्पर्शकारी पवन विष आदि का समस्त दोष दूर कर देता है। यदि विष मिश्रित अन्नादि पदार्थ उनके मुख या पात्र में आ जाए तो वह भी अमृत की भाँति निर्विष हो जाता है। विष उतारने के मंत्राक्षरों की भाँति उनकी वाणी के स्मरण से महाविष से दुःखग्रस्त मनुष्य का दुःख दूर हो जाता है और स्वाति नक्षत्र में जल शुक्ति में पड़ने पर जिस प्रकार का मोती बनता है उनके नख, केश, दाँत और उनके शरीर में उत्पन्न समस्त वस्तु औषधि सम हो जाती है। (श्लोक ८४७-८५०)

५ अणुत्व शक्ति—सूत की भाँति सूई के छिद्र में से शरीर को वे बाहर कर सकते हैं।

६ महत्त्व शक्ति—इससे अपनी देह इतनी बड़ी की जा सकती है कि मेरु पर्वत उसके घुटनों तक आ सकता है।

७ लघुत्व शक्ति—इससे देह को वायु से भी हल्का किया जा सकता है।

८ गुरुत्व शक्ति—इन्द्रादि देव भी जो सहन नहीं कर सकते ऐसी वज्र से भी भारी देह बना लेने की शक्ति।

९ प्राप्ति शक्ति—पृथ्वी पर से ही वृक्ष पत्र की भाँति मेरु के अग्र-भाग एवं गृहादि को स्पर्श करने की शक्ति।

१० प्राकाम्य शक्ति—जल पर धरती की भाँति चलने एवं धरती में जल की भाँति निमज्जित हो जाने की शक्ति।

११ ईशत्व शक्ति—चक्रवर्ती और इन्द्र की भाँति वैभव विस्तार करने की शक्ति।

१२ वशित्व शक्ति—स्वतन्त्र एवं क्रूरतम प्राणी को भी वश में कर लेने की शक्ति।

१३ अप्रतिघाती शक्ति—पर्वत के मध्य से छिद्र में से निकलने की तरह निकलने की शक्ति।

१४ अप्रतिहत अन्तर्धान शक्ति—वायु की भाँति सर्वत्र अदृश्य रूप धारण करने की शक्ति।

१५ कामरूपत्व शक्ति—एक ही समय में अनन्त रूप बनाकर समस्त लोक को भर देने की शक्ति। (श्लोक ८५२-८६२)

१६ बीज बुद्धि - एक बीज से जैसे अनेक बीज उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार एक अर्थ से बहुविध अर्थ करने की शक्ति।

१७ कोष्ठ बुद्धि—कोष्ठ में रखा हुआ धान जैसे यथावत रहता है उसी प्रकार स्मरण करे बिना ही पूर्व श्रुत विषय को स्मृति में धारण करने की शक्ति।

१८ पदानुसारिणी लब्धि—आदि, अन्त व मध्य का कोई भी पद सुनकर समस्त ग्रन्थ अवधारण करने की शक्ति।

१९ मनोबल लब्धि—किसी एक विषय से अवगत होते ही समस्त आगम साहित्य अवगाहन करने की शक्ति।

२० वाग्बल लब्धि—मुहूर्त्त मात्र में मूलाक्षर की भाँति समस्त आगम साहित्य को आवृत्ति कर लेने की शक्ति।

२१ कायबल लब्धि—इससे बहुत समय तक कायोत्सर्ग कर प्रतिमा धारण करने पर भी क्लान्ति का लवलेश मात्र नहीं आता।

२२ अमृतक्षीरमध्वाज्याश्रवि लब्धि—इससे पात्र में परिवेशित कदन्न कुत्सित में भी अमृत, क्षीर, मधु, घी का आस्वाद उत्पन्न करने की शक्ति। ऐसे लब्धि सम्पन्न की वाणी दुःख पीड़ित मनुष्य के लिए अमृत, क्षीर, मधु, घी की भाँति शान्तिदायक होती है।

२३ अक्षीण महानसी लब्धि—पात्र स्थित अन्नादि का कितना ही दान क्यों न दिया जाए वह पूर्ववत् ही रहेगा शेष नहीं होगा।

२४ अक्षीण महालय लब्धि—इस शक्ति बल से तीर्थंकर सभा की भाँति अल्प स्थान में असंख्य प्राणियों को बैठाने की शक्ति।

२५ संभिन्न श्रोत लब्धि—इसके द्वारा एक इन्द्रिय का ज्ञान दूसरी इन्द्रिय द्वारा किया जाना संभव।

२६ जंघाचारण लब्धि—इस लब्धि से सम्पन्न व्यक्ति एक ही पदक्षेप में जम्बूद्वीप से रुचक द्वीप जा सकता है और लौटने के समय एक पदक्षेप में नन्दीश्वर द्वीप और द्वितीय पदक्षेप में जहाँ से उसने यात्रा की थी उसी जम्बूद्वीप में लौटकर आ सकता है। यदि ऊपर की ओर जाना हो तो एक पदक्षेप में मेरुपर्वत स्थित पाण्डुक-वन में जा सकता है। लौटते समय एक पदक्षेप में नन्दनवन और द्वितीय पदक्षेप में जहाँ से यात्रा प्रारम्भ की थी वहीं लौटकर आ सकता है।

२७ विद्याचरण लब्धि—इस लब्धि से सम्पन्न व्यक्ति एक पदक्षेप में मानुषोत्तर पर्वत और द्वितीय पदक्षेप में नन्दीश्वर द्वीप और तृतीय पदक्षेप में जहाँ से यात्रा प्रारम्भ की थी वहाँ लौटकर आ सकता था। यदि ऊपर की ओर जाना हो तो मध्यलोक के अनुरूप गतायात कर सकता है। (श्लोक ८६३-८७९)

ये समस्त लब्धियाँ वज्रजंघादि मुनियों को प्राप्त थीं। इसके अतिरिक्त आसीविष लब्धि, क्षतिकारक, लाभदायक और भी कई लब्धियाँ उन्होंने प्राप्त की थीं; किन्तु इन सब लब्धियों का व्यवहार उन्होंने कभी नहीं किया। सत्य तो यही है कि जो मुमुक्षु है वह प्राप्त वस्तु की इच्छा नहीं रखता, उनका व्यवहार नहीं करता।

(श्लोक ८८०-८८१)

वज्रनाभ स्वामी ने बीस स्थानक की आराधना कर दृढ़ तीर्थंकर गोत्र कर्म उपार्जन किया। बीस स्थानक का विवरण निम्न प्रकार है—

१ अरिहंत पद—अरिहंत और अरिहंत मूर्त्ति की पूजा करने पर, अरिहंत देवों की अर्थयुक्त स्तुति करने पर और जहाँ उसकी निन्दा हो उसका निराकरण करने पर अरिहंत पद की आराधना होती है।

२ सिद्ध पद—सिद्धि प्राप्त सिद्ध भगवन्तों की भक्ति में रात्रि-जागरणादि उत्सव करने पर, यथार्थ रीति से सिद्धता का कीर्तन, भजन करने पर सिद्धपद की आराधना होती है।

३ प्रवचन पद—बालक, अस्वस्थ, नवदीक्षित शिष्यादि यतियों पर अनुग्रह करने पर, प्रवचन अर्थात् चतुर्विध संघ व जैन शासन पर वात्सल्य स्नेह रखने पर प्रवचन पद की आराधना होती है।

४ आचार्य पद—समादर के साथ आहार, औषध, वस्त्रादि द्वारा गुरु के प्रति वात्सल्य या भक्ति दिखाने पर इस पद की आराधना होती है।

५ स्थविर पद—२० वर्ष पर्यन्त दीक्षा पर्याय सम्पन्न को पर्याय स्थविर, साठ वर्ष की वयःसम्पन्न को वयःस्थविर और समवायांग सूत्र ज्ञाता को सूत्र स्थविर कहा जाता है। इनकी भक्ति करने से इस पद की आराधना होती है।

६ उपाध्याय पद—अपने से अधिक ज्ञान सम्पन्न व्यक्ति को अन्न, वस्त्रादि देकर उनके प्रति वात्सल्य भाव प्रदर्शित करने पर इस पद की आराधना होती है।

७ साधु पद—उत्कृष्ट तपस्याकारी साधुओं की भक्ति करने पर, उन्हें सुख-सुविधा देकर उनके प्रति वात्सल्य दिखाने पर इस पद की आराधना होती है।

८ ज्ञान पद—प्रश्न और वाचनादि द्वारा द्वादशाङ्ग श्रुतों का अध्यापन करने पर इस पद की आराधना होती है।

९ दर्शन पद—शंका आदि दोष रहित स्थिरता आदि गुण भूषित और शमादि लक्षणयुक्त सम्यक् दर्शन प्राप्त होने पर इस पद की आराधना की जाती है।

१० विनय पद—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचार—इस प्रकार के चार कर्मों के अनुष्ठाता विनय सम्पन्न होने से इस पद की आराधना होती है।

११ चारित्र पद—इच्छा, मिथ्या, करणादि दस प्रकार के समाचारी योग और आवश्यक योग कर्म में अतिचार रहित होकर यत्न करने पर चारित्र पद की आराधना होती है।

१२ ब्रह्मचर्य पद—अहिंसादि मूल गुण और समिति आदि उत्तर गुण में अतिचार रहित होकर प्रवृत्त होने से इस पद की आराधना होती है।

१३ समाधि पद—प्रति मुहूर्त्त प्रति क्षण प्रमाद परिहार कर शुभ ध्यान में लीन होने पर इस पद की आराधना की जाती है।

१४ तप पद—मन और शरीर को जिससे कष्ट न पहुँचे इस प्रकार यथाशक्ति तपस्या करने पर इस पद की आराधना होती है।

१५ दान पद—मन, वचन और काय शुद्धिपूर्वक तपस्वियों को यथोचित दान देने पर इस पद की आराधना होती है।

१६ वैयावृत्य पद—आचार्यादि दस प्रकार के मुनियों को अन्न, जल, आसनादि भक्ति करने पर इस पद की आराधना की जाती है।

१७ संयम पद—चतुर्विध संघ के समस्त विघ्न दूर कर सन्तोष उत्पन्न करने पर इस पद की आराधना की जाती है।

१८ अभिनव ज्ञान पद—प्रतिदिन नवीन-नवीन सूत्र और अर्थ प्रयत्न पूर्वक ग्रहण करने पर इस पद की आराधना की जाती है।

१९ श्रुत पद—श्रद्धा से श्रुत ज्ञान का स्पष्टीकरण, प्रकाशन और निन्दावाद का निराकरण करने पर इस पद की आराधना होती है।

२० तीर्थ पद—विद्या, निमित्त, कविता, वाद और धर्म-कथाओं द्वारा शास्त्र का प्रचार करने पर इस पद की आराधना होती है। (श्लोक ८०२-९०२)

इन बीस पदों में एक-एक पद की आराधना भी तीर्थंकर नाम कर्म बन्धन का कारण बनती है; किन्तु वज्रनाभ मुनि ने तो इन बीसों ही पद की आराधना कर तीर्थंकर नाम कर्म बाँधा। (श्लोक ९०३)

बाहुमुनि ने साधुओं की सेवा कर चक्रवर्त्ती के भोगोपभोग प्राप्त होने का कर्म बन्धन किया।

तपस्वी मुनियों की विश्रामणा अर्थात् सेवा-शुश्रूषा कर सुबाहु ने अमित बाहुबल लाभ करने का कर्म बन्धन किया।

वज्रनाभ मुनि तब बोले—बाहु और सुबाहु ही धन्य हैं जो साधुओं की सेवा और वैयावच्च करते हैं।

इस प्रशंसा को सुनकर पीठ और महापीठ मुनिद्वय ने सोचा—जो लोगों का उपकार करते हैं लोग उनकी प्रशंसा करते हैं। हम दोनों तो आगम के अध्ययन व ध्यान में निमग्न रहे इसलिए किसी का कोई उपकार नहीं कर सके। अतः हमारी प्रशंसा कौन करे?

मनुष्य उसी को सम्मान देता है जो उनका उपकार करता है।

(श्लोक ९०४-९०७)

इस प्रकार माया मिथ्यात्व के लिए ईर्ष्या कर एवं इस मन्द कर्म की आलोचना न कर उन्होंने स्त्री नाम कर्म का बन्धन किया।

इन छह महर्षियों ने चतुर्दश लक्ष पूर्व तक अतिचारहीन असिधारा-सा संयम पालन किया। फिर उन छहों धीर मुनियों ने दो प्रकार की संलेखनापूर्वक पादोपगमन अनशन अङ्गीकार कर देह परित्याग किया।

अष्टम भव

वे छहों ही स्वार्थसिद्धि नामक पंचम अनुत्तर विमान में तैंतीस सागरोपम की आयु वाले देव बने। (श्लोक ९०८-९११)

(प्रथम सर्ग समाप्त)

द्वितीय सर्ग

इसी जम्बूद्वीप के पश्चिम महाविदेह में शत्रु के द्वारा जो कभी विजित नहीं हुआ ऐसा अपराजित नामक एक नगर था। उस नगर में ईशानचन्द्र नामक एक राजा राज्य करता था। उसने अपने बाहुबल से जगत् को पराजित कर दिया था। अपने विशाल ऐश्वर्य के कारण वे ईशानेन्द्र से प्रतीत होते थे। (श्लोक १-२)

उस नगर में चन्दनदास नामक एक श्रेष्ठी रहते थे। वे बहुत धनाढ्य थे। वे धर्मात्माओं में अग्रणी और पृथ्वी को सुखी बनाने में चन्दन की भाँति थे।

उनके सागरचन्द्र नामक एक पुत्र था। उन्हें देखकर सभी प्रसन्न हो उठते। समुद्र जिस प्रकार चन्द्रमा को आनन्दित करता है वैसे ही वह अपने पिता को आनन्दित करता था। स्वभाव से वह सरल, धार्मिक और विवेकी था इसलिए वह समस्त नगरी में तिलक स्वरूप था। (श्लोक ३-५)

एक दिन सागरचन्द्र राजसभा में गया। वहाँ राजा सिंहासन पर बैठे हुए थे। उनकी सेवा में उपस्थित सामन्त भी यथास्थान बैठे थे। राजा ने सागरचन्द्र को भी उसके पिता की ही भाँति आसन, ताम्बूल आदि देकर सत्कार और स्नेह प्रदर्शित कर सम्मानित किया। (श्लोक ६-७)

उसी समय एक चारण राजसभा में आया और शङ्ख-विनिन्दित कण्ठ में बोला—'महाराज, आज आपके उद्यान की उद्यानपालिका की भाँति पुष्प संभार से सुशोभित कर वसन्त-लक्ष्मी का अविर्भाव हुआ है। इसलिए प्रस्फुटित पुष्प सुगन्ध से दिग्-आमोदितकारी उस उद्यान को, इन्द्र जिस प्रकार नन्दनवन को सुशोभित करता है उसी प्रकार, आप भी सुशोभित कीजिए।' (श्लोक ८-१०)

चारण की बात सुनकर राजा ने द्वारपाल को आदेश दिया कि नगर में घोषणा करवादो। कल प्रातः सभी राजोद्यान में आएँ। फिर उन्होंने सागरचन्द्र से कहा—'तुम भी कल सुबह उद्यान में आना।' स्नेह इसी प्रकार अभिव्यक्त होता है। (श्लोक ११-१२)

राजा से विदा लेकर सागरचन्द्र आनन्दित मन से घर लौटा और उसने अपने मित्र अशोकदत्त को राजा का आदेश सुनाया।

(श्लोक १३)

दूसरे दिन प्रातः राजा सपरिवार उद्यान में गए। नगरजन भी वहाँ उपस्थित हुए। प्रजा तो राजा का ही अनुकरण करती है। जैसे मलय पवन सहित वसन्त ऋतु का आगमन होता है वैसे ही सागरचन्द्र निज मित्र अशोकदत्त के साथ उद्यान में पहुंचा। वहाँ सभी कामदेव के अधीन होकर पुष्प आहरण कर नृत्य गीतादि क्रीड़ा करने लगे। स्थान-स्थान पर क्रीड़ारत जनता कामदेव के अनुचरों की भाँति हो लग रही थी। पद-पद पर गीत और वाद्य-ध्वनि इस प्रकार उत्थित हो रही थी मानो वह अन्य इन्द्रियों के विषयों पर विजय प्राप्त करने के लिए ही उत्थित हो रही हो।

(श्लोक १४-१८)

उसी समय समीप के ही किसी वृक्ष के अन्तराल से स्त्री-कण्ठ से निःसृत ध्वनि 'रक्षा करो, रक्षा करो' सुनाई पड़ी। सुनते ही सागरचन्द्र उस ओर दौड़ा। वहाँ जाकर देखा—बाघ जिस प्रकार हरिणी का गला पकड़ लेता है उसी प्रकार दुष्ट लोगों ने पूर्णभद्र श्रेष्ठी की कन्या प्रियदर्शना को पकड़ रखा है। सागरचन्द्र ने उनमें से एक के हाथ से छुरा उसी प्रकार छीन लिया जिस प्रकार साँप का गला पकड़ कर मणि बाहर कर ली जाती है। उसकी इस साहसिकता को देखकर सभी दुष्ट भाग छूटे। जलती हुई आग को देखकर तो बाघ भी भाग जाता है। (श्लोक १९-२३)

सागरचन्द्र ने प्रियदर्शना को इस प्रकार मुक्त कर दिया जैसे आम्रलता को लकड़हारों से मुक्त किया जाता है। उस समय प्रियदर्शना सोचने लगी—परोपकार ही जिनका व्यसन है उनमें अग्रणी ये कौन हैं? यह अच्छा ही हुआ कि मेरे भाग्य से आकृष्ट होकर ये सत्पुरुष यहाँ आए। कामदेव-से रूपवान् ये ही मेरे पति बनें। ऐसा सोचती हुई वह घर लौट गई। सागरचन्द्र भी जिस प्रकार मूर्त्ति स्थापित की जाती है उसी प्रकार प्रियदर्शना की मूर्ति अपने हृदय-मन्दिर में स्थापित कर मित्र अशोकदत्त के साथ अपने घर की ओर चला। (श्लोक २४-२७)

क्रमशः चन्दनदास ने यह बात सुनी। भला ऐसी बात छिप कर रह ही कैसे सकती थी? चन्दनदास ने मन ही मन सोचा—सागरचन्द्र को प्रियदर्शना से जो प्रेम हो गया है वह उचित ही है कारण, कमलिनी की मित्रता राजहंस से ही होती है; किन्तु उसने जो वीरत्व दिखाया वह अनुचित है क्योंकि पराक्रमी होने पर भी श्रेष्ठी को अपना वीरत्व प्रदर्शन नहीं करना चाहिए। फिर सागरचन्द्र सरल स्वभाव का है। उसकी मित्रता कपटी अशोकदत्त के साथ हो गई है यह भी उचित नहीं हुआ। बदरी वृक्ष के साथ कदली वृक्ष जिस प्रकार अहितकर होता है यह भी वैसा ही है। इस प्रकार बहुत सोच-विचार के पश्चात् उसने सागरचन्द्र को बुलवाया और महावत जिस प्रकार हाथी को शिक्षा देता है उसी प्रकार मीठे शब्दों में उपदेश देने लगे—

'पुत्र, समस्त शास्त्रों का अभ्यास कर तुम यह तो पूर्णतः जान ही गए हो कि व्यवहार कैसे किया जाता है? फिर भी मैं तुम्हें कुछ कहूँगा। हम वणिक् हैं। हम लोगों को कला-कौशल से व्यवसाय चलाना पड़ता है। इसीलिए हम लोगों को सौम्य-स्वभाव युक्त और मनोहर वेश में रहना पड़ता है। इस प्रकार रहने से हम निन्दा के भाजन नहीं बनते। अतः तरुणावस्था में भी तुम्हें गुप्त पराक्रमी होना होगा। वणिकों को सामान्य अर्थ के लिए भी शंका-शील वृत्ति का कहा जाता है। स्त्रियों की देह का जिस प्रकार आच्छादित होना ही अच्छा है उसी प्रकार हमारी सम्पत्ति, विषय, क्रीड़ा और दान का गुप्त रहना ही उचित है। ऊँट के पैरों में बँधा कंकण जिस प्रकार शोभा नहीं देता उसी प्रकार हमारी जाति का अयोग्य (पराक्रम-)प्रदर्शन भी हमें शोभा नहीं देता।

इसलिए हे पुत्र ! कुल परम्परागत योग्य व्यवहारी होकर तुम धन की भाँति गुण को भी गुप्त रखो एवं जो स्वभाव से कुटिल हैं ऐसे दुर्जनों की संगति का परित्याग करो। क्योंकि दुर्जनों की संगति उन्मुक्त श्वान के विष की भाँति समय आने पर अनिष्टकारी ही होती है। हे वत्स ! अधिक परिचय से तुम्हारा मित्र तुम्हें उसी प्रकार नष्ट करेगा जैसे कुष्ठ रोग वर्द्धित होकर समस्त शरीर को नष्ट कर देता है। कपटी अशोकदत्त वेश्या की भाँति मन में कुछ सोचता है, मुँह से कुछ बोलता है और करता कुछ और है।'

(श्लोक २८-४१)

श्रेष्ठी इस प्रकार आगरक्षित उपदेश देकर चुप हो गए तो सागरचन्द्र मन ही मन सोचने लगा—'प्रियदर्शना सम्बन्धी व्यापार इन्हें मालूम हो गया है तभी इस प्रकार उपदेश दे रहे हैं। यह भी समझा कि मेरे मित्र अशोकदत्त का साहचर्य इन्हें पसन्द नहीं है। ऐसा उपदेश देने वाले गुरुजन भाग्यहीनों को नहीं मिलते। जो भी हो मुझे इनकी आज्ञानुसार ही चलना चाहिए।' कुछ क्षण चिन्तन करने के पश्चात् सागरचन्द्र विनीत और नम्र स्वर में बोला—'पिताजी, आपने जैसा आदेश दिया मैं वैसे ही करूंगा कारण, मैं आपका पुत्र हूं। जिस कार्य को करने से गुरुजनों की आज्ञा का उल्लंघन हो वह करना उचित नहीं है; किन्तु कभी-कभी दैववश अकस्मात् ऐसा समय आ जाता है कि उसके लिए विचार-विमर्श का जरा भी समय नहीं रहता। जिस प्रकार भूखे व्यक्ति का स्नान को पवित्र करते-करते ही आराधनाकाल व्यतीत हो जाता है इसी प्रकार ऐसा कुछ कार्य उपस्थित हो जाता है कि विचार कर करने जाने पर वह कार्य विनष्ट हो जाता है। फिर भी पिताजी, आज से जीवन संकटापन्न होने पर भी ऐसा कोई कार्य नहीं करूंगा जिससे आपको लज्जित होना पड़े और अशोकदत्त के विषय में आपने जो कुछ कहा मैं उसके दोष से दूषित भी नहीं हूं और गुणों से गुणान्वित भी नहीं। एक साथ रहना, एक साथ खेलना, बार-बार मिलना, समान जाति, समान विद्या, समान शील, समान वयस, परोक्ष उपकार और सुख-दुःख में भाग लेने आदि से मेरी उससे मित्रता हो गई है। मैंने तो उसमें कोई कपट नहीं देखा। उसके सम्बन्ध में किसी ने आपको मिथ्या बतलाया है क्योंकि

दुष्ट व्यक्ति अन्य के लिए दुःखदायी ही होते हैं। यदि वह कपटी भी है तो मेरी क्या क्षति करता है? क्योंकि एक साथ रहने पर भी काँच, काँच ही रहेगा मणि, मणि ही रहेगी।' (श्लोक ४२-५४)

सागरचन्द्र के चुप होने पर श्रेष्ठी बोले—'पुत्र, यद्यपि तुम बुद्धिमान् हो फिर भी मुझे कहना होगा दूसरों के मनोभावों को जानना अत्यन्त कठिन है।' (श्लोक ५५)

पुत्र के मनोभावों के ज्ञाता चन्दनदास ने पूर्णभद्र श्रेष्ठी से अपने पुत्र के लिए शील-सम्पन्न प्रियदर्शना की याचना की। पूर्णभद्र श्रेष्ठी ने भी यह कहकर उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली कि आपके पुत्र ने तो उपकार द्वारा मेरा कन्या को खरीद ही लिया है।

(श्लोक ५६-५७)

शुभ दिन, शुभ मुहूर्त्त में माता-पिता ने सागरचन्द्र का प्रियदर्शना के साथ विवाह कर दिया। इच्छित दुन्दुभि बजाने से जिस प्रकार आनन्द होता है उसी प्रकार ईप्सित विवाह होने से वर-वधू दोनों ही आनन्दित हो गए। समान अन्तःकरण होने से एकात्मा की भाँति उनका प्रेम सारस पक्षी की भाँति बढ़ने लगा। चन्द्र द्वारा जैसे चन्द्रिका शोभित होती है उसी प्रकार सौम्याकृति हास्यमयी प्रियदर्शना सागरचन्द्र के द्वारा शोभित होने लगी। दीर्घकाल के पश्चात् दैवयोग से शीलवान्, रूपवान् और सरल स्वभावी दम्पती का योग मिला था। एक अन्य का विश्वास करता था अतः उनमें अविश्वास उत्पन्न ही नहीं हुआ। कारण, सरल विश्वासियों के मन में विपरीत शंका का उदय ही नहीं होता। (श्लोक ५८-६३)

एक बार सागरचन्द्र जब बाहर गया हुआ था अशोकदत्त उसके घर आया और प्रियदर्शना को बोला—'सागरचन्द्र धनश्रेष्ठी की पत्नी के साथ एकान्त में मिलता है इसका क्या कारण है?'

(श्लोक ६४-६५)

स्वभावसरला प्रियदर्शना बोली—'इसका कारण या तो आपके मित्र जानें या उनके अभिन्न हृदयी मित्र आप जानें। श्रेष्ठ व्यवसायियों के एकान्त कृत कार्य को अन्य कोई नहीं जान सकता। फिर भी वे घर में इसकी चर्चा क्यों करेंगे?' (श्लोक ६६-६७)

अशोकदत्त बोला—'तुम्हारा पति एकान्त में उससे क्यों मिलता है यह मैं जानता हूँ; किन्तु वह तुमको नहीं बता सकता।'

प्रियदर्शना बोली 'क्यों नहीं बता सकते ? बोलिए क्या अभिप्राय है ?

अशोकदत्त बोला—'हे शुभ्रे ! जिस अभिप्राय से मैं तुम्हारे पास आता हूँ वही अभिप्राय ।' (श्लोक ६८-६९)

अशोकदत्त के इस प्रकार कहने पर भी सरलस्वभावी प्रियदर्शना इसका अर्थ नहीं समझ सकी । बोली—'मेरे पास आप किस अभिप्राय से आते हैं ?' (श्लोक ७०)

वह बोला—'हे शुभ्रे ! तुम्हारे पति के अतिरिक्त क्या अन्य किसी रसज्ञ पुरुष से तुम्हें प्रयोजन नहीं हो सकता ?' (श्लोक ७१)

अशोकदत्त का यह वासनापूर्ण वाक्य प्रियदर्शना के कानों में सूई की तरह चुभ गया । वह असन्तुष्ट होकर माथा नीचे किए बोली—'नराधम, निर्लज्ज, तुमने यह सोचा कैसे ? यदि सोचा भी तो उसे प्रकाशित कैसे किया ? मूर्ख ! तुम्हें धिक्कार है ! तुम्हारा यह दुस्साहस ! दुष्ट, तुम मेरे महामना पति को तुम्हारे जैसे होने की सम्भावना है यह मुझे बता रहे हो ? तुम मित्र होकर शत्रु-सा काम कर रहे हो । पापी कहीं के, तुम इसी समय इस स्थान का परित्याग करो । खड़े मत रहो, तुम्हें देखने से ही पाप लगता है ।'
(श्लोक ७२-७५)

इस प्रकार अपमानित होकर अशोकदत्त चोर की भाँति वहाँ से चला गया । गो-हत्या करने की भाँति पाप रूपी अन्धकार से मलीन मुख लिए अशोकदत्त क्रोध से बड़-बड़ करता जा रहा था । उसी समय सामने से सागरचन्द्र आ रहा था । उसे देखकर सहज स्वभाव से सागरचन्द्र बोला—'मित्र, आज ऐसे दुःखी कैसे दिखलाई पड़ रहे हो ?' (श्लोक ७५-७७)

पर्वत तुल्य कपटी अशोकदत्त दीर्घ निःश्वास फेंकता हुआ मानो महान् दुःख से पीड़ित हो इस प्रकार होठ दबाते हुए बोला—'हिमालय के निकट जो रहता है शीत के दुःख का का कारण जिस प्रकार उससे छिपा नहीं रहता उसी प्रकार संसार में जो रहता है उससे भी दुःख का कारण छिपा नहीं रहता । फिर भी गुप्त स्थान में हुए फोड़े की भाँति ही यह मेरा दुःख है जिसे न छिपा सकता हूँ न प्रकट कर सकता हूँ । (श्लोक ७८-८०)

ऐसा कहकर आंख में पानी भरकर नाना कपट करता हुआ वह चुप हो गया। तब निश्चल सागरचन्द्र सोचने लगा—'ओह! सचमुच ही संसार असार है। तभी तो ऐसे व्यक्ति को भी हठात् दुःख के सम्मुखीन होना पड़ा। धुआं जिस प्रकार अग्नि की सूचना देता है उसी प्रकार धैर्य द्वारा भी जो नहीं सहा जा सकता उस आन्तरिक दुःख को अश्रु ही प्रकट कर देता है।' (श्लोक ८१-८३)

कुछ क्षण इस प्रकार चिन्ता करता हुआ उसके दुःख से दुःखी सागरचन्द्र फिर बाष्परुद्ध कण्ठ से बोला—'मित्र, यदि बोलने लायक हो तो तुम इसी समय मुझे तुम्हारे दुःख का कारण बताओ और दुःख का कुछ अंश मुझे देकर स्वयं के दुःख को हल्का करो।'
(श्लोक ८४-८५)

अशोकदत्त बोला—'मित्र! तुम मुझे प्राणों जैसे लगते हो। तुमसे जब मैं अन्य कुछ नहीं छिपा सकता तो यह बात भी कैसे छिपा सकता हूं? तुम तो जानते ही हो संसार में स्त्रियां, अमावस्या जैसे घने अन्धकार की सृष्टि करती है उसी प्रकार, अनर्थ ही उत्पादन करती हैं।' (श्लोक ८६-८७)

सागरचन्द्र ने जिज्ञासा प्रकट की, 'किन्तु भाई! अभी तुम काल-नागिन-सी किस स्त्री के पल्ले पड़ गए हो?' (श्लोक ८८)

तब अशोकदत्त कृत्रिम सलज्जता दिखलाते हुए बोला—'भाई, प्रियदर्शना मुझे बहुत दिनों से अनुचित बात कह रही थी। मैं यही बात सोचकर उपेक्षा कर रहा था कि वह स्वयं ही लज्जित होकर चुप हो जाएगी; किन्तु कुलटा की भांति उसका भाषण बन्द नहीं हुआ। कहा भी गया है कि स्त्रियों का असत् आग्रह बहुत तीव्र होता है। बन्धु, आज मैं तुमसे मिलने तुम्हारे घर गया था तभी उस छलनामयी नारी ने मुझे राक्षसी की भांति जकड़ लिया; किन्तु हस्ती जिस प्रकार बन्धन से मुक्त हो जाता है उसी प्रकार बहुत चेष्टा के पश्चात् उसके बन्धन से मुक्त होकर मैं वहां से निकल भागा हूं। मैं आते-आते सोच रहा था यह कुलटा जीवनपर्यन्त मेरा परित्याग नहीं करेगी अतः मुझे आत्महत्या कर लेनी चाहिए; किन्तु आत्महत्या करना पाप है। कारण, यह कुलटा उस समय जो कुछ बोलेगी, मेरे विपरीत ही बोलेगी। इसलिए मैं सारा वृत्तान्त मेरे मित्र को क्यों न कह दूं जिससे वह उस पर विश्वास कर स्वयं को

नष्ट न करे। अथवा वह भी ठीक नहीं है। कारण, मैंने जब उसकी इच्छा पूर्ण नहीं की है तब क्यों उसके दुःशील की बात कहकर तुम्हारे घाव पर नमक छिड़क करूँ। यही सब सोचता हुआ जा रहा था तभी तुम मिल गए। भाई, मेरे दुःख का कारण यही है।'

(श्लोक ८९-९८)

उसकी बात सागरचन्द्र को ऐसी लगी जैसे उसने तीव्र हलाहल पी लिया है। वह उसी प्रकार निष्पन्द हो गया जैसे निवात समुद्र स्थिर हो जाता है। वह बोला—'स्त्रियां ऐसी ही होती हैं। कारण, तिक्त धरती के तल का जल तिक्त ही होता है। मित्र, तुम दुःख मत करो, अच्छे कार्य में स्वयं को लगाओ। उसकी बात को मन में मत लाओ। वह चाहे कैसी भी हो; किन्तु उसके लिए हमारी मित्रता में किसी प्रकार की मलिनता नहीं आनी चाहिए।'

(श्लोक ९९-१०२)

सरल स्वभाव सागरचन्द्र की बात से अधम अशोकदत्त बड़ा आनन्दित हुआ। क्योंकि जो कपटी हैं वे अपराध करके भी अपनी प्रशंसा करवाते हैं। (श्लोक १०३)

उस दिन से सागरचन्द्र प्रियदर्शना के प्रति स्नेहरहित होकर इस प्रकार रहने लगा जैसे अंगुलि के रोगाक्रान्त होने पर भी मनुष्य उसे काटकर नहीं फेंकता। कारण, निज हाथों से रोपी हुई लता वन्ध्या हो तब भी उसे उखाड़ कर नहीं फेंका जाता।

(श्लोक १०४-१०५)

प्रियदर्शना ने अशोकदत्त की बात पति को इसलिए नहीं कही कि कहीं उनमें मित्रता का विच्छेद न हो जाए। (श्लोक १०६)

सागरचन्द्र संसार को कारागृह तुल्य समझकर अपना समस्त धन ऐश्वर्य अनाथ दरिद्रों को वितरण कर उन्हें कृतार्थ करने लगा। इस प्रकार जीवनयापन कर प्रियदर्शना, सागरचन्द्र और अशोकदत्त ने आयुष्य पूर्ण होने पर परलोक गमन किया। (श्लोक १०७-१०८)

सागरचन्द्र और प्रियदर्शना इसी जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र के दक्षिण भाग में गंगा और सिन्धु के मध्यवर्ती भू-भाग में इसी अवसर्पिणी के तृतीय आरे में जबकि पल्योपम का एक अष्टमांश बाकी था तब युगल रूप में उत्पन्न हुए। (श्लोक १०९-११०)

पांच भरत और पांच ऐरावत क्षेत्र में समय का निर्णायक बारह आरे का एक काल-चक्र होता है। इस कालचक्र के उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दो भेद हैं। अवसर्पिणी काल छह भाग या आरों में विभक्त है। यथा—

१ सुषमा-सुषमा—यह आरा चार कोटा कोटि सागरोपम का।
२ सुषमा—यह आरा तीन कोटा कोटि सागरोपम का।
३ सुषमा-दुःषमा—यह आरा दो कोटा कोटि सागरोपम का।
४ दुःषमा-सुषमा—यह आरा बयालीस हजार कम १ कोटा कोटि सागरोपम का।
५ दुःषमा—यह आरा इक्कीस हजार वर्ष का।
६ दुःषमा-दुःषमा—यह आरा भी इक्कीस हजार वर्ष का।

जिस प्रकार अवसर्पिणी के आरों के विषय में कहा गया है उसी प्रकार उत्सर्पिणी के भी इसके विपरीत क्रम से छह आरे होते हैं (अर्थात् दुःषमा-दुःषमा, दुःषमा, दुःषमा-सुषमा, सुषमा-दुःषमा, सुषमा, सुषमा-सुषमा)। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल संख्या कुल बीस कोटा कोटि सागरोपम है। इसी को कालचक्र कहा जाता है। (श्लोक १११-११७)

प्रथम आरे में मनुष्य की आयु तीन पल्योपम होती है, शरीर तीन कोश लम्बा होता है। वे चौथे दिन आहार ग्रहण करते हैं। सम चतुरस्र संस्थान सम्पन्न सर्व सुलक्षणा युक्त वज्र ऋषभ नाराच संहनन विशिष्ट और सर्वदा सुखी होते हैं। वे क्रोधरहित, मानरहित, निष्कपट और निर्लोभी स्वभाव के अधर्म परिहारी होते हैं। उत्तर कुरु की भांति उस समय अहोरात्र उनकी इच्छा पूर्णकारी मद्यांगादि इस प्रकार के कल्पवृक्ष होते हैं—

१ मद्यांग नामक कल्पवृक्ष इच्छाभाव से ही मद्यांग देते हैं।
२ भृतांग नामक कल्पवृक्ष भण्डार की तरह पात्र देते हैं।
३ तूर्यांग नामक कल्पवृक्ष तीन प्रकार के वाद्य यन्त्र देते हैं।
४-५ दीपशिखा और ज्योतिशिखा नामक कल्पवृक्ष आलोक दान करते हैं।
६ चित्रांग नामक कल्पवृक्ष विभिन्न वर्ण के पुष्प-मालादि देते हैं।
७ चित्ररस नामक कल्पवृक्ष रसोइए की भांति नानाविध खाद्य देते हैं।

८ मण्यंग नामक कल्पवृक्ष ईप्सित अलंकारादि देते हैं।
९ गेहाकार नामक कल्पवृक्ष इच्छा मात्र से गन्धर्व नगरी की भांति उत्तम गृह देते हैं।
१० अनग्न नामक कल्पवृक्ष वस्त्रादि देते हैं।

उस समय मिट्टी शर्करा से भी अधिक स्वादयुक्त होती है। नदी आदि का जल अमृत से भी अधिक मीठा होता है। उसी आरे में धीरे-धीरे आयु संहनन और कल्पवृक्ष का प्रभाव क्रमशः कम होने लगता है। (श्लोक ११८-१२८)

द्वितीय आरे में मनुष्य की परमायु दो पल्योपम, शरीर दो कोश लम्बा होता है और वे प्रति तीसरे दिन आहार ग्रहण करते हैं। उस समय कल्पवृक्ष कुछ और कम प्रभाव सम्पन्न, मिट्टी कम स्वादयुक्त और जल कुछ कम मीठा होता है। इस आरे में भी प्रथम आरे की भांति जैसे हाथी की सूंड का व्यास क्रमशः कम होता जाता है उसी प्रकार प्रत्येक विषय कम होने लगते हैं।

तृतीय आरे में मनुष्य की आयु एक पल्योपम, शरीर एक कोश लम्बा होता है और वे द्वितीय दिन भोजनकारी होते हैं। इस आरे में भी पूर्ववर्ती आरों की भांति शरीर आयु मिट्टी का स्वाद और कल्पवृक्ष का प्रभाव क्रमशः कम होने लगता है।

चतुर्थ आरे में कल्पवृक्ष, मिट्टी का स्वाद और जल मिष्टत्व रहित होता है। इस समय मनुष्य की आयु एक कोटि पूर्व और लम्बाई पांच सौ धनुष होती है।

पंचम आरे में मनुष्य की परमायु एक सौ वर्ष और लम्बाई सात हाथ होती है।

षष्ठ आरे में मनुष्य की परमायु मात्र सोलह वर्ष और लम्बाई सात हाथ होती है। (श्लोक १२९-१३६)

दुःषमा-दुःषमा नामक आरा से विलोम क्रम से अर्थात् अवसर्पिणी के विपरीत रूप से छह आरों तक मनुष्य की आयु, लम्बाई आदि वर्द्धित होने लगते हैं।

सागरचन्द्र और प्रियदर्शना तृतीय आरे के शेष भाग में उत्पन्न होने के कारण नौ सौ धनुष लम्बे और पल्योपम की एक दशमांश आयु के विशिष्ट युगल हुए। उनकी देह वज्र ऋषभ नाराच संहनन

विशिष्ट, सम चतुरस्र संस्थान युक्त हुई। मेघ माला से मेरु पर्वत जिस प्रकार शोभा पाता है उसी प्रकार जाति सुवर्ण की सी कान्ति विशिष्ट युग्मधर्मी (सागरचन्द्र का जीव) प्रियंगुवर्णा स्त्री के द्वारा शोभित हुआ। (श्लोक १३७-१३९)

अशोकदत्त ने भी पूर्व जन्म कृत कपट के कारण श्वेत वर्ण का चार दांत वाला देव हस्ती-सा हाथी बनकर जन्म ग्रहण किया। एक बार इधर उधर विचरण करते हुए उसने अपने पूर्व जन्म के मित्र युगल रूप उत्पन्न सागरचन्द्र को देखा। (श्लोक १४०-१४१)

बीज से जैसे अंकुर उद्गत होता है उसी प्रकार मित्र-दर्शन के अमृत से सिंचित उस हस्ती के शरीर में स्नेह अंकुरित हुआ। तब उसने सूंड से उसका आलिंगन किया और उसकी इच्छा न रहते हुए भी उसे उठाकर कंधे पर बैठा लिया। एक दूसरे को देखने के अभ्यास के कारण दोनों को उस समय पूर्व किए हुए कार्य की भांति पूर्व जन्म की स्मृति हो आई। (श्लोक १४२-१४४)

उस समय चार दांत विशिष्ट हस्ती के स्कन्ध स्थित सागर चन्द्र को अन्यान्य युगलिकगण विस्फारित नेत्रों से इन्द्र की तरह देखने लगे। वह शंख, कुन्द और चन्द्र की भांति विमल हस्ती के ऊपर बैठा था इसलिए उन लोगों ने उसे विमल वाहन कहकर अभिहित किया। जाति स्मरण ज्ञान से नीतिशास्त्र ज्ञान होने के कारण, विमल हस्ती पृष्ठ पर आरोहण करने के कारण और स्वाभाविक सौन्दर्य सम्पन्न होने के कारण वह सबका सम्मानीय हो गया। (श्लोक १४५-१४७)

कुछ समय व्यतीत होने पर चरित्र भ्रष्ट यतियों की तरह कल्पवृक्षों का प्रभाव कम होने लगा। मद्यांग कल्पवृक्ष अल्प और विरस मद्य देने लगे मानों वे पहले के कल्पवृक्ष नहीं हैं, दुर्दैव ने मानो उनकी जगह अन्य कल्पवृक्ष रोपण कर दिया हो। भृतांग कल्पवृक्ष दूं या नहीं दूं इस प्रकार विचार करते हुए प्रार्थना करने पर भी देर से पात्र देने लगे। तूर्यांग कल्पवृक्ष इस प्रकार संगीत परिवेशन करने लगे जैसे उन्हें जबरदस्ती पकड़ कर पारिश्रमिक दिए बिना बैठा दिया हो। दीपशिखा और ज्योतिशिखा कल्पवृक्ष बार-बार प्रार्थना करने पर भी पूर्व की भांति आलोक नहीं देते—दिन के समय दीपशिखा का आलोक जिस प्रकार होता है वैसा

आलोक देने लगे। चित्रांग कल्पवृक्ष प्रविनयी और आज्ञालंघनकारी सेवक की भांति अपनी इच्छानुसार पुष्प-माला देने लगे। चित्ररस वृक्ष जिनकी दान देने की इच्छा नहीं है ऐसे सदाव्रत की भांति पूर्व-सा चार प्रकार के रस से सम्पन्न खाद्य अब नहीं देते। मध्यंग कल्पवृक्ष इन्हें दे दूँगा तो फिर कहां पाऊँगा इसी चिन्ता में पीड़ित होकर पहले जैसे अलंकार नहीं देते। कल्पना शक्ति हीन कवि अच्छी कविता की जिस प्रकार धीरे-धीरे सर्जना करते हैं गेहाकार कल्पवृक्ष उसी प्रकार धीरे-धीरे गृह करने लगे। ग्रह द्वारा बाधित मेघ जिस प्रकार थोड़ा-थोड़ा जल वर्षण करता है उसी प्रकार अनग्न कल्पवृक्ष वस्त्र देने में कार्पण्य करने लगे। उसी समय काल के प्रभाव से युगलियों की देह अवयवों की भांति कल्पवृक्ष पर ममता होने लगी (अर्थात् यह हमारा है ऐसा सोचने लगे)। एक युगलिक ने जिस कल्पवृक्ष का आश्रय लिया है उस कल्पवृक्ष का यदि दूसरा युगल आश्रय ले लेता तो पूर्ववर्ती युगलिक स्वयं को पराभूत समझने लगते। (अधिकार के प्रश्न को लेकर) एक दूसरे में पराभाव को सहन करने में असमर्थ होकर युगलिकगण विमल वाहन को अपने से अधिक शक्तिशाली समझकर उन्हें अपना प्रभु या नेता मान लिया। (श्लोक १४८-१६०)

विमल वाहन को जाति स्मरण ज्ञान से नीतिशास्त्र ज्ञान होने के कारण उनमें कल्पवृक्ष को उन्होंने इस प्रकार बांट दिया जैसे कोई वृद्ध पुरुष अपने गोत्र में धन बांट देता है। यदि कोई दूसरे के कल्पवृक्ष की इच्छा कर मर्यादा का त्याग करता तो उसे दण्ड देने के लिए 'हाकार' नीति का प्रयोग किया। समुद्र का जल जिस प्रकार तट की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता उसी प्रकार—'हाय तुमने ऐसा किया' इस वाक्य को सुनकर वे मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते। वे शारीरिक पीड़ा सहन कर सकते थे; किन्तु 'हाय ! तुमने ऐसा किया'—ऐसा अपमान वाक्य सहन नहीं कर सकते थे (अर्थात् ऐसे वाक्य को अधिक दण्ड समझते थे)। (श्लोक १६१-१६४)

विमल वाहन की आयु जब केवल छह माह बाकी रह गई तब उसकी स्त्री चन्द्रयशा ने एक युगल को जन्म दिया। वे युगल असंख्य पूर्व आयु सम्पन्न प्रथम संस्थान प्रथम संहनन युक्त कृष्णवर्ण और आठ सौ धनुष दीर्घ थे। माता-पिता ने उनका नाम चक्षुष्मान

और चन्द्रकान्ता रखा। एक साथ अंकुरित वृक्ष और लता की भांति वे एक साथ बड़े होने लगे। (श्लोक १६५-१६७)

छह मास तक निज सन्तान का पालन विमलवाहन और उसकी स्त्री ने बिना वार्द्धक्य के, बिना किसी रोग से पीड़ित हुए मृत्यु को प्राप्त किया। विमलवाहन सुवर्ण कुमार देवलोक में और उसकी स्त्री चन्द्रयशा नाग कुमार देवलोक में उत्पन्न हुई। चन्द्र अस्तमित होने पर चन्द्रिका भी नहीं रहती।

वहां से वह हस्ती भी पूर्ण आयु होने पर नागकुमार देवलोक में नागकुमार के रूप में उत्पन्न हुआ। काल का माहात्म्य ही ऐसा है। (श्लोक १६८-१७०)

अपने पिता विमलवाहन की भांति चक्षुष्मान भी हाकार नीति से युगलिकों की मर्यादा की रक्षा करने लगे। (श्लोक १७१)

मृत्यु समय निकट आने पर चक्षुष्मान के भी चन्द्रकान्ता द्वारा यशस्वी और सुरूपा नामक युगल पुत्र और कन्या का जन्म हुआ। द्वितीय कुलकर की भांति ही उनके संहनन और संस्थान थे। आयु अवश्य उनसे कम था। आयु और बुद्धि की भांति वे दोनों बढ़ने लगे। वे साढ़े सात सौ धनुष दीर्घ थे। इसीलिए वे दोनों जब एक साथ बाहर निकलते तोरण के स्तम्भ की भांति लगते।

(श्लोक १७२-१७४)

आयु शेष होने पर मृत्यु प्राप्त कर चक्षुष्मान सुवर्णकुमार और चन्द्रकान्ता नागकुमारों के मध्य उत्पन्न हुए। (श्लोक १७५)

यशस्वी कुलकर अपने पिता की तरह गोप जैसे गायों की रक्षा करता है उसी प्रकार सहज रूप में युगलियों का पालन करने लगे; लेकिन उनके समय लोग 'हाकार' दण्ड का इस प्रकार उल्लंघन करने लगे जैसे मदमस्त हाथी अंकुश की उपेक्षा कर देता है। तब यशस्वी ने उन्हें 'माकार' (तुम ऐसा मत करो) दण्ड से दण्डित करना प्रारम्भ किया। एक औषधि से यदि व्याधि दूर नहीं होती है तब दूसरी औषधि का प्रयोग करना उचित है। महामति यशस्वी अल्प अपराधी को हाकार नीति एवं अधिक अपराधकारी को 'माकार' नीति से दण्ड देने लगे। (श्लोक १७६-१७८)

यशस्वी और सुरूपा की आयु भी जब अल्प रह गई तो जिस प्रकार विनय और बुद्धि एक साथ जन्म ग्रहण करते हैं उसी प्रकार

उनके एक युगल पुत्र और कन्या ने जन्म लिया। उन्होंने पुत्र का नाम अभिचन्द्र रखा। कारण, वह चांद की भांति उज्ज्वल वर्ण का था और कन्या का नाम प्रतिरूपा रखा क्योंकि वह देखने में प्रियंगुलता की भांति कान्तिसम्पन्न थी। वे अपने माता-पिता से कम आयु सम्पन्न और साढ़े छह सौ धनुष ऊंचे थे। एक साथ मिले हुए शमी और वटवृक्ष की भांति वे बड़े होने लगे। गंगा और यमुना के मिलित प्रवाह की तरह दोनों निरन्तर शोभित होने लगे।

(श्लोक १७९-१८३)

आयु पूर्ण होने पर यशस्वी उदधि कुमार और सुरूपा नाग कुमार भुवनपति देव निकाय में उत्पन्न हुए। (श्लोक १८४)

अभिचन्द्र भी अपने पिता की तरह दोनों नीति से दण्ड देने लगे।

अन्तिम अवस्था में प्रतिरूपा ने एक युगल को इस प्रकार जन्म दिया जैसे अनेक प्राणियों की प्रार्थना पर रात्रि चन्द्रमा को जन्म देती है। माता-पिता ने पुत्र का नाम प्रसेनजित रखा और सभी के नेत्रों को प्रिय लगने के कारण कन्या का नाम चक्षुकान्ता रखा। वे दोनों माता-पिता की अपेक्षा कम आयु सम्पन्न तमाल वृक्ष की भांति श्याम कान्ति एवं बुद्धि और उत्साह की तरह एक साथ बढ़ने लगे। उनकी लम्बाई छह सौ धनुष और विषुवत् रेखा पर जिस तरह रात और दिन समान होते हैं उसी प्रकार वे समान प्रभा सम्पन्न थे। (श्लोक १८५-१८९)

मृत्यु के बाद अभिचन्द्र उदधिकुमार और प्रतिरूपा नागकुमार लोक में उत्पन्न हुए। (श्लोक १९०)

प्रसेनजित समस्त युगलों के राजा हुए। कारण, प्रायः महात्माओं के पुत्र महात्मा ही होते हैं। (श्लोक १९१)

कामान्ध व्यक्ति जिस प्रकार लज्जा और मर्यादा का उल्लंघन करता है उसी प्रकार उस युग के युगलिए हाकार और माकार दण्ड नीति की उपेक्षा करने लगे। तब प्रसेनजित के अनाचार रूप महाभूत को भयभीत करने के लिए मन्त्राक्षर की भांति तृतीय धिक्कार (धिक् तुमने ऐसा किया) नीति को अपनाया। महावत जिस प्रकार तीन अंकुश से हाथी को वशीभूत रखता है उसी प्रकार कुशल प्रयोगी

प्रसेनजित उन तीन नीतियों से (हाकार, माकार, धिक्कार) युगलिकों को दण्ड देकर अपने वश में रखने लगे।

(श्लोक १९३-१९४)

कुछ समय पश्चात् जब युग्म दम्पति की आयु सामान्य अवशेष रही तब चन्द्रकान्ता ने स्त्री-पुरुष रूप एक युगल को जन्म दिया। उनकी लम्बाई साढ़े पांच सौ धनुष थी और वे वृक्ष और छाया की तरह क्रमशः बढ़ने लगे। वे युगल मरुदेव और श्रीकान्ता नाम से लोगों में प्रसिद्ध हुए। सुवर्ण तुल्य कान्ति सम्पन्न मरुदेव अपनी प्रियंगुलता तुल्य प्रिया के साथ नन्दन वन की वृक्ष श्रेणियों से कनकाचल (मेरु) जैसे शोभित होता है वैसे ही शोभित होने लगे।

आयु पूर्ण होने पर प्रसेनजित द्वीपकुमार और चक्षुकान्ता नागकुमार देवलोक में उत्पन्न हुए। (श्लोक १९५-१९९)

मरुदेव प्रसेनजित की ही दण्डनीति से इन्द्र जैसे देवताओं को वश में रखता है उसी प्रकार युगलियों को दण्ड देकर अपने वश में रखते थे। (श्लोक २००)

आयु पूर्ण होने में जब थोड़ा समय बाकी रहा तब श्रीकान्ता ने एक युगल को जन्म दिया। पुत्र का नाम नाभि और कन्या का नाम मरुदेवा रखा गया। पांच सौ धनुष देह वाले वे क्षमा और संयम की भांति बढ़ने लगे। मरुदेवा प्रियंगुलता की भांति और नाभि सुवर्ण से कान्ति सम्पन्न थे। इससे वे सबको अपने पिता के प्रतिबिम्ब से लगते। उनकी आयु अपने माता-पिता मरुदेव और श्रीकान्ता की आयु से कुछ पूर्व कम थी। (श्लोक २०१-२०४)

मृत्यु के पश्चात् मरुदेव द्वीपकुमार और श्रीकान्ता नागकुमार देवलोक में उत्पन्न हुई। (श्लोक २०५)

मरुदेव के पश्चात् राजा नाभि युगलियों के सप्तम कुलकर हुए। वे भी उपर्युक्त तीन नीतियों से युगलियों को दण्ड देने लगे।

(श्लोक २०६)

तृतीय आरे का जब चौरासी लाख पूर्व और उन्यासी पक्ष बाकी था तब आषाढ़ कृष्णा चतुर्दशी के दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्र में चन्द्रयोग आने पर वज्रनाभ का जीव तेंतीस सागरोपम आयु पूर्ण कर सर्वार्थसिद्ध विमान से च्युत होकर हंस जैसे मानसरोवर से

गंगातट पर जाता है उसी प्रकार कुलकर नाभिपत्नी मरुदेवी के गर्भ में प्रविष्ट हुआ। उस समय मुहूर्त भर के लिए प्राणिमात्र के दुःख का उच्छेद हुआ। अतः तीनों लोक में सुख और उद्योत का प्रकाश हुआ। (श्लोक २०७-२११)

जिस रात्रि में भगवान् च्यूत होकर माता के गर्भ में प्रविष्ट हुए उस रात्रि में प्रासाद में प्रसुप्त मरुदेवी ने चौदह महास्वप्न देखे।

प्रथम स्वप्न में उन्होंने उज्ज्वल स्कन्धयुक्त, दीर्घ और सरल पुच्छ विशिष्ट, सुवर्ण घण्टिका पहने हुए विद्युतसह शरत्कालीन मेघ-सा वृषभ देखा। (श्लोक २१२-२१३)

द्वितीय स्वप्न में श्वेतवर्ण, क्रमशः उन्नत, निरन्तर प्रवहमान मदधारा से रमणीय, संचरमान कैलास पर्वत तुल्य, चार दन्तयुक्त हस्ती देखा।

तृतीय स्वप्न में पीतचक्षु, दीर्घ जिह्वा, चपल केशरयुक्त, वीर को जय ध्वजा सी पुच्छ उल्लंघनकारी केसरी देखा।

(श्लोक २१४-२१५)

चतुर्थ स्वप्न में कमलवासिनी, पद्मानना, दिग्गज कर्तृक पूर्ण कुम्भ द्वारा अभिषिच्यमाना लक्ष्मी देवी देखी।

पंचम स्वप्न में देवद्रुम के पुष्पों से गूंथी हुई, सरल और धनुर्धारी के आरोपित धनुष की भांति दीर्घ पुष्पमाला देखी।

(श्लोक २१६-२१७)

षष्ठ स्वप्न में जैसे अपने मुख का प्रतिबिम्ब और आनन्द का कारण रूप एवं कान्ति द्वारा जो दिक्समूह को प्रकाशित करता है ऐसा चन्द्रमण्डल देखा। (श्लोक २१८)

सप्तम स्वप्न में रात्रि के समय भी दिन का भ्रम उत्पन्न करने वाला, तमोनाशक, प्रसारित प्रभा सूर्य देखा। (श्लोक २१९)

अष्टम स्वप्न में चपल कर्ण से हस्ती जिस प्रकार शोभा पाता है उसी प्रकार घण्टिका पंक्ति से समृद्ध और आन्दोलित पताका शोभित महाध्वजा देखी। (श्लोक २२०)

नवम स्वप्न में विकसित पद्म से अंकित मुखवाला, समुद्र मंथन से निकले हुए सुधापात्र की तरह जलपूर्ण स्वर्ण कलश देखा।

(श्लोक २२१)

दशम स्वप्न में आदि अर्हत् की स्तुति के लिए भ्रमर गुंजित कमल रूप बहुमुख से स्तुति करते हुए कमल सरोवर को देखा।

ग्यारहवें स्वप्न में पृथ्वी व्याप्त शरत्कालीन अभ्रमाला की भाँति उच्छिप्त तरंग से चित्त को आनन्द प्रदानकारी क्षीर समुद्र देखा। (श्लोक २२२-२२३)

द्वादश स्वप्न में भगवान् देव शरीर में जहाँ निवास करते थे उस स्नेहवश आए हुए कान्तिमय विमान को देखा। (श्लोक २२४)

तेरहवें स्वप्न में जैसे नक्षत्र समूह को एकत्रित किया गया हो ऐसा निर्मल कान्ति विशिष्ट रत्न पुंज देखा। (श्लोक २२५-

चौदहवें स्वप्न में त्रिलोक व्याप्त तेजस पदार्थ को एकत्र कर द्युति-सी प्रकाशमान निर्धूम अग्नि को मुख में प्रवेश करते देखा।

रात्रि के अन्त में स्वप्न देखने के पश्चात् कमलवदना मरुदेवी कमलिनी की भाँति जागृत हुई। आनन्द जैसे हृदय में समा नहीं रहा है इस प्रकार स्वप्न में देखे हुए समस्त विषय को कोमल अक्षरों में वर्णन कर नाभिराज को सुनाया। नाभिराज ने अपने सरल स्वभाव के अनुसार स्वप्न विचार कर प्रत्युत्तर दिया—'तुम्हारे उत्तम कुलकर पुत्र होगा।' (श्लोक २२६-२२९)

उसी समय इन्द्रों का आसन कम्पायमान हुआ जैसे वह यह कहना चाहता हो—'देवि, आपने जो यह सोचा कि केवल उत्तम कुलकर पुत्र होगा वह अनुचित है।' हम लोगों का आसन क्यों कम्पायमान हुआ? ऐसा सोचकर इन्द्रों ने उपयोग बल से उसका कारण जाना। पूर्वकृत संकेतानुसार मित्र जिस प्रकार एक स्थान में एकत्र होते हैं उसी प्रकार वे एकत्र होकर स्वप्न के अर्थ बतलाने के लिए भगवान् की माता के पास आए। फिर कृतांजलि होकर विनयपूर्वक जिस प्रकार वृत्तिकार सूत्र का अर्थ स्पष्ट करता है उसी प्रकार स्वप्न फल समझाने लगे। वे बोले—

'स्वामिनि, आपने प्रथम स्वप्न में वृषभ देखा इससे आपका पुत्र मोहरूपी कर्दम में फँसे हुए धर्मरूपी रथ का उद्धार करने में सफल होगा। द्वितीय स्वप्न में आपने हाथी देखा इससे आपका पुत्र महान् पुरुषों का गुरु और महान् बलशाली होगा। तीसरे में सिंह देखने के कारण वह सिंह-सा धीर, निर्भय, वीर और अस्खलित पराक्रम सम्पन्न होगा। देवि, चौथे स्वप्न में आपने लक्ष्मी देखी

इससे आपका पुत्र पुरुषोत्तम और त्रैलोक्य की साम्राज्य लक्ष्मी का अधिपति होगा। आपने पुष्पमाला देखी इससे आपका पुत्र पुण्यदर्शी होगा एवं समस्त लोक उसकी आज्ञा को माला की भांति धारण करेगा। हे जगत् जननी, आपने स्वप्न में चन्द्र देखा इससे आपका पुत्र मनोहर और नेत्रों को आनन्द देने वाला होगा। आपने सूर्य देखा—इससे वह मोह रूप अन्धकार को चीर कर विश्व को आलोकित करेगा। महाध्वज देखने के कारण आपका पुत्र स्वर्वंश में प्रतिष्ठा-सम्पन्न और धर्म-ध्वज होगा। हे देवि, स्वप्न में पूर्ण कुंभ देखने के कारण आपका पुत्र सम्यक् अतिशयों का पूर्ण पात्र अतीव अतिशय सम्पन्न होगा। स्वामिनि, आपने जो पद्म-सरोवर देखा इससे आपका पुत्र संसार अरण्य में पथभ्रष्ट लोगों के सन्ताप को दूर करेगा। आपने समुद्र देखा—इससे अजेय होने पर भी सब इसके निकट आएँगे। स्वप्न में संसार में अलभ्य देव विमान देखा इससे आपके पुत्र की वैमानिक देव भी सेवा करेंगे। कान्तिमय रत्नपुञ्ज देखने के कारण आपका पुत्र समस्त गुणरूपी रत्नों की खान होगा और आपने प्रदीप्त अग्नि देखी इससे वह तेजस्वियों के तेज को हरण करने वाला होगा। हे देवि, आपने जो चौदह स्वप्न देखे इससे यही सूचित होता है कि आपका पुत्र चौदह राज्यलोक का स्वामी होगा।

(श्लोक २३०-२४८)

इस प्रकार समस्त इन्द्रों ने स्वप्न का वर्णन। किया तदुपरान्त माता मरुदेवी को प्रणाम कर अपने-अपने स्थान को लौट गए। माता मरुदेवी स्वप्न की फल व्याख्या द्वारा सिंचित होकर उसी प्रकार प्रफुल्लित हो गयीं जिस प्रकार वर्षा के जल से सिंचित होकर धरती प्रफुल्लित हो जाती है। (श्लोक २४९-२५०)

जैसे सूर्य के द्वारा मेघमाला शोभित होती है, मुक्ता के द्वारा सीप, सिंह के द्वारा पर्वतगुफाएँ, उसी प्रकार महादेवी मरुदेवी उस गर्भ को धारण कर सुशोभित होने लगीं। प्रियंगु की भांति श्यामवर्ण होने पर भी वे गर्भ के प्रभाव से कंचनवर्णी लगने लगीं जैसे शरद ऋतु में मेघमालाएँ कंचनवर्ण हो जाती हैं। जगत्पति उनका पयपान करेंगे इस आनन्द में उनके पयोधर उन्नत और पुष्ट हो गए। उनके नेत्र विशिष्ट प्रकार से विकसित हो गए मानो भगवान् का मुख देखने के लिए उत्कण्ठित हो रहे हैं। उनके नितम्ब पहले से

ही विस्तृत थे फिर भी वर्षाकाल बीत जाने पर नदी तट जैसे विस्तृत हो जाते हैं वैसे ही विस्तृत हो गए। उनकी गति पहले से ही मन्थर थी; किन्तु अब तो जिस प्रकार हाथी की गति मदोन्मत्त हो जाने पर मन्थर हो जाती है वैसी ही मन्थर हो गई। गर्भ के प्रभाव से उनकी लावण्य-लक्ष्मी प्रभात के समय विद्वानों की बुद्धि जिस प्रकार वर्द्धित हो जाती है या ग्रीष्मकाल में जिस प्रकार समुद्रतट वर्द्धित हो जाता है उसी प्रकार वृद्धि को प्राप्त हो गई। यद्यपि उन्होंने त्रैलोक्य का सारभूत गर्भ धारण किया था, फिर भी उन्हें कोई कष्ट नहीं था। गर्भवासी अरिहंतों का ऐसा ही प्रभाव होता है। धरती के अन्दर जिस प्रकार अंकुर बढ़ता है उसी प्रकार माता मरुदेवी के उदर में गुप्त रीति से वह गर्भ वर्द्धित होने लगा। हिम मृत्तिका (बर्फ) से जल जिस प्रकार शीतल हो जाता है उसी प्रकार गर्भ के प्रभाव से माता मरुदेवी और अधिक विश्व-वत्सला हो गई। गर्भ में भगवान् के अवतरित होने के प्रभाव से राजा नाभिराज युगलधर्मी लोक में अपने पिता से अधिक सम्माननीय हो गए। शरद् ऋतु के योग से चन्द्र किरण जैसे अधिक प्रभा सम्पन्न हो जाती है वैसे ही कल्पवृक्ष अधिक प्रभाव सम्पन्न हो गए। जगत् में पशु और मनुष्यों के मध्य वैर शान्त हो गया। कारण वर्षा ऋतु के आविर्भाव से सर्वत्र सन्ताप शान्त हो जाता है। (श्लोक २५१-२६३)

इस प्रकार नौ महीने साढ़े आठ दिन व्यतीत हो गए। चैत्र कृष्णा अष्टमी के दिन अर्द्धरात्रि के समय जबकि समस्त ग्रह उच्च स्थान पर और चन्द्र का योग उत्तराषाढ़ नक्षत्र पर आया तब मरुदेवी ने सुखपूर्वक युगल सन्तान को जन्म दिया। उस आनन्दवार्ता में दिक्समूह प्रसन्न हो उठा—स्वर्गवासी देवों की भांति लोग आनन्द क्रीड़ा करने लगे। उपपाद शय्या पर उत्पन्न देवों की भांति जरायु और रुधिर आदि कलंक रहित भगवान् विशिष्ट शोभान्वित थे। उसी समय लोग-चक्षुओं को आश्चर्यान्वित कर अन्धकारनाशी विद्युत प्रकाश की भांति एक अलौकिक प्रकाश त्रिलोक में परिव्याप्त हो गया। अनुचरों के द्वारा दुन्दुभी नादित न होने पर भी मेघमन्द्र की भांति गम्भीर शब्दकारी दुन्दुभी आकाश में बजने लगी, जिससे ऐसा प्रतीत हुआ मानो स्वर्ग ही आनन्द से गर्जन कर रहा हो। उस समय जबकि नारक जीवों ने भी क्षणमात्र के लिए सुख का अनुभव

किया जैसा कि कभी नहीं होता तब देवता मनुष्य तिर्यंचों ने सुखानुभव किया इसमें कहना ही क्या है ? मन्द-मन्द वायु ने भृत्य की भांति धरती की धूल को दूर करना प्रारम्भ किया। मेघ ने वितान की रचना कर सुगन्धित वारि वर्षण किया। इससे धरती उप्त बीज की भांति उच्छ्वसित हो गई। (श्लोक २६४-२७२)

उसी समय दिक्कुमारियों के आसन हिल उठे। भोगंकरा, भोगवती, सुभोगा, भोगमालिनी, तोयधारा, विचित्रा, पुष्पमाला और अनिन्दिता ये आठों दिक् कुमारियां उसी मुहूर्त्त में अधोलोक में भगवान् के सूतिका गृह में उत्पन्न हुईं। वे आदि तीर्थंकर और तीर्थंकर माता को प्रदक्षिणा देकर कहने लगीं—'हे जगन्माता, हे जगदीप की जन्मदात्री देवि, हम आपको प्रणाम करती हैं। हम अधोलोकवासिनी आठों दिक्कुमारियां अवधिज्ञान से तीर्थंकर का जन्म ज्ञात कर उनके प्रभाव से उनकी महिमा स्थापित करने के लिए यहां आई हैं। इससे आप भयभीत न हों।' फिर उन्होंने ईशान कोण में जाकर एक सूतिका गृह का निर्माण किया। उसका मुख पूरब की ओर था। वह एक सौ स्तम्भ पर अवस्थित था। उन्होंने संवर्त नामक वायु प्रवाहित कर सूतिकागृह के चारों ओर एक योजन पर्यन्त भूमि को कंकर एवं कर्दम से शून्य कर संवर्त वायु को निरुद्ध किया। तदुपरान्त भगवान् को नमन कर गीत गाती हुई उनके पास आकर बैठ गईं। (श्लोक २७३-२८०)

इसी प्रकार आसन कम्पित होने पर भगवान् का जन्म अवगत कर मेघंकरा, मेघवती, सुमेधा, मेघमालिनी, तोयधारा, विचित्रा, वारिसेणा और बलाहिका नामक मेरुपर्वत अधिवासिनी आठ ऊर्द्ध-लोक की दिक्कुमारियां वहां आकर जिनेश्वर और जिनेश्वर माता को नमस्कार कर स्तुति करने लगीं। उन्होंने उसी समय भाद्रमास-सा मेघ सर्जन कर उससे सुगन्धित वारि-वर्षण किया। सूतिकागृह के चारों ओर एक योजन पर्यन्त धूल को इस प्रकार नष्ट कर दिया जैसे चन्द्रिका अन्धकार को नष्ट कर देती है। घुटनों तक पंचवर्णीय पुष्पों की वर्षा कर भूमितल को इस प्रकार सुशोभित किया जैसे अल्पना अंकित की गई हो। फिर वे तीर्थंकर भगवान् का निर्मल गुणगान करती हुई आनन्द से उत्फुल्ल होकर यथास्थान जा बैठीं। (श्लोक २८१-२८६)

पूर्व रुचकाद्रि निवासिनी नन्दा, नन्दोत्तरा, आनन्दा, नन्दिवर्द्धना, विजया, वैजयन्ती, जयन्ती और अपराजिता नामक आठ दिक्कुमारियां भी ऐसे वेगवान विमान में बैठकर वहां आईं जो कि मन की गति से भी स्पर्द्धा कर सके। उन्होंने भगवान् और माता मरुदेवी को नमस्कार कर अपना परिचय दिया एवं हाथों में दर्पण लेकर मङ्गल गीत गाती हुई पूर्व दिशा में स्थित हो गईं।
(श्लोक २८७-२८९)

दक्षिण रुचकाद्रि निवासिनी समाहारा, सुप्रदत्ता, सुप्रबुद्धा, यशोधरा, लक्ष्मीवती, शेषवती, चित्रगुप्ता और वसुन्धरा नामक आठ दिक्कुमारियां मानो आनन्द ही उन्हें चलाकर ले आया हो इस प्रकार आनन्दमना वहां आईं और पूर्वागत दिक्कुमारियों की भांति भगवान् और उनकी माता को नमस्कार कर अपना परिचय दिया। तदुपरान्त कलश लिए गीत गाती हुई दक्षिण दिशा में खड़ी हो गईं।
(श्लोक २९०-२९२)

पश्चिम रुचक पर्वत स्थित इलादेवी, सुरादेवी, पृथ्वी, पद्मावती, एकनासा, अनवमिका, भद्रा और अशोका नामक आठ दिक्कुमारियां इतनी द्रुतगति से वहां आईं मानो भक्ति में वे एक दूसरे को परास्त करना चाहती हों। उन्होंने भी पूर्व की भांति जिनेश्वर और उनकी माता को नमस्कार कर अपना परिचय दिया और हाथों में पंखा लिए गीत गाती हुई पश्चिम दिशा में स्थित हो गईं।
(श्लोक २९३-२९५)

उत्तर रुचक पर्वत से अलम्बूषा, पुण्डरीका, वारुणी, हासा, सर्वप्रभा, श्री और ह्री नामक आठ दिक्कुमारियां आभियोगिक देवताओं के साथ रथ में ऐसी द्रुतगति से वहां आईं मानो वह रथ वायु द्वारा निर्मित हो। फिर वे भगवान् और उनकी माता को पहले आई हुई दिक्कुमारियों की भांति ही नमस्कार कर परिचय देकर हाथों में चँवर लिए उत्तर दिशा में स्थित हुईं। (श्लोक २९६-२९८)

विदिशा के रुचक पर्वत से चित्रा, चित्रकनका, शतेरा और सौदामनी ये चार दिक्कुमारियां वहां आईं। वे पूर्वागतों की भांति ही जिनेश्वर माता को नमस्कार कर अपना परिचय दिया और हाथों में दीप लेकर ईशान आदि विदिशा में गीत गाती हुई खड़ी हो गईं।
(श्लोक २९९-३००)

रुचक द्वीप से रूपा, रूपासिका, सुरूपा और रूपकावती नामक चार दिक्कुमारियां भी उस समय वहां आईं। उन्होंने भगवान् की नाभिनाल को चार अंगुल परिमित रख कर काट दिया एवं नाभि को वहीं गर्त्त बनाकर उसमें गाड़ दिया। हीरे और रत्नों से उस गर्त्त को भर कर ऊपर से दूर्वाघास आच्छादित कर दी। फिर भगवान् के जलगृह के पूर्व दक्षिण और उत्तर की ओर लक्ष्मी के निवास रूप कदली वृक्ष के तीन गृहों का निर्माण किया। प्रत्येक घर में अपने विमान की भांति विशाल और सिंहासन भूषित चतुष्कोण पीठिका का निर्माण किया। फिर जिनेश्वर को हाथों की अंजलि में लेकर एवं जिनमाता को चतुर दासी की भांति हाथों का सहारा देकर दक्षिण पीठिका में ले गईं। वहां सिंहासन पर बैठाकर वृद्धा संवाहिका की भांति सुगन्धित लक्षपाक तेल उनकी देह में संवाहित करने लगीं। फिर समस्त दिशाओं को सुगन्धित करने वाला उबटन उनके शरीर पर लगाया। फिर पूर्व दिक् की पीठिका पर ले जाकर निर्मल सुवासित जल से दोनों को स्नान करवाया। कषाय वस्त्र से उनका शरीर पोंछकर गोशीर्ष चन्दन चर्चित किया और दोनों को दिव्य वस्त्र विद्युत्प्रभ अलंकारादि पहनाए फिर भगवान् और भगवान् की माता को उत्तरपीठिका पर ले जाकर सिंहासन पर बैठाया। वहां उन्होंने अभियोगिक देवताओं को प्रेरणा कर क्षुद्र हिमवन्त पर्वत से गोशीर्ष चन्दन काष्ठ मंगवाया। अरणी के दो खण्ड लेकर अग्नि प्रज्वलित की और गोशीर्ष चन्दन के छोटे-छोटे टुकड़े कर उनसे होम किया। हवन शेष होने पर भस्मावशेष वस्त्र खण्ड में लेकर दोनों के हाथों में बांध दिया। यद्यपि तीर्थंकर और तीर्थंकर माता महामहिमा सम्पन्न होती हैं; किन्तु दिक्कुमारियों का भक्तिक्रम ऐसा ही होता है। भगवान् के कान के पास 'तुम पर्वत की भांति आयुष्मान बनो' ऐसा कहकर उन्होंने प्रस्तर के दो गोलक धरती में ठोक दिए। फिर भगवान और उनकी माता को सूतिकागृह की शय्या पर सुलाकर मङ्गलगीत गाने लगीं। (श्लोक ३०१-३१७)

फिर जैसे लग्न के समय सभी बाजे एक साथ बजाए जाते हैं उसी प्रकार शाश्वत घण्टे एक साथ बज उठे और पर्वत शिखर-सा इन्द्रासन सहसा हृदयकम्पन की भांति कांप उठा। इससे सौधर्मेन्द्र

के नेत्र क्रोध से लाल हो गए। भृकुटि चढ़ जाने के कारण उनका मुख विकटाकार हो गया और आन्तरिक क्रोध की ज्वाला की भांति ओष्ठ स्पन्दित होने लगे। आसन को स्थिर करने के लिए उन्होंने एक पांव उठाया और बोले—'आज किसने यमराज को आमन्त्रित किया है?' फिर वीरतापूर्वक अग्नि प्रज्वलित करने के लिए वायु-तुल्य वज्र को पकड़ने की इच्छा की। (श्लोक ३१८-३२२)

इस प्रकार सिंह के समान क्रुद्ध इन्द्र को देखकर जैसे मान ही मूर्तिमान देह धारण कर आए हों इस प्रकार उसके सेनापति विनय-पूर्वक बोले—'भगवन्, जब आपके हम लोगों जैसे अनुचर हैं तब आप स्वयं कोप क्यों कर रहे हैं? हे जगत्पति, आप हमें आदेश दीजिए, हम आपके शत्रुओं को विनष्ट करें।' (श्लोक ३२३-३२४)

तब इन्द्र ने अपने मन को शान्त कर अवधिज्ञान के प्रयोग से प्रथम तीर्थंकर का जन्म हुआ है अवगत किया। आनन्द के आवेश में मुहूर्त्तमात्र में उनका क्रोध विगलित हो गया। वर्षा के जल से दावानल निर्वापित होने पर पर्वत जिस प्रकार शान्त हो जाता है वे भी उसी प्रकार शान्त हो गए। 'धिक्कार है मुझे जो मैंने ऐसा सोचा। मेरे दुष्कृत मिथ्या हो जाएँ।' ऐसा कहकर वे इन्द्रासन त्याग सात-आठ कदम आगे बढ़े, फिर श्रद्धाञ्जलि मस्तक पर लगा कर मानो दूसरा रत्न-मुकुट ही उन्होंने धारण कर लिया हो, जमीन पर मस्तक रखकर भगवान् को नमस्कार कर रोमांचित होकर इस प्रकार स्तुति करने लगे—

'हे तीर्थनाथ, हे जगत्त्राता, हे कृपारस सिन्धु, हे नाभि-नन्दन, आपको नमस्कार। हे नाथ, नन्दन आदि उद्यानों से जैसे मेरुपर्वत सुशोभित होता है उसी प्रकार आप भी मति, श्रुत और अवधिज्ञान से शोभायमान हैं क्योंकि ये तीनों आपको गर्भ से ही प्राप्त हैं। हे देव, आज यह भरत क्षेत्र स्वर्ग से भी अधिक अलंकृत हो गया है। हे जगन्नाथ, आपका जन्मकल्याणक महोत्सव धन्य है। आज का दिन जब तक मैं संसार में हूं तब तक आपकी ही भांति वन्दनीय है। आज आपके जन्म पर्व में उन नारक जीवों को भी सुख प्राप्त हुआ है। अर्हतों का जन्म किसके सन्ताप को दूर नहीं करता? इस जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में प्रोषित सम्पत्ति की भांति धर्म नष्ट हो गया है। उसे आप अपने प्रभाव से बीज रूप में पुनः अंकुरित करें।

भगवन्, अब आपके चरणों का आश्रय लेकर कौन संसार सागर को अतिक्रम नहीं करेगा ? कारण, नौका के साहचर्य से लौह भी समुद्र अतिक्रम कर जाता है। आप भरतक्षेत्र में लोगों के पुण्योदय से ही अवतरित हुए हैं। यह, वृक्षहीन प्रदेश में कल्पवृक्ष के उद्गम और मरु प्रदेश में नदी प्रवाहित होने जैसा है।' (श्लोक ३२५-३२७)

प्रथम देवलोक के इन्द्र इस प्रकार भगवान् की स्तुति कर अपने सेनापति नैगमेषी नामक देवता से बोले, 'जम्बूद्वीप के दक्षिणार्द्ध में भरत क्षेत्र के मध्य भू-भाग में नाभि कुलकर की गृह लक्ष्मी की भांति वैभव सम्पन्ना मरुदेवी के गर्भ से प्रथम तीर्थंकर का जन्म हुआ है। उनके जन्म स्नात्र के लिए समस्त देवताओं को एकत्र करो।'

(श्लोक ३३०-३४०)

इन्द्र की आज्ञा प्राप्त कर एक योजन विस्तृत और अद्भुत ध्वनिकारी सुघोष नामक घण्टे को उन्होंने तीन बार बजाया। इससे अन्य विमानों के घण्टे भी उसी प्रकार बजने लगे जैसे मुख्य गीतकार के पीछे अन्य गीतकार गाना प्रारम्भ करते हैं।

(श्लोक ३४१-३४२)

उन सब घण्टों के शब्द दिशा-दिशा में प्रतिध्वनित होकर इस प्रकार बजने लगे जैसे कुलवान् पुत्र से कुल की वृद्धि होती है। बत्तीस लक्ष विमानों में ध्वनित होकर वे शब्द प्रतिध्वनि के अनुरणन से शतगुणा वृद्धि को प्राप्त हुए। देवतागण प्रमादग्रस्त थे अतः उस शब्द को सुनकर मूर्च्छित हो गए। मूर्च्छा टूटने पर वे सोचने लगे अब क्या होगा ? सजग देवताओं को सम्बोधित कर तब सेनापति मेघमन्द्र स्वर में बोले—'देवगण, अनुलंघनीय शासक इन्द्र, देवी आदि परिवार सहित आपको आदेश देते हैं कि जम्बूद्वीप के दक्षिणार्द्ध में भरत क्षेत्र के मध्य भाग में कुलकर नाभिराज के कुल में आदि तीर्थंकर का जन्म हुआ है। उनका जन्म कल्याणक उत्सव मनाने के लिए हमारी तरह आप भी शीघ्र प्रस्तुत हो जाइए। कारण, ऐसा उत्तम अवसर और नहीं है।' (श्लोक ३४३-३४९)

सेनापति का यह कथन सुनकर भगवान् की भक्तिवश कुछ देवता हवा के सम्मुख मृग की भांति धावित हुए या चुम्बक जैसे लौह को आकृष्ट करता है उसी प्रकार आकृष्ट होकर चले। कुछ देव इन्द्र के आदेशवश चले। अन्य कुछ देव देवांगनाओं द्वारा

उत्साहित होकर नदी प्रवाह में जिस प्रकार जल-जन्तु बहते हैं उसी प्रकार प्रवाहित हुए। कुछ देव पवन के आकर्षण से जैसे सुगन्ध विस्तृत होती है उसी प्रकार मित्र बान्धवों के आकर्षण से चले। इस प्रकार समस्त देवता अपने सुन्दर विमानों या अन्य वाहनों से आकाश को स्वर्ग की भांति सुशोभित कर इन्द्र के निकट आए।

(श्लोक ३५०-३५२)

तब इन्द्र ने आभियोगिक नामक देवताओं को असंभाव्य और अप्रतिम एक विमान प्रस्तुत करने का आदेश दिया। स्वामी के आज्ञापालनकारी उन देवताओं ने उसी मुहूर्त्त में एक विमान प्रस्तुत किया। वह विमान सहस्र-सहस्र रत्न-स्तम्भों के किरण-प्रवाह से आकाश को पवित्र कर रहा था। गवाक्ष मानो उसके नेत्र थे, बड़ी-बड़ी ध्वजाएँ जैसे उसके हाथ थे, वेदिका दांत थी जिससे वह स्वर्ण-कुम्भ की भांति प्रतीत होता था। [illegible] वह विमान पांच सौ योजन ऊंचा था, एक लक्ष योजन विस्तृत था, उस विमान पर चढ़ने के लिए कान्ति से तरंगित तीन सीढ़ियां थीं। उन्हें देखकर हिमवन्त पर्वत की गंगा, सिन्धु और रोहितास्या नदी का भ्रम होता था। उस सीढ़ी के आगे विविध वर्ण के रत्नों का तोरण था। वह इन्द्रधनुष की भांति मनोहारी लगता था। उस विमान के मध्य आलिंगी मृदंग की तरह वर्तुल और समतल कुट्टिम थी जो चन्द्रमण्डल, दर्पण या उत्तम दीपिका की भांति उज्ज्वल और प्रभा-सम्पन्न थी। उस कुट्टिम-जड़ित रत्नमय शिला की किरण-जाल दिवालों पर लगे चित्रों पर इस प्रकार पड़ रही थी जैसे वे यवनिकाएँ रच रही हों। उनमें अप्सराओं से पुत्तलिका विभूषित प्रेक्षा मण्डप था। उस प्रेक्षामण्डप के बीच कमल कर्णिका की भांति सुन्दर माणिक्यमयी एक पीठिका थी। वह पीठिका लम्बाई और चौड़ाई में आठ योजन एवं उच्चता में चार योजन थी। वह इन्द्र-लक्ष्मी की शय्या-सी लग रही थी। उस पर एक सिंहासन था जो समस्त ज्योतिष्क का तेजपुञ्ज-सा था। उस सिंहासन पर अपूर्व सुन्दर विचित्र रत्नों से खचित एवं स्वप्रभा में आकाश व्याप्तकारी एक विजय वस्त्र देदीप्यमान था। उस वस्त्र के मध्य हस्ती के कर्ण पर जिस प्रकार वज्रांकुश रहता है उसी प्रकार वज्रांकुश था और लक्ष्मी के हिंडोले में जैसे कुम्भिक जातीय मुक्तामाला रहती है वैसी ही मुक्तामालाएं थीं। मुक्तामालाओं के आस-पास गंगा के सैकत

की भांति उससे अर्द्ध-विस्तारयुक्त अर्द्ध-कुम्भिक मुक्तामालाएं सुशोभित थीं। उन मुक्तामालाओं के स्पर्श-सुख को पाने के लोभ में जैसे पवन उठ ही नहीं रहा हो इस प्रकार उसे मृदु-मृदु आन्दोलित कर वायु प्रवाहित हो रहा था। उसी मुक्तामाला के मध्य संचरित होने से वायु एक कर्णसुखकर मधुर ध्वनि कर रहा था। इससे लगता मानो स्तुति पाठक इन्द्र का निर्मल यशोगान कर रहा है।

(श्लोक ३५३-३६९)

उस सिंहासन के वायव्य और उत्तर दिशा के मध्य और उत्तर एवं पूर्व दिशा के मध्य चौरासी हजार सामानिक देवताओं के भद्रासन थे। वे देवता स्वर्ग लक्ष्मी के किरीट रूप थे। पूर्व दिशा में आठ अग्रमहिषियों के आठ आसन थे। वे सहोदर की भांति आकार-प्रकार में सुशोभित थे। दक्षिण और पूर्व दिशा के मध्य अभ्यन्तर सभा के सभासदों के बारह हजार सिंहासन थे। दक्षिण दिशा में मध्य सभा के चौदह हजार सभासदों के चौदह हजार सिंहासन थे। दक्षिण और पश्चिम के मध्य बाह्य पार्षदों के सोलह हजार देवताओं के सोलह हजार सिंहासन थे। पश्चिम दिशा में जैसे एक अन्य के प्रतिबिम्ब से सात हजार सेना के सात सेनापति देवता के सात आसन थे। मेरु पर्वत के चारों ओर जैसे नक्षत्र शोभा पाते हैं उसी प्रकार शक्र के सिंहासन के चारों ओर चौरासी हजार आत्मरक्षक देवता के चौरासी हजार आसन थे। इस प्रकार परिपूर्ण विमान की रचना कर आभियोगिक देवताओं ने इन्द्र को संवाद दिया। तब इन्द्र ने उसी मुहूर्त्त में उत्तर वैक्रिय रूप धारण किया। कारण, इच्छा के अनुरूप रूप धारण करना देवताओं के लिए स्वाभाविक है।

(श्लोक ३७०-३७९)

फिर इन्द्र ने दिक्‌लक्ष्मियों के समान आठ पट्ट-महिषियों सहित गन्धर्व और नाट्य सैनिकों के कौतुक देखते-देखते सिंहासन की प्रदक्षिणा देकर पूर्व दिशा की सीढ़ी से स्वअभिमान की भांति उच्च सिंहासन पर आरोहण किया। माणिक्य की दीवालों पर उनका प्रतिबिम्ब पड़ने से ऐसा लगता था जैसे उन्होंने हजार शरीर धारण किया हो। सौधर्मेन्द्र पूर्वाभिमुख होकर अपने आसन पर जा बैठे। फिर मानो उन्हीं के अन्य रूप हो ऐसे सामानिक देव उत्तर दिशा की सीढ़ी से चढ़कर अपने-अपने आसनों पर बैठ गए। तब

अन्य देवता दक्षिण दिशा की सीढ़ियों से चढ़कर अपने-अपने आसन पर जा बैठे। स्वामी के समीप अपने-अपने आसनों का उल्लंघन नहीं होता। (श्लोक ३८०-३८४)

सिंहासन पर बैठे शचीपति इन्द्र के सम्मुख दर्पण आदि आठ मांगलिक और माथे पर चांद-सा उज्ज्वल छत्र शोभित होने लगा। दोनों ओर से चामर इस प्रकार डुलाए जा रहे थे मानो वे दोनों चलमान हंस हों। पर्वत जैसे निर्झर से शोभित होता है उसी प्रकार छोटी-छोटी पताकाओं से सुशोभित एक हजार योजन उच्च इन्द्रध्वज विमान के आगे शोभित था। उस समय कोटि सामानिक देवताओं से परिवृत इन्द्र इस प्रकार सुशोभित था जैसे नदी प्रवाह से परिवृत समुद्र शोभा पाता है। अन्यान्य विमानों से परिवृत वह विमान इस भांति शोभायमान था जैसे अन्य चैत्यों से परिवृत मूल चैत्य शोभित होते हैं। विमानों की सुन्दर माणिक्यमय दीवालों पर एक का अन्य पर प्रतिबिम्ब लगने से लगता था मानो समस्त विमान एक-दूसरे के मध्य समाहित हो गयी है। (श्लोक ३८५-३९०)

चारणों की जय-जयकार से, दुन्दुभि की आवाज से, गन्धर्व और नाट्य वाहिनियों के बाजों से सभी दिशाओं को प्रतिध्वनित करते उस विमान ने इन्द्र की इच्छा से सौधर्म देवलोक के मध्य होते हुए आकाश को विदारित कर चलना आरम्भ किया। फिर सौधर्म देवलोक की उत्तर दिशा से तिर्यक गति में उस विमान ने नीचे उतरना आरम्भ किया। वह विमान एक लक्ष योजन विस्तृत होने से जम्बूद्वीप का आच्छादन-सा प्रतीत हो रहा था उस समय देवतागण एक-दूसरे को इस प्रकार बोलते हुए चलने लगे—'हे हस्तिवाहन, दूर हो जाओ। मेरा सिंह तुम्हारे हस्ती को सहन नहीं करेगा। हे अश्वारोही, तुम जरा दूर हट जाओ। कारण, मेरा ऊँट क्रुद्ध है। हे मृगवाहन, तुम पास मत आ जाना नहीं तो मेरा बाघ उस पर आक्रमण कर बैठेगा। हे सर्पवाहन, तुम अन्यत्र चले जाओ नहीं तो मेरा वाहन गरुड़ उसे भक्षण कर सकता है। हे सौम्य, मेरे सम्मुख आकर मेरी गति को क्यों अवरुद्ध कर रहे हो? मेरे और तुम्हारे विमान को टकराना चाहते हो क्या? हे भद्र, मैं पीछे रह गया हूँ। स्वर्गाधिप तीव्र गति से चले जा रहे हैं, इसलिए मेरा विमान यदि तुम्हारे विमान को धक्का लगाए तो क्रोध मत करना।

पर्व के दिन संकीर्ण होते हैं। अर्थात् उस दिन भीड़ होती है।' इस प्रकार इन्द्र के अनुगामी सौधर्म देवलोक के देवताओं के मध्य उत्सुकता के लिए कोलाहल होने लगा। उसी समय इन्द्रध्वज शोभित वृहत् विशाल आकाश के इस [illegible] में तरंग-शिखर से नौका उतरती है। मेघमण्डल में आच्छादित स्वर्ग को नीचा कर वृक्ष के मध्य से जैसे हस्ती आता है उसी प्रकार नक्षत्र चक्र के मध्य से आकाश से उतरकर वह विमान वायु वेग से असंख्य द्वीप समुद्र को अतिक्रम कर नन्दीश्वर द्वीप में जा पहुंचा। पण्डित जैसे ग्रन्थ संक्षेप करते हैं उसी प्रकार इन्द्र ने उसी द्वीप के दक्षिणार्द्ध के मध्य स्थित रतिकर पर्वत के ऊपर उस विमान को छोटा बनाया। फिर और अनेक द्वीप और समुद्र अतिक्रम कर विमान को और छोटा करते-करते इन्द्र जम्बूद्वीप के दक्षिण भरतार्द्ध में आदि तीर्थंकर के जन्म स्थान में पहुँचे। सूर्य जैसे मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा देता है उसी प्रकार इन्द्र ने भी उस विमान में स्थित होकर भगवान् के सूतिकागृह की प्रदक्षिणा दी, फिर घर के कोने में जैसे धन रखा जाता है उसी प्रकार ईशान कोन में उस विमान को स्थापित किया।

(श्लोक ३९१-४०६)

महर्षि जिस प्रकार मान से अवतरण करते हैं उसी प्रकार इन्द्र विमान से उतरकर भगवान् के निकट गए। भगवान् को देख कर देवों में अग्रणी शक्र ने पहले उन्हें प्रणाम किया। कारण, स्वामी के दर्शन मात्र से उन्हें प्रणाम करना उपहार देना है। तदुपरान्त माता सहित प्रभु को प्रदक्षिणा देकर उन्होंने पुनः प्रणाम किया। भक्ति में पुनरुक्ति दोष कहां? देवताओं ने जिनका मस्तक अभिषेक किया है ऐसे इन्द्र ने भक्ति के अतिशय में दोनों हाथों से शिशु को मस्तक पर लेकर माता मरुदेवी से कहा—'हे रत्नगर्भा, जगत् प्रकाशक को प्रकाशितकारिणी, हे जगन्माता, मैं आपको नमस्कार करता हूं। आप धन्य हैं। आप पुण्यवती हैं। आपका जन्म सार्थक है। आप उत्तम लक्षणयुक्त त्रिलोक की पुत्रवती रमणियों के मध्य पवित्र हैं। कारण, धर्मोद्धारकारियों में अग्रणी, आच्छादित मोक्षमार्ग के प्रकाशक भगवान् आदि तीर्थंकर को आपने जन्म दिया है। हे देवि, मैं सौधर्म देवलोक का इन्द्र आपके पुत्र अर्हत् का जन्मोत्सव करने आया हूं। अतः आप मुझसे डरें नहीं।'

(श्लोक ४०७-४१४)

फिर इन्द्र ने अवस्वापिनी निद्रा में माता मरुदेवी को निद्रित किया। उनके पास उनके पुत्र का प्रतिरूप रखा और स्वयं पांच रूप धारण किए। कारण, जो शक्तिशाली हैं वे अनेक रूप में प्रभु-भक्ति की इच्छा रखते हैं। उन्हीं पांचों रूपों में एक रूप से भगवान् के निकट जाकर नम्रता से प्रणाम कर बोले—'हे भगवन्, आज्ञा दीजिए।' ऐसा कहकर कल्याणकारी भक्तिमय इन्द्र ने अपने गोशीर्ष चन्दन विलेपित दोनों हाथों से जैसे मूर्तिमान कल्याण को ही उठाया हो इस प्रकार भगवान् को उठाया। दूसरे रूप में जगत् के ताप को नाश करने वाले छत्र के समान जगत्पति के मस्तक के पीछे खड़े होकर छत्र धारण किया। तीसरे-चौथे रूप में स्वामी की दोनों बाहुओं की भांति दो रूप से सुन्दर चँवर धारण किया और पंचम रूप में मुख्य द्वारपाल की भांति वज्र धारण कर भगवान् के अग्र-भाग में अवस्थित हो गए। फिर जय-जय शब्द से आकाश गुंजित करते हुए देवताओं द्वारा परिवृत होकर आकाश की ही भांति निर्मल मना इन्द्र ने पांचों रूपों से आकाश-पथ पर चलना आरम्भ किया। तृषातुर पथिक की दृष्टि जिस प्रकार अमृत-सरोवर पर पड़ती है उसी प्रकार उत्सुक देवताओं की दृष्टि भगवान् के अद्भुत रूप पर पड़ी। भगवान् के अद्भुत रूप को देखने के लिए अग्रगामी देवताओं ने चाहा उनके नेत्र पीछे हो जाएं। दोनों पार्श्व के देवता स्वामी के दर्शन से तृप्त न होने के कारण इस प्रकार स्तम्भित हो गए हैं कि नेत्रों को दूसरी ओर घुमा ही नहीं पा रहे हैं। पीछे के देवता भगवान् को देखने के लिए आगे आना चाह रहे हैं इसलिए वे अपने प्रभु मित्रों आदि को छोड़कर आगे बढ़ गए। देवराज भगवान् को हृदय के समीप रखकर मानो हृदय में धारण कर ही मेरुपर्वत पर ले गए। वहां पाण्डुकवन में दक्षिण चूलिका के ऊपर निर्मल कान्ति सम्पन्न अति पाण्डुक नामक शिला खण्ड पर अर्हत स्नात्र योग्य सिंहासन पर पूर्वदिगाधिपति इन्द्र आनन्दमय चित्त से प्रभु को गोद में लेकर बैठ गए। (श्लोक ४१५-४)

जिस समय सौधर्मेन्द्र मेरुपर्वत पर आए उस समय महाघोषा नामक घण्टे के नाद से प्रभु का जन्म अवगत कर अट्ठाइस लाख देवताओं द्वारा परिवृत होकर त्रिशूलधारी वृषभवाहन ईशान कल्पाधिपति ईशानेन्द्र आभियोगिक देवताओं द्वारा निर्मित पुष्पक विमान

में बैठकर दक्षिण दिशा से चलकर तिर्यक् गति से नन्दीश्वर द्वीप में जाकर उस द्वीप के ईशान कोण स्थित रतिकर पर्वत पर सौधर्मेन्द्र की भांति अपने विमान को छोटा कर भक्ति भरे हृदय से भगवान् के समीप आए। (श्लोक ४३१-४३४)

सनत्कुमार नामक इन्द्र अपने बारह लक्ष देवताओं के साथ सुमन नामक विमान में बैठकर वहां आए।

महेन्द्र नामक इन्द्र आठ लाख विमानवासी देवताओं सहित श्रीवत्स नामक विमान में बैठकर मन की तरह द्रुतगति से वहां आए।

ब्रह्मेन्द्र नामक इन्द्र चार लाख विमानवासी देवताओं सहित नन्दावर्त नामक विमान में भगवान् के निकट आए।

लान्तक नामक इन्द्र पचास हजार विमानवासी देवताओं सहित कामगम नामक विमान में बैठकर जिनेश्वर के समीप आए।

शुक्र नामक इन्द्र चालीस हजार विमानवासी देवताओं सहित प्रीतिगम नामक विमान में बैठकर भगवान् के पास पहुंचे।

सहस्रार नामक इन्द्र छह हजार देवताओं के साथ मनोरम नामक विमान में बैठकर प्रभु के निकट आए।

आनत प्राणत देवलोक के इन्द्र चार सौ विमानवासी देवताओं सहित विमल नामक विमान में बैठकर आए।

अरणाच्युत देवलोक के इन्द्र तीन सौ विमानवासी देवताओं सहित अतिवेगवान सर्वतोभद्र विमान में बैठकर आए।

(श्लोक ४३५-४४२)

उसी समय रत्नप्रभा पृथ्वी के भीतर रहने वाले भुवनपति और व्यंतर देवताओं के इन्द्र के आसन भी कम्पित हुए। चमरचंचा नामक नगर में सुधर्मा सभा में चमर नामक सिंहासन पर चमरासुर बैठे थे। उन्होंने अवधिज्ञान से भगवान्-जन्म जानकर अपने द्रुम नामक सेनापति को समस्त देवताओं को अवगत करवाने के लिए घोषघोषा नामक घण्टा बजाने को कहा। फिर वे चौसठ हजार सामानिक देवता, तेतीस त्रायस्त्रिंशक देवता, चार लोकपाल, पांच अग्र महिषी, आभ्यंतर, मध्य और बाह्य तीनों सभा के देवता सात प्रकार की सैन्य और सात सेनापति, चारों दिशाओं के चौसठ-

चौसठ हजार आत्म-रक्षक देव एवं अन्य उत्तम ऋद्धि सम्पन्न असुर कुमार देवताओं द्वारा परिवृत होकर आभियोगिक देवताओं द्वारा तत्काल निर्मित पांच सौ योजन ऊँचे वृहत् ध्वजाओं से सुशोभित और पचास हजार योजन विस्तृत विमान में बैठकर भगवान् का जन्मोत्सव मनाने के लिए निकल पड़े। चमरेन्द्र भी शक्रेन्द्र की भांति अपने विमान को पथ में छोटा कर भगवान् के आगमन से पवित्र मेरुपर्वत पर पहुँचे। (श्लोक ४४३-४४८)

बलिचंचा नामक नगर के इन्द्र बलि ने भी महौघस्वरा नामक वृहत् घण्टा बजवाया। उनके महाद्रुम नामक सेनापति के आमंत्रण पर आए हुए साठ हजार सामानिक देवता, उसके चार गुणा अर्थात् २४०००० अंगरक्षक देवता और अन्य आपत्तिशक इत्यादि देवताओं सहित वे भी चमरेन्द्र की भांति अमंद गति से आनन्द के मंदिर रूप मेरुपर्वत के शिखर पर आए। (श्लोक ४५२-४५४)

नागकुमारों के धरण नामक इन्द्र ने मेघस्वरा नामक घण्टा बजवाया। उनके छह हजार पदातिक सेना के सेनापति भद्रसेन के कहने पर आए हुए छह हजार सामानिक देवता और उनके चार गुणा अर्थात् २४००० आत्मरक्षक देवता अपनी छह पटरानियों और अन्य नागकुमार देवताओं सहित इन्द्रध्वज से सुशोभित पांच सौ हजार योजन विस्तृत और अढ़ाई सौ योजन ऊँचे विमान में बैठकर भगवान् के दर्शनों के लिए उत्सुक होकर क्षणमात्र में ही मन्दराचल पर्वत के शिखर पर आए। (श्लोक ४५५-४५७)

भूतानन्द नामक नागेन्द्र ने मेघस्वरा नामक घण्टा बजवाया और दक्ष नामक सेनापति द्वारा सामानिक देव आदि को बुलवाया। फिर वे आभियोगिक देवताओं द्वारा निर्मित विमान में सबके साथ बैठकर तीन लोक के नाथ से सनाथ बना है इस प्रकार के मेरुपर्वत पर पहुंचे। (श्लोक ४५९-४६०)

तदुपरान्त विद्युतकुमारों के इन्द्र हरि और हरिसह, सुवर्ण-कुमारों के इन्द्र वेनुदेव और वेनुदारी, अग्निकुमार देवों के इन्द्र अग्निशिख और अग्निमानव, वायुकुमार देवों के इन्द्र वेलम्ब और प्रभंजन, स्तनितकुमारों के इन्द्र सुघोष और महाघोष, उदधिकुमार देवों के इन्द्र जलकान्त और जलप्रभ, द्वीपकुमार देवों के इन्द्र पूर्ण

और अवशिष्ट एवं दिक्कुमार देवों के इन्द्र अमित और अमितवाहन भी आए। (श्लोक ४६१-४६४)

व्यन्तर देवताओं में पिशाचों के इन्द्र काल और महाकाल, भूतों के इन्द्र सुरूप और प्रतिरूप, यक्षों के इन्द्र पूर्णभद्र और मणिभद्र, राक्षसों के इन्द्र भीम और महाभीम, किन्नरों के इन्द्र किन्नर और किम्पुरुष, किम्पुरुषों के इन्द्र सत्पुरुष और महापुरुष, महोरगों के इन्द्र अतिकाय और महाकाय, गन्धर्वों के इन्द्र गीतरति और गीतयशा, अप्रज्ञप्ति और पंच प्रज्ञप्ति आदि व्यंतर देवों के अन्य आठ निकायों (जिन्हें वाण व्यंतर कहा जाता है) के सोलह इन्द्र जिनमें अप्रज्ञप्तियों के इन्द्र सन्निहित हैं और समानक, पंच प्रज्ञप्तियों के इन्द्र धाता और विधाता, ऋषिवादितों के इन्द्र ऋषि और ऋषिपालक, भूतवादिनों के इन्द्र ईश्वर और महेश्वर, क्रन्दितों के इन्द्र सुवत्सक और विशालक, महाक्रन्दितों के इन्द्र हास और हासरति, कुष्माण्डकों के इन्द्र श्वेत और महाश्वेत, पावकों के इन्द्र पावक और पावकपति एवं ज्योतिष्कों के सूर्य और चन्द्र इन्हीं दो नामों के असंख्य इन्द्र इस प्रकार कुल चौसठ इन्द्र एक साथ मेरु शिखर पर आए।

(श्लोक ४६५-४७४)

फिर अच्युतेन्द्र जिनेश्वर के जन्मोत्सव के उपकरण लाने के लिए आभियोगिक देवों को आदेश दिया। वे तुरन्त ईशान दिशा में गए। वहां वैक्रिय समुद्घात से मुहूर्त्त भर में उत्तम पुद्गल परमाणु आकृष्ट कर वे सुवर्ण के, रजत के, रत्न के, सुवर्ण और रजत के, सुवर्ण और रत्नों के, सुवर्ण, रजत और रत्नों के, रजत और रत्नों के और इसी प्रकार मिट्टी के अतः आठ प्रकार के प्रत्येक ही एक हजार आठ (कुल ८०६४) एक योजन ऊंचे सुन्दर कलशों का निर्माण किया। कलशों की संख्या के अनुपात में आठ प्रकार के पदार्थों की झारियां दर्पण, रत्न-करण्डिका, सुप्रतिष्ठक थाल, वातिका और पुष्पों की डालियां प्रत्येक ही ८०६४ होने से ५६४४८ बर्तन और कलशों सहित ६४५१२ जैसे पूर्व ही निर्मित कर लिए हों इस प्रकार शीघ्र तैयार कर वहां ले आए।

(श्लोक ४७५-४८०)

फिर आभियोगिक देवतागण उन कलशों को लेकर क्षीर-समुद्र के जल से वर्षा के जल की भांति भरकर वहां से पुण्डरीक उत्पल

और कोकनद जाति के कमल ले आए जिससे इन्द्र सहजतया समझ सकें कि वे क्षीर-समुद्र का जल ले आए हैं। भारी जलाशय (कूप, बापी और सरोवर) से जल भरने के समय जिस प्रकार कलश उठाया जाता है उसी प्रकार देवता कलश हाथ में उठाकर पुष्करवर समुद्र के तट पर आए और वहां से पुष्कर जाति के कमल लिए। फिर वे मगधादि तीर्थस्थल गए और वहां से जल और मिट्टी ली जैसे वे और अधिक कलशों का निर्माण करना चाहते हों। वस्तु-व्यापारी जिस प्रकार नमूना लेते हैं उसी प्रकार उन लोगों ने गङ्गा आदि महानदी का जल लिया। क्षुद्र हिमवन्त पर्वत से सिद्धार्थ के फूल, श्रेष्ठ सुगन्ध की वस्तुएं और सब प्रकार की ओषधियां लीं। उस पर्वत से उन्होंने पद्म नामक सरोवर से निर्मल सुगन्धित पवित्र जल और कमल लिए। एक ही कार्य के लिए प्रेरित होने के कारण उन्होंने प्रतिस्पर्द्धी बन द्वितीय वर्षधर पर्वत स्थित सरोवर से पद्म आदि संग्रह किए। समस्त क्षेत्र से वैताढ्य पर्वत से और अन्य विजयों से अतृप्त देवताओं ने प्रभु के प्रसाद की तरह जल और कमल लिए। वक्षार नामक पर्वतों से उन्होंने पवित्र और सुगन्धित वस्तुएं इस प्रकार ग्रहण कीं जैसे उनके लिए ही वे रक्षित थीं। आलस्यहीन उन देवताओं ने उत्तरकुरु और देवकुरु क्षेत्रों के तालाबों का जल कलशों में इस प्रकार भरा जैसे श्रेय द्वारा अपनी आत्मा को ही पूर्ण कर लिया हो। भद्रशाला नन्दन और पाण्डुक वन से उन्होंने गोशीर्ष चन्दन आदि वस्तुएं संगृहीत कीं। जिस प्रकार गन्धी समस्त सुगन्धित द्रव्य एकत्र करता है उसी प्रकार सुगन्धित जल और द्रव्य एकत्र कर वे उसी मुहूर्त्त में मेरुपर्वत पर पहुंचे। (श्लोक ४८१-४९३)

तदुपरान्त दस हजार सामानिक देवता, चालीस हजार आत्म-रक्षक देवता, तैंतीस त्रायस्त्रिंशक देवता, तीन सभा के समस्त देवता, चार लोकपाल, सात अनीक सैन्यवाहिनी और सेनापति द्वारा परिवृत होकर आरण और अच्युत देवलोक के इन्द्र पवित्र होकर भगवान् को स्नान कराने के लिए प्रस्तुत हो गए। पहले अच्युतेन्द्र ने उत्तरासंग धारण कर निःसंग भक्ति से प्रस्फुटित पारिजात आदि पुष्पों को अञ्जलि में लेकर सुगन्धित धूप के धुएं से धूपित कर त्रिलोकनाथ के सम्मुख रखे। फिर देवताओं ने भगवान् के सान्निध्य के लिए आनन्द से जैसे हँस रहे हों ऐसे पुष्पमाल्य सुशोभित सुगन्धित जल के कलश वहां लाकर रखे। उन जलपूर्ण कलशों पर

भ्रमर गुंजित कमल रखे हुए थे इससे लगता था जैसे वे भगवान् का प्रथम स्नात्र मंगल पाठ कर रहे हों। कलश ऐसे प्रतीत होते थे जैसे वे पाताल कलश हों और प्रभु को स्नान कराने के लिए ही लाए गए हों। अपने सामानिक देवताओं सहित अच्युतेन्द्र ने उन एक हजार आठ कलशों को इस प्रकार उठाया जैसे वे उनकी सम्पत्ति का फल हों। दोनों बाहुओं के अग्रभाग स्थित ऊपर उठाए हुए वे कलश मृणालयुक्त कमल कलिका का भ्रम उत्पन्न करते थे। फिर अच्युतेन्द्र ने अपने मस्तक के साथ कलश को जरा झुकाकर जगत्पति को स्नान कराना आरम्भ किया।

(श्लोक ४९४-५०१)

उसी समय कुछ देवताओं ने गुफाओं से लौटकर आने वाली प्रतिध्वनि द्वारा मेरुपर्वत को वाचाल कर आनक नामक मृदङ्ग बजाना प्रारम्भ किया। भक्ति से तत्पर अन्य देवतागण समुद्र मंथन कालीन ध्वनि-सी ध्वनित दुन्दुभि बजाने लगे। फिर अन्य देवतागण भक्ति से उन्मत्त होकर सागर तरंगों में प्रतिहत पवन की भांति आकुल ध्वनिकारी झांझ बजाने लगे। कुछ देवता जैसे ऊर्ध्वलोक में जिनादेश विस्तृत कर रहे हों इस प्रकार उच्च मुख सम्पन्न भेरी बजाने लगे। अन्य देवता मेरुपर्वत के शिखर पर आरूढ़ होकर गोपगण जैसे शृंग ध्वनि करते हैं उसी प्रकार उच्च निःस्वनकारी काहल नामक वाद्य बजाने लगे। कुछ देवगण (भगवान् के जन्माभिषेक की घोषणा करने के लिए) दुष्ट शिष्य को जिस प्रकार हाथ से पीटा जाता है उसी प्रकार हाथों से पीटकर मुरज नामक वाद्य बजाने लगे। कुछ देवता वहां आए। असंख्य सूर्य और चन्द्र की प्रभा को हरणकारी सुवर्ण और रौप्य की झालरें बजाने लगे। अन्य देवगण मुख में जैसे अमृत का गण्डूष भरा हो इस प्रकार अपने उन्नत मुख को फुला-फुलाकर शंख बजाने लगे। इस प्रकार देवताओं द्वारा बजाए हुए विभिन्न प्रकार के वाद्यों की प्रतिध्वनि से आकाश वाद्य न होने पर भी एक वाद्य ही बन गया।

(श्लोक ५०५-५१३)

चारण मुनिगण उच्च स्वर से बोले—'हे जगन्नाथ, हे सिद्धगामी, हे कृपासागर, हे धर्म-प्रवर्त्तक, आपकी जय हो, आप सुखी हों।'

(श्लोक ५१४)

अच्युतेन्द्र ने ध्रुवपद, उरसाह, स्कन्धक, गलित और वास्तु-वदन नामक मनोहर गद्य और पद्य द्वारा भगवान् की स्तुति की। फिर धीरे-धीरे अपने परिवार के देवों सहित भुवनकर्ता (आदि-नाथ) भगवान् पर कलशों में भरा जल डालने लगे। भगवान् के मस्तक पर जल-धार वर्षणकारी वे कलश मेरुपर्वत के शिखर पर वारिधारा बरसाने वाले मेघों की भांति लगने लगे। भगवान् के मस्तक के दोनों ओर झुके हुए देवताओं के कलशों ने माणिक्य मुकुट-सी शोभा धारण कर ली। एक योजन विस्तृत कलश मुख से निकलती हुई जलधारा पर्वत कन्दराओं से निर्गत स्रोतस्विनी-सी लगने लगी। प्रभु के मस्तक से आहत होकर चारों ओर बिखरे जल-कण धर्मवृक्ष के अंकुर की भांति प्रतिभासित होने लगे। प्रभु के शरीर पर गिरते ही क्षीर-समुद्र का सुन्दर जल फैलकर मस्तक पर श्वेत छत्र-सा, ललाट पर कान्तिमान ललाट-भूषण-सा, कानों के प्रान्तदेश पर विश्रान्त नेत्रों की कान्ति-सा, गण्डदेश पर कर्पूर की पत्रावलि-सा, ओष्ठों पर स्मित हास्य कान्ति कलाप-सा, कण्ठ भाग में मुक्तामाल-सा, स्कन्ध देश में गोशीर्ष चन्दन के अनुलेपन-सा बाहुद्वय और पृष्ठ देश पर बृहत वस्त्र-सा लगने लगा।

(श्लोक ५१५-५२५)

चातक जैसे स्वाति नक्षत्र का जल ग्रहण करता है उसी भांति कुछ देवता स्नात्र के उस जल को धरती पर गिरते ही श्रद्धा से ग्रहण करने लगे। कुछ देवगण मारवाड़ के अधिवासियों की भांति ऐसा जल और कहां मिलेगा समझकर अपने सिर पर डालने लगे। अन्य देवगण ग्रीष्म के उत्ताप से व्याकुल हस्ती की भांति आनन्द मना उस जल से निज देह को सिंचन करने लगे। मेरुपर्वत के शिखर पर तेजी से प्रसारित होकर उस जलधारा ने चारों ओर हजारों निर्झरों का भ्रम उत्पन्न कर क्रमशः पाण्डुक, सौमनस, नन्दन और भद्रशाल उद्यान में विस्तृत होकर बहती नदी का रूप धारण कर लिया। स्नान कराते-कराते कलशों का मुख नीचे हो गया यह देखकर लगा जैसे स्नान कराने की जलरूप सम्पत्ति कम हो जाने से लज्जित हो गए हों। तभी इन्द्र की आज्ञा से संचरमान आभियोगिक देवतागण रिक्त कलशों को अन्य पूर्ण कलशों के जल से भरने लगे। एक हाथ से अन्य हाथ में और इस प्रकार अनेक हाथों में जाने के

कारण वे कलश धनिकों के बालकों जैसे लगने लगे। नाभिराज पुत्र के [illegible] कलशों की [illegible] रत्नों के कलश की शोभा को तरह सुशोभित हो रही थीं। शून्य कुम्भ में जल डालने के समय जो शब्द हो रहा था उससे लगता था कुम्भ जैसे प्रभु की स्तुति कर रहे हों। देवतागण उन भरे कलशों से पुनः अभिषेक करने लगे। यक्ष जैसे चक्रवर्ती के निधान कलश को भरते हैं उसी प्रकार भगवान् को स्नान कराने से खाली हुए इन्द्र के कलशों को देवता लोग भरने लगे। बार-बार खाली होने से, बार-बार भरने से, बार-बार लाने, ले जाने से वे कलश ऐसे लगने लगे मानो वे जल ले जाने के यन्त्र पर आरूढ़ हों। इस प्रकार अच्युतेन्द्र ने एक करोड़ कलशों से भगवान् को स्नान कराया और स्वयं को पवित्र किया। यह भी एक आश्चर्य ही है। (श्लोक ५२६-५३८)

फिर आरण और अच्युत देवलोक के अधिपति अच्युतेन्द्र ने दिव्य गन्ध कषाय वस्त्रों से प्रभु के शरीर को पोंछने के साथ-साथ अपनी आत्मा को भी पोंछ लिया। प्रातः और सन्ध्याकाल के आकाश का चक्रवाल सूर्य मण्डल के स्पर्श से जिस प्रकार शोभित होता है उसी प्रकार गन्ध-कषायी वस्त्र भगवान् के शरीर स्पर्श से शोभित होने लगे। पोंछने के पश्चात् भगवान् की देह स्वर्णसार के सर्वस्व-सी, स्वर्णगिरि के एक भाग से निर्मित हो ऐसी लगने लगी। (श्लोक ५३९-५४१)

तत्पश्चात् आभियोगिक देवताओं ने गोशीर्ष चन्दन रस का कर्दम सुन्दर और विचित्र पात्र में घोलकर अच्युतेन्द्र के निकट रखा। इन्द्र ने भगवान् के शरीर में उसी गोशीर्ष चन्दन का इस प्रकार विलेपन करना प्रारम्भ किया जैसे चन्द्रमा अपनी चन्द्रिका से मेरुशिखर का लेपन करता है। उसी समय कुछ देवगण पट्टवस्त्र धारण कर, जिससे धूप का धुआं उठ रहा था ऐसी धूपदानी हाथ में लेकर भगवान् के चारों ओर खड़े हो गए। जो धूप दे रहे थे उन्हें देखकर लगता था जैसे वे स्निग्ध धूप रेखा से मेरुपर्वत-सी द्वितीय श्याम वर्ण चूलिका निर्मित कर रहे हों। जिन्होंने भगवान् पर श्वेत-छत्र धारण कर रखा था उन्हें देखकर मन में होता था वे आकाश-रूपी सरोवर को कमलवन कर रहे हैं। जो चँवर डुला रहे थे उन्हें देखकर लगता था मानो प्रभु दर्शन के लिए आत्मीय-परिजनों को

बुला रहे हैं। जो कमर-बन्ध बांधकर अस्त्र धारण किए प्रभु के चारों ओर खड़े थे वे भगवान् के अंगरक्षक से लग रहे थे। जो स्वर्ण और माणिक्य के पंखों से भगवान् को हवा दे रहे थे वे मानो आकाश में चमकित विद्युत लीला दिखा रहे थे। जो आनन्द से विचित्र वर्णों के दिव्य पुष्पों की वर्षा कर रहे थे वे बणिक से लग रहे थे। कुछ देवता अत्यन्त सुगन्धित द्रव्य को चूर्ण करके चारों ओर निक्षेप कर रहे थे [illegible] फेंक रहे हैं। कुछ देवता स्वर्ण उत्क्षिप्त कर रहे थे जैसे वे स्वामी की आज्ञा पाकर मेरुपर्वत की ऋद्धि को बढ़ा रहे हैं। कुछ देव महार्घ रत्न बरसा रहे थे। वे रत्न आकाश से उतरते तारों सदृश लगते थे। कुछ देव अपने सुमधुर गले से गन्धर्वों को भी लज्जित करते हुए नूतन ग्राम (तार, मध्य षड्ज आदि स्वर) और राग में भगवान् का गुणगान कर रहे थे। कुछ देवगण मण्डित, घण्ट और छिद्रयुक्त वाद्य बजाने लगे। कारण, भगवान् की भक्ति नाना प्रकार से की जाती है। कुछ देव अपने चरणपात से मेरु को कम्पित करते हुए नृत्य कर रहे थे। उन्होंने तो जैसे मेरु को ही नृत्य परक कर दिया था। कुछ देवगण अपनी-अपनी देवियों सहित नाना भावों के हाव-भाव का प्रदर्शन कर उच्च कोटि का नाटक दिखाने लगे। कुछ देवता आकाश में उड़ रहे थे। वे गरुड़ पक्षी से लग रहे थे। कुछ कुक्कुट की भांति क्रीड़ा करते हुए धरती पर उत्पतित हो रहे थे। कुछ नट-सी सुन्दर चाल प्रदर्शित कर रहे थे। कुछ प्रसन्नता से सिंह की भांति सिंहनाद कर रहे थे, कुछ हस्ती की भांति उच्च बृंहतिनाद कर रहे थे तो कुछ आनन्द में अश्व की भांति हेषारव। कुछ रथचक्र-सा घर्घर शब्द कर रहे थे। कुछ विदूषक की भांति हास्य उत्पन्नकारी चार प्रकार का शब्द कर रहे थे। बन्दर जैसे कूद-कूद कर वृक्ष शाखा को आन्दोलित करता है उसी भांति कुछ देवता उछल-उछलकर मेरुशिखर को आन्दोलित कर रहे थे। कुछ देवता धरती पर अपना हाथ इस प्रकार पटक रहे थे जैसे वे संग्राम-प्रतिज्ञाकारी योद्धा हों। कुछ बाजी जीत ली हो ऐसा चीत्कार कर रहे थे। कुछ वाद्य यन्त्रों की तरह फूले हुए अपने-अपने गाल बजा रहे थे। कुछ नट की भांति चित्र-विचित्र रूप धारण कर कूद रहे थे। कुछ रमणियां जैसे गोलाकार होकर बैठती हैं उसी प्रकार गोलाकार होकर मनोहर नृत्य के साथ सुमधुर गीत गा रहे

थे। कुछ अग्नि की भांति प्रज्वलित हो रहे थे। कुछ सूर्य की भांति तापदान कर रहे थे। कुछ मेघ की भांति गरज रहे थे। कुछ विद्युत् की भांति चमक रहे थे। कुछ पूर्ण भोजन के पश्चात् बटुक की भांति अपना उदर प्रदर्शन कर रहे थे। प्रभु प्राप्ति के आनन्द को भला कौन छिपाकर रख सकता है? इस प्रकार जब देवगण आनन्द मना रहे थे, अच्युतेन्द्र ने प्रभु को लेपन किया, पारिजातादि विकसित पुष्प से भक्तिपूर्वक पूजा की और कुछ पीछे हटकर भक्ति में नम्र होकर शिष्य की भांति भगवान् की वन्दना की। (श्लोक ५४२-५५१

अग्रज के पश्चात् जिस प्रकार अनुज करते हैं उसी प्रकार अन्य बासठ इन्द्रों ने भी स्नान विलेपन द्वारा प्रभु की पूजा की।

(श्लोक ५५२)

फिर सौधर्मेन्द्र की भांति ईशानेन्द्र ने भी अपने पांच रूप बनाये। एक रूप में उन्होंने भगवान् को गोद में लिया, दूसरे ने कर्पूर की भांति छत्र धारण किया। छत्र में मुक्ता-झालर ऐसी लगती थी मानो इन्द्र दिक्समूह को नृत्य करने का आदेश दे रहे हों। अन्य दो रूप से प्रभु के दोनों ओर वे चामर वीजन करने लगे। वीजनरत उनके दोनों हाथ ऐसे लग रहे थे जैसे वे हर्ष से नृत्य कर रहे हैं। पांचवें रूप में वे प्रभु के सम्मुख इस प्रकार खड़े थे मानो प्रभु के दृष्टिपात से स्वयं को पवित्र कर रहे हैं। (श्लोक ५७३-५७६)

फिर सौधर्मेन्द्र कल्प के इन्द्र ने जगत्पति के चारों ओर स्फटिक मणि के चार ऊंचे और पूर्ण अवयव वाले चार वृषभ तैयार किए। उच्च शृङ्ग शोभित वे चारों ही वृषभ चन्द्रकान्त रत्न निर्मित चार क्रीड़ा पर्वत की भांति प्रभु के चारों ओर सुशोभित होने लगे। चार वृषभों के आठ शृङ्गों से आकाश से जलधारा इस भांति गिरने लगी मानो धरती भेदकर वे निकल रही हैं। उद्गम स्थल में पृथक्-पृथक्, किन्तु, शेष पर्यन्त मिली हुई वे जलधाराएं आकाश में नदी संगम का भ्रम उत्पन्न कर रही थीं। सुरासुर रमणियां कौतुकपूर्वक उन जलधाराओं को देखने लगीं। वे धाराएं प्रभु के मस्तक पर उसी प्रकार गिर रही थीं जैसे नदी समुद्र में गिरती है। जलयन्त्रों-से शृङ्ग से निर्गत उस जलधारा में शक्रेन्द्र आदि ने तीर्थंकर भगवान् को स्नान करवाया। भक्ति से जिस प्रकार हृदय आर्द्र हो जाता है उसी प्रकार भगवान् के मस्तक पर गिरते हुए उस

स्नान-जल के सीकर कणों से दूर खड़े होने पर भी देवताओं के वस्त्र आर्द्र होने लगे। फिर इन्द्र ने उन चारों वृषभों को उसी प्रकार अदृश्य कर दिया जिस प्रकार ऐन्द्रजालिक इन्द्रजाल से निर्मित वस्तु को अदृश्य कर देता है। स्नान करवाने के पश्चात् स्नेहशील देवराज देवदुष्य वस्त्र से प्रभु की देह इस प्रकार पोंछने लगे मानो वे रत्नों का दर्पण पोंछ रहे हैं। फिर रत्नमय पट्टिका पर निर्मल और रजत के अखण्ड अक्षतों से प्रभु के सम्मुख अष्टमंगल अंकित किए। तदुपरान्त मानो स्वयं के अशेष अनुराग की भांति उत्तम अगराग से तीन जगत् के गुरु के अंगों पर लेपन किया। प्रभु के हास्यमय मुख की मुखचन्द्रिका का भ्रम उत्पन्न करने वाले उज्ज्वल और दिव्य वस्त्र से इन्द्र ने उनकी पूजा की एवं विश्वश्रेष्ठता का चिह्न स्वरूप वज्रमाणिक्य का सुन्दर मुकुट भगवान् के मस्तक पर पहनाया। कानों में सुवर्ण कुण्डल पहनाए जो सन्ध्याकालीन पश्चिम और पूर्व दिक्-स्थित सूर्य और चन्द्र-से शोभायमान हो रहे थे। उन्होंने भगवान् के गले में दीर्घ मुक्तामाला पहनाई जो कि लक्ष्मी के हिंडोलों की भांति लगने लगी। बाल हस्ती के दांत में जैसे सोने के कंकण पहनाए जाते हैं उसी प्रकार भगवान् की दोनों बाहुओं में दो भुज-बन्ध पहनाए और वृक्ष शाखाओं के अन्तिम भाग के पल्लवों की तरह गोलाकार और बृहद् मुक्ता के मणिमय कंकण प्रभु के मणि-बन्ध में पहनाए। वर्षधर पर्वतों के नितम्ब भाग स्थित सुवर्ण का विलास धारणकारी मेखला भगवान् की कमर में पहनाई। दोनों पावों में माणिक्य जड़ित नुपुर पहनाए जिन्हें देखकर लगता मानो देवासुरों का तेज इनमें संचारित हो गया है। इन्द्र ने जो-जो आभरण प्रभु अंगों को अलंकृत करने के लिए पहनाए थे वे सभी अलंकरण भगवान् के अंगस्पर्श से अलंकृत हो रहे थे। भक्तिपूर्ण, प्रफुल्लित हृदय से इन्द्र ने पारिजात पुष्पमाल्य से प्रभु की पूजा की। फिर मानो कृतार्थ हो गए हों इस प्रकार कुछ पीछे हटकर भगवान् के सम्मुख खड़े हो गए। आरती करने के लिए उन्होंने हाथ में आरती का थाल लिया। प्रज्वलित कान्तिमय आरती दीप से इन्द्र इस भांति शोभित हुए जैसे प्रकाशमय औषधियुक्त शिखर से महा-गिरि शोभित होता है। श्रद्धालु देवताओं ने जिस आरती के थाल में पुष्प समूह रखे थे उसी आरती थाल से प्रभु की तीन बार आरती

की। फिर भक्ति से रोमांचित होकर शकस्तव द्वारा प्रभु की वन्दना कर इन्द्र इस प्रकार स्तुति करने लगे—

हे जगन्नाथ, हे त्रैलोक्य-कमल मार्तण्ड, हे संसार रूपी मरु-स्थल के कल्पवृक्ष, हे विश्व उद्धारक बन्धु, मैं आपको नमस्कार करता हूं। हे प्रभु, यह मुहूर्त्त वन्दनीय है जिसने धर्म को जन्म देने वाले, जगत् जीवों के दुःखों को नाश करने वाले, अपुनर्जन्मा आपको जन्म दिया है। हे नाथ, इस समय आपके जन्माभिषेक के जल से अभिसिंचित एवं अनायास ही जिसका मालिन्य दूर हो गया है ऐसी रत्नप्रभा पृथ्वी यथानाम तथा गुण सम्पन्न हो गई है। हे प्रभु, वे सब लोग धन्य हैं जो सदैव आपका दर्शन प्राप्त करते हैं। मैं तो कभी-कभी ही आपका दर्शन प्राप्त करूंगा। हे स्वामी, भरत क्षेत्र के मनुष्यों के लिए जो मोक्ष-मार्ग बद्ध हो गया था उसे आप नवीन यात्री बनकर पुनः प्रवर्त्तित करेंगे। हे प्रभो, आपके धर्मोपदेश का तो कहना ही क्या? आपका दर्शनमात्र ही जगज्जन का कल्याण करता है। हे भवतारक, ऐसा कोई नहीं है जिससे आपकी तुलना की जाए। तभी तो मैं कहता हूं आपकी तुलना आप स्वयं ही हैं। और अधिक स्तुति कैसे करूं? हे नाथ, मैं तो आपके सद्गुणों की वर्णना करने में भी असमर्थ हूं। कारण, स्वयंभूरमण समुद्र के जल को कौन परिमाप कर सकता है?' (श्लोक २७७-२०९)

इस प्रकार जगत्पति की स्तुति कर प्रमोद से जिसका मन सुवासित होता है उस शक्रेन्द्र ने पूर्व की भांति ही पांच रूप धारण किए। उन पांच रूपों के पद्मप्रमादी एक रूप से उन्होंने ईशानेन्द्र को गोद में रहस्य-धारण की भांति जगत्पति को अपने वक्ष पर धारण किया। स्वामी-सेवा का परिचय देने वाले उनके अन्य रूप भी नियुक्त हो गए। (श्लोक २१०-२१२)

फिर देवताओं के साथ ही देवों के स्वामी इन्द्र वहां से आकाश-पथ से मरुदेवी के अलंकृत भवन में आए। उन्होंने माता के पास जो प्रतिरूप रखा था उसे उठाकर प्रभु को वहां सुला दिया। सूर्य जिस प्रकार कमलिनी की निद्रा दूर करता है उसी प्रकार इन्द्र ने माता मरुदेवी को अवस्वापिनी निद्रा दूर कर दी। सरिता तट-वर्ती हंस पंक्ति का विलास धारणकारी उज्ज्वल, दिव्य और रेशमी वस्त्र का एक जोड़ा उन्होंने भगवान् के पास रखा।

(श्लोक २१३-२१९)

बाल्यकाल में भी भावी काल उत्पन्न प्रभामण्डल की द्युति सम्पन्न रत्नमय कुण्डल युगल भी उन्होंने वहीं रख दिए। इस प्रकार स्वर्ण प्राकार निर्मित विचित्र रत्नों का हार और अर्द्धहार में व्याप्त सुवर्ण सूर्य की भांति दीप्तिमान श्रीरामदण्ड (झूमर) भगवान् के नेत्रों को आनन्द देने के लिए आकाश के सूर्य की भांति चँदोवे पर लटका दिया। फिर उन्होंने कुबेर को आदेश दिया कि बत्तीस कोटि हिरण्य, बत्तीस कोटि सुवर्ण, बत्तीस कोटि नन्दासन, बत्तीस कोटि भद्रासन एवं अन्य मूल्यवान वस्त्रादि एवं ऐसी मूल्यवान वस्तुएं जिनसे सांसारिक सुख मिले स्वामी के घर में इस प्रकार वर्षण करो जैसे मेघ पानी बरसाता है। (श्लोक ६१७-६२२)

आज्ञा मिलते ही कुबेर ने जृंभक नामक देवताओं को आदेश दिया। उन्होंने भी इन्द्र की आज्ञानुसार समस्त वस्तुएं वर्षण कीं। कारण, प्रचण्ड शक्तिमान पुरुष की आज्ञा कहने के साथ-साथ ही पूर्ण होती है। फिर इन्द्र ने आभियोगिक देवताओं को आदेश दिया—तुम चारों निकाय के देवताओं को सूचित करो कि जो कोई भी प्रभु या उनकी माता का अनिष्ट करने की इच्छा करेगा उसके मस्तक को अर्क मंजरी की भांति सात टुकड़ों में विभक्त कर दिया जाएगा। गुरु की आज्ञा शिष्य को जिस प्रकार उच्च स्वर में सुनाई जाती है उसी प्रकार उन्होंने भुवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवताओं को इन्द्र की आज्ञा सुनाई। फिर सूर्य जैसे मेघ को जल से भर देता है उसी प्रकार उन्होंने भगवान् के अंगुष्ठ को अमृत से भर दिया। अर्हत् स्तनपान नहीं करते इस लिए जब उनको भूख लगती तब वे अमृतवर्षी अपना अंगूठा मुंह में लेकर चूस लेते। तदुपरान्त पांच अप्सराओं को धात्रियों का कार्य करने के लिए वहां रहने का आदेश दिया। (श्लोक ६२३-६२९)

जिन स्नात्र होने के पश्चात् जब इन्द्र उन्हें माता के पास लेकर चले, अन्य देवगण मेरुशिखर से नन्दीश्वर द्वीप चले गए। सौधर्मेन्द्र भी नाभिपुत्र को उनके प्रासाद में रखकर स्वर्गवासियों के निवास तुल्य नन्दीश्वर द्वीप में पहुंचे और पूर्व दिक् के क्षुद्र मेरु पर्वत तुल्य उच्चता सम्पन्न दधिमुख नामक अंजन गिरि पर अवतरण किया। वहां वे विचित्र मणिमय पीठिका शोभित चैत्यवृक्ष और इन्द्रध्वज अंकित चतुर्द्वारी चैत्य भवन में प्रविष्ट हुए और

अष्टाह्निका महोत्सव सहित ऋषभादि अर्हतों की शाश्वती प्रतिमाओं की पूजा की। (श्लोक ६३०-६३४)

उस अंजन गिरि के चारों कोनों पर सरोवर थे। उनमें से प्रत्येक में स्फटिक मणि के दधिमुख नामक चार पर्वत थे। उन चार पर्वतों के ऊपरी चैत्य में शाश्वत अर्हतों की प्रतिमा थी। शक्रेन्द्र के चार दिक्पालों ने अष्टाह्निका महोत्सव सहित उन प्रतिमाओं का विधिवत् पूजन किया। (श्लोक ६३५-६३६)

ईशानेन्द्र ने उत्तर दिशा के नित्य रमणीक ऐसे रमणीय नामक अंजन गिरि पर अवतरण किया और इसी पर्वत स्थित चैत्य में उपर्युक्त विधि से अष्टाह्निका उत्सव सहित पूजा की। उनके दिक्पालों ने भी उस पर्वत के चारों ओर सरोवर के दधिमुख पर्वत के चैत्य में विराजित शाश्वत् प्रतिमाओं की पूजा की।

(श्लोक ६३७-६३९)

चमरेन्द्र ने दक्षिण दिशा के नित्योद्योत नामक अंजनादि पर्वत पर अवतरण किया। रत्न द्वारा नित्य प्रकाशमान उस पर्वत के चैत्य पर विराजित शाश्वती प्रतिमा का उन्होंने अत्यन्त भक्ति-पूर्वक पूजन किया। उस पर्वत के चारों ओर स्थित सरोवर के दधि-मुख पर्वत पर के चैत्य में विराजित प्रतिमा की अचल चित्त से उत्सव सहित चमरेन्द्र के चारों लोकपालों ने पूजा की।

(श्लोक ६४०-६४२)

बलि नामक इन्द्र ने पश्चिम दिशा के स्वयंप्रभ नामक अंजन पर्वत पर मेघ की भांति प्रभाव सहित अवतरण किया। उन्होंने उस पर्वत के चैत्य पर अवस्थित देवताओं के नेत्रों को पवित्र करने वाली शाश्वती ऋषभादि अर्हत् प्रतिमाओं का उत्सव किया। उनके चारों लोकपालों ने भी उस पर्वत के चारों ओर रहे हुए सरोवर के मध्य दधिमुख नामक पर्वत स्थित चैत्य में विराजित शाश्वती जिन प्रतिमाओं का उत्सव किया। (श्लोक ६४३-६४५)

इस प्रकार समस्त देवता नन्दीश्वर द्वीप में उत्सवादि कर यात्री की भांति जिस प्रकार आए थे उसी प्रकार अपने-अपने स्थान को प्रत्यावर्तन कर गए। (श्लोक ६४६)

इधर सवेरा होते ही मां मरुदेवी जागृत हुईं। उन्होंने रात्रि में देवताओं के गमनागमन का इस प्रकार वर्णन किया जैसे स्वप्न

देखा हो। जगत्पति की जंघा पर वृषभ का चिह्न था और माता मरुदेवी ने भी स्वप्न में सर्वप्रथम वृषभ देखा था। इसलिए हर्षित माता-पिता ने शुभ दिन देखकर उत्साह और उद्दीपना के साथ प्रभु का नाम रखा वृषभ। उनके साथ यमज रूप में उत्पन्न कन्या का नाम सुमंगला रखा। यह नाम यथार्थ और पवित्र था। जिस प्रकार वृक्ष क्षेत्रान्तरवर्ती नाले का जलपान करता है उसी प्रकार ऋषभ स्वामी भी इन्द्र द्वारा अंगुष्ठ में प्रदत्त अमृत योग्य समय प्राप्त होने पर पान करने लगे। पर्वत कन्दरा में जिस प्रकार सिंह शावक शोभा पाता है उसी प्रकार पिता की गोद में बालक ऋषभ शोभा पाने लगे। पांच समिति जिस प्रकार महामुनि का त्याग नहीं करती उसी प्रकार इन्द्र द्वारा नियुक्त पांचों धात्रियां एक मुहूर्त के लिए भी प्रभु का परित्याग नहीं करती थीं। (श्लोक ६४७-६५३)

जब भगवान् एक वर्ष के हो गए तब सौधर्मेन्द्र वंश की स्थापना के लिए वहां आए। सेवक को प्रभु के निकट कभी खाली हाथ नहीं आना चाहिए अतः इन्द्र एक वृहद् इक्षु हाथ में लेकर आए। मूर्तिमान शरद ऋतु की भांति इन्द्र इक्षु सहित वहां आए जहां प्रभु नाभिराज की गोद में बैठे थे। अवधि ज्ञान से इन्द्र के मनोभावों को जानकर हस्ती सूंड की भांति उन्होंने अपना हाथ प्रसारित किया। स्वामी के मनोभाव को समझ कर इन्द्र ने भी मस्तक झुकाकर वह इक्षु प्रभु को उपहार रूप में प्रदान किया। भगवान् ने वह इक्षु ग्रहण किया था इसलिए इन्द्र ने आपके वंश का नाम इक्ष्वाकु रखकर स्वर्ग की ओर गमन किया। (श्लोक ६५४-६५९)

युगादिनाथ का शरीर स्वेद, रोग, मल रहित एवं सुगन्धयुक्त और सुन्दराकृति वाला, स्वर्णकमल की भांति शोभित था। उनके शरीर का मांस और रक्त गोदुग्ध की भांति उज्ज्वल और दुर्गन्ध रहित था। उनका आहार एवं शौचक्रियादि चर्म चक्षु से अगोचर थे अर्थात् उनका आहार शौचकर्म कोई नहीं देख सकता था। उनके निःश्वास की सुगन्ध विकसित कमल की-सी थी। ये चार अतिशय प्रभु को जन्म से ही प्राप्त थे। वज्र ऋषभनाराच संहनन विशिष्ट प्रभु यह सोचकर धीरे-धीरे चलते कि कहीं पीछे की धरती धंस नहीं जाए। यद्यपि उनकी उम्र छोटी थी फिर भी वे गम्भीर और मधुर स्वर में बोलते थे। कारण, लोकोत्तर प्रभु का बाल्यकाल तो केवल

उम्र की दृष्टि से ही होता है। समचतुरस्रसंस्थान सम्पन्न प्रभु का शरीर इस प्रकार शोभित होता मानो वह क्रीड़ा विलासिनी कमला की स्वर्णमय क्रीड़ा वेदिका हो। (श्लोक ६६०-६६५)

उनके समान वयस धारण कर आए हुए देवकुमारों के साथ वे उन्हें परितुष्ट करने के लिए खेलते। खेल के समय प्रभु की धूलि-लिप्त देह नुपुर पहने हुए पैरों से गर्वित हस्तिशावक-सी लगती। लीलामात्र में प्रभु जो कुछ पा सकते थे अनेक सिद्धि सम्पन्न देव भी उसे पाने में समर्थ नहीं थे। यदि कोई प्रभु की बल परीक्षा के लिए उनकी अंगुली पकड़ता तो उनकी स्वांस-वायु से धूलिकण की भांति उड़कर दूर जा गिरता। (श्लोक ६६६-६६९)

प्रभु को आनन्दित करने के लिए कुछ देवकुमार कन्दुक की भांति उनके सामने उत्पतित होते। कुछ देवकुमार राजशुक का रूप धारण कर चाटुकार की तरह 'जीवित रहो, जीवित रहो, आनन्द से रहो, आनन्द से रहो' ऐसी ध्वनि करते। कुछ देवकुमार मयूर [illegible] स्वर में गाते और नाचते। प्रभु के मनोहर हस्त-कमल का स्पर्श सुख प्राप्त करने के लिए कुछ देवकुमार हंस रूप धारण कर गान्धार स्वर में गीत गाते हुए उनके आस-पास घूमते। कुछ देवकुमार प्रभु के स्नेह रूपी अमृत का पान करने की इच्छा से चाष पक्षी का रूप धारण कर उनके सामने मध्यम स्वर में बोलते। कुछ प्रभु का मन प्रसन्न रखने के लिए कोयल का रूप बनाकर निकटस्थ वृक्ष पर बैठकर पंचम स्वर में गाते। कुछ स्व-आत्मा को पवित्र करने के लिए प्रभु का वाहन होने की इच्छा से अश्व रूप धारण कर हिनहिनाते हुए भगवान् के निकट आते। कुछ हाथी का रूप धारण कर निषाद स्वर में चिंघाड़ते हुए मुख नीचा कर प्रभु का चरण स्पर्श करते। कुछ वृषभ रूप धारण कर शृङ्ग द्वारा भूमि कुरेदते हुए वृषभ स्वर में भगवान् को आनन्दित करते। कुछ अंजनाचल की भांति वृहद् महिष रूप धारण कर परस्पर युद्ध करते और प्रभु को युद्ध क्रीड़ा दिखाते। कुछ भगवान् के आनन्द के लिए मल्लरूप धारण कर अपनी दोनों भुजाओं को ठोकते-ठोकते अन्य को द्वन्द युद्ध में प्रवृत्त होने के लिए आह्वान करते। इस प्रकार योगी जैसे नाना रूप से प्रभु की उपासना करते हैं वैसे ही देवकुमार भी नाना प्रकार की क्रीड़ा प्रदर्शन कर भगवान् की उपासना करते।

इस प्रकार अवस्थित होकर एवं उद्यान पालक जिस तरह वृक्षों का लालन-पालन करता है उसी प्रकार अप्रमादी, पांच धाय माताओं द्वारा लालित-पालित होकर वे क्रमशः बड़े होने लगे।

(श्लोक ६७०-६८२)

अंगुष्ठ चूसने की अवस्था पूर्ण होने पर द्वितीय अवस्था प्राप्त गृहवासी अर्हत् पकाए हुए अन्न का भोजन करते हैं; किन्तु नाभि-नन्दन भगवान् उत्तर कुरु से देवताओं द्वारा लाए हुए कल्पवृक्ष का फल भोजन करते और क्षीर समुद्र का जल पान करते। व्यतीत काल की तरह बाल्यकाल पूर्ण कर सूर्य जैसे दिन के मध्य भाग में आ जाता है भगवान् भी उसी प्रकार जिस समय सभी अवयव दृढ़ और पूर्ण हो जाते हैं ऐसे यौवन को प्राप्त हुए। यौवन प्राप्त होने पर भी प्रभु के दोनों चरण, कमलों के मध्यभाग की तरह कोमल, लाल, ऊष्ण, कम्पनरहित, स्वेदरहित और सम पदतल सम्पन्न थे। पदतल में चक्र का चिह्न था जो कि दुःखियों के दुःखछेदन करने के लिए अंकित हुआ था। तदतिरिक्त माला, अंकुश और ध्वज चिह्न लक्ष्मी रूपी हस्तिनी को सर्वदा स्थिर करने के लिए अंकित हुए थे। लक्ष्मी के लीला भवन तुल्य प्रभु के चरण तल में शंख और कुम्भ चिह्न थे और एड़ी पर स्वस्तिक चिह्न था। भगवान् के पुष्ट गोलाकार और सर्पफण से उन्नत अंगुष्ठ पर वस्त्र की भांति श्रीवत्स चिह्न था। निवात दीपशिखा की भांति भगवान् की छिद्ररहित और सीधी अंगुलियां चरण रूप कमल-सी प्रतीत होती थीं। इन अंगुलियों के नीचे नन्दावर्त चिह्न शोभित था। उनका प्रतिरूप जब धरती पर पड़ता तो धर्म प्रतिष्ठा का कारणभूत होता। प्रभु की प्रत्येक अंगुलियों के पर्व में गम्भीर यव चिह्न अंकित थे। उन्हें देखकर लगता जगत्लक्ष्मी के साथ प्रभु का विवाह होगा इसलिए उनका वरण किया गया है। पृथु और गोलाकार एड़ियां ऐसे लगती मानो चरण-कमल के कन्द हैं। अंगुष्ठ और अंगुलियों के ऊपर के नख सर्प शिरःस्थित मणि की भांति शोभित होते थे। चरणों के गूढ़ गुल्फ स्वर्णकमल कलिका की कर्णिका के गोलक की भांति शोभा विस्तृत कर रहे थे। प्रभु के पदतल का उपरिभाग कच्छप पृष्ठ की तरह क्रमशः उन्नत, जिसकी शिराएँ दिखाई नहीं पड़ती ऐसे, लोम-रहित, स्निग्ध और कान्ति सम्पन्न था। पैरों का गौरवर्ण निम्न

भाग अस्थि रुधिर से आवृत्त होने से पुष्ट, गोल और हरिणों के पैरों की शोभा को भी तिरस्कृत करनेवाला था। उनके घुटने मांसल और गोल थे। जंघाएँ कोमल, क्रमशः उन्नत और गोल थीं। वे कदली स्तम्भ के विलास को धारण करती थीं। पुष्ट हस्ती की भांति गूढ़ और समस्थिति युक्त था। कारण, अश्व की तरह कुलीन पुरुष का चिह्न गूढ़ होता है। उनका पुरुषांग ऐसा था जिसकी शिरा दिखाई नहीं पड़ती। वह न ऊँचा था न नीचा, न शिथिल न खूब छोटा न खूब मोटा। वह सरल था, कोमल था, लोमरहित और गोलाकार था। उनके कोशस्थित पंजर-शीत प्रदक्षिणावर्त्त शब्दमुक्त को धारण करने वाले अवीभत्स और आवर्ताकार थे। प्रभु के पृष्ठ का निम्न भाग विशाल, पुष्ट, स्थूल और अत्यन्त कठोर था और मध्यभाग सूक्ष्मता में वज्र के मध्य-भाग-सा था। नाभि नदी के आवर्त का विलास धारण करती थी। कुक्षि के दोनों भाग स्निग्ध, मांसल, कोमल, सरल और समान थे। वक्षदेश स्वर्णशिला की तरह विशाल, उन्नत, श्रीवत्स चिह्न अंकित, मानो लक्ष्मी की छोटी क्रीड़ा-वेदिका हो। उनके दोनों स्कन्ध वृषभ के कन्धों की भांति दृढ़, पुष्ट और उन्नत थे। दोनों बगल अल्प रोमयुक्त, उन्नत गन्ध, स्वेद और मल रहित थे। उनके पुष्ट और हस्तरूपी फणों के छत्रों से युक्त बाहु घुटनों तक विलम्बित थे। वे ऐसे लगते मानो वे चंचला लक्ष्मी को वशीभूत करने के नाग-पाश हैं। और दोनों हाथ के करतल थे नवीन आम्र पल्लव की भांति लाल, कुछ काम नहीं करने पर भी कठोर, स्वेदरहित, छिद्ररहित और ईषत् ऊष्ण। पैरों की तरह उनके हाथों में भी दण्ड, चक्र, धनुष, मत्स्य, श्रीवत्स, वज्र, अंकुश, ध्वज, कमल, चामर, छत्र, शंख, कुम्भ, समुद्र, मन्दिर, मकर, ऋषभ, सिंह, अश्व, रथ, स्वस्तिक, दिग्गज, प्रासाद तोरण, दीप आदि चिह्न अंकित थे। उनके अंगुष्ठ और अंगुलियां लोहित हस्त से निकलने के कारण लोहित और सरल थे। वे प्रान्त भाग में माणिक्य फूल के कल्पवृक्ष के अंकुर की भांति प्रतीत होते थे। अंगूठे के पर्व भाग में यशरूपी उत्तम अश्व को पुष्ट करने के लिए यवचिह्न स्पष्टतः गोचर होते थे। अंगुलियों के ऊपरी भागों में दक्षिणावर्त चिह्न थे। उन्होंने सर्व सम्पत्तिद्योतक दक्षिणावर्त के शंख का रूप धारण कर रखा था। उनके कर-कमलों के मूल भाग में तीन

रेखाएँ थीं। वे ऐसी लगतीं मानो वे त्रिलोक उद्धार करने के लिए निर्मित हुई हों। उनका गोलाकार, सदीर्घ त्रिरेखा से पवित्र, गम्भीर ध्वनिकारी कण्ठ शंख की समानता धारण कर रहा था। निर्मल, वर्तुल और कान्ति की तरंग युक्त मुख कलंक रहित द्वितीय पूर्ण चन्द्र-सा प्रतीत हो रहा था। दोनों गण्ड कोमल, स्निग्ध और मांसल थे, वे एक साथ अवस्थानकारी वाणी और लक्ष्मी के दो दर्पण तुल्य थे। भीतर के आवर्त में सुन्दर स्कन्ध पर्यन्त लम्बित कर्णद्वय मुख की कान्ति रूप समुद्र के तट पर दो शुक्ति से लगते थे। ओष्ठ बिम्ब फल की भांति लाल थे। पूर्ण दन्त पंक्ति कुन्दकली के सहोदर तुल्य थी। नासिका क्रमशः विस्तृत और वंश तुल्य थी। उनका चिबुक पुष्ट, गोलाकार, कोमल और समान था और वहां दाढ़ी के बाल, सघन, स्निग्ध और कोमल थे। भगवान् की जीभ नवीन कल्पवृक्ष के प्रवाल तुल्य लाल, कोमल, अनतिस्थल और द्वादशांगी का अर्थकथनकारी थी। उनकी अक्षि भीतर की ओर श्याम और श्वेत और किनारे पर लाल थी इससे नीलमणि, स्फटिक-मणि और शोणमणि द्वारा निर्मित हो ऐसी लगती थी। कर्णपर्यन्त विस्तृत और काजल-सी कृष्ण, भ्रू युक्त आंखें जैसे भ्रमर युक्त कमल-सी लगती थीं। उनकी श्याम और तिर्यक भ्रू दृष्टि रूप जलाशय के तट पर उद्गत लता की शोभा को धारण करती थी। मांसल, गोल, कठिन, कोमल और सम ललाट अष्टमी के चन्द्रमा-सा शोभा पा रहा था। ललाट का ऊर्ध्व भाग उन्नत था। वह उलटाए हुए छाते-सा लगता था। जगदीश्वरत्व सूचक प्रभु की मौलि छत्र पर विराजित गोल और उच्च मुकुट कलश की शोभा को धारण कर रही थी और अंचित कोमल, स्निग्ध, भ्रमरतुल्य कृष्ण केश यमुना तरंग-से प्रतीत हो रहे थे। प्रभु की देह गोरोचन के गर्भ के समान श्वेत, स्निग्ध और स्वच्छ त्वक मानो सुवर्ण रस से लेपित होकर सुशोभित हो रही थी। कोमल भ्रमरतुल्य श्याम और अपूर्व कमल तन्तु समान रोमावलि उस देह की शोभा में अभिवृद्धि कर रही थी।

(श्लोक ६८३-७२९)

इस प्रकार प्रभु अनेक प्रकार के असाधारण लक्षणों से युक्त होकर रत्न से भरे रत्नाकर की भांति किसके सेव्य नहीं थे। अर्थात् सुर-असुर-मानव सभी के सेव्य थे। इन्द्र उन्हें अपने हाथों का सहारा

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
देते। यक्षगण चामर डुलाते और असंख्य देवता 'चिरंजीवी बनो, चिरंजीवी बनो' कहते हुए उन्हें घेरे रहते। फिर भी प्रभु के मन में जरा भी अभिमान नहीं था। वे यथासुख विहार करते। कितनी बार वे इन्द्र की गोद में पैर रखकर चमरेन्द्र के गोदरूपी पलंग पर अपनी देह का ऊर्ध्वभाग स्थित कर देवताओं द्वारा लाए हुए आसन पर बैठकर दोनों हाथों में वस्त्र लिए खड़ी अप्सराओं द्वारा सेवित होकर अनासक्त भाव से दिव्य नृत्य-गीत देखते। (श्लोक ७३०-७३४)

एक दिन एक युगल तालवृक्ष के नीचे अपनी बालकोचित क्रीड़ा कर रहे थे तभी एक भारी तालफल उनमें पुरुष के सिर पर आ पड़ा। काकतालीय न्याय से वह पुरुष उसी समय अकाल मृत्यु को प्राप्त हुआ। ऐसी घटना प्रथम बार घटी थी। अल्पकषायी होने के कारण उस पुरुष ने स्वर्ग गमन किया। कारण, रूई हल्की होने से आकाश की ओर ही जाती है। इसके पूर्व युगलिकगण मृतदेह को उठाकर उसी प्रकार समुद्र में फेंक देते थे जैसे बड़े-बड़े पक्षीगण अपने नीड़ों के तिनकों को गिरा देते हैं; किन्तु उस समय ऐसी बात नहीं थी। कारण, अवसर्पिणी काल के प्रभाव से सब कुछ परिवर्तित हो रहा था। अतः उसकी मृत देह वहीं पड़ी रही। उस युगल की स्त्री उस समय बालिका थी। स्वभावतः वह मुग्धा थी। अपने साथी बालक की मृत्यु हो जाने से विक्रय के पश्चात् बचे-खुचे द्रव्य की तरह वह चंचलाक्षी वहीं बैठी रही। उसके माता-पिता उसे वहां से ले जाकर उसका पालन-पोषण करने लगे। उन्होंने उसका नाम सुनन्दा रखा। कुछ दिन पश्चात् सुनन्दा के माता-पिता की मृत्यु हो गई। कारण, सन्तान उत्पन्न करने के पश्चात् युगलिक अल्प दिन ही जीवित रहते थे। अकेली होकर वह क्या करे, यह ज्ञात न होने से वह पूथ-भ्रष्टा हरिणी की तरह इधर-उधर विचरने लगी। वह जब सरल अंगुली रूप पत्र वाले पांव धरती पर रखती तो लगता वह धरती पर विकसित कमल स्थापित कर रही है। उसकी दोनों जंघाएँ कामदेव निर्मित सुवर्ण धनुष-सी प्रतीत होतीं। क्रमशः विशाल और गोल पैरों का निम्न भाग हाथी की सूंड-सा प्रतीत होता। चलने के समय उसके भारी नितम्ब कामदेव रूपी जुआरी द्वारा निक्षिप्त स्वर्ण गुटिका-सा लगता। मुट्ठी में आ जाए ऐसी और कामदेव के आकर्षण के समान कमर से और कामदेव के क्रीड़ावापी

तुल्य नाभि से वह बहुत शोभती थी। उसके उदर में त्रिवली रूपी तरंगें थीं। उनसे वह अपने रूप द्वारा तीन लोकों को जीतकर तीन जय रेखाओं को धारण कर ली हो ऐसी मालूम होती थी। उसके स्तन कामदेव के क्रीड़ा पर्वत से थे। उसकी दोनों भुज लताएँ रति-पति के झूले की दोनों ओर की रस्सियों से लगतीं। उसके तीन रेखा युक्त कण्ठ शंख की शोभा को भी हरण करता। ओष्ठ पक्व बिम्ब-फल की शोभा को पराभव करते। ओष्ठ रूपी शुक्ति के भीतर के मुक्ताफल रूपी दन्त पंक्ति और नेत्र रूपी कमल की नाल सी नासिका से वह बहुत सुन्दर प्रतीत हो रही थी। उसके दोनों कपोल ललाट की स्पर्द्धा कर अर्द्धचन्द्र की शोभा को हरण कर रहे थे। उसके सुन्दर केश गुच्छ रूप कलहंसी [illegible] समस्त अंग में सुन्दर और पुण्य लावण्य रूपी अमृत-नदी-सी वह कन्या वन में इधर-उधर भ्रमण करने के समय वनदेवी-सी लगती। उस एकाकी विचरती हुई मुग्धा को देखकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ कुछ युगलिक उसे नाभिराज के पास ले गए। नाभिराज ने यह कन्या ऋषभ की धर्मपत्नी बने ऐसा कहकर नेत्र रूप कुमुद की चन्द्रिका तुल्य उस कन्या को स्वीकार कर लिया। (श्लोक ७३५-७५६)

तत्पश्चात् एक दिन सौधर्मेन्द्र अवधिज्ञान से प्रभु का विवाह समय ज्ञात कर अयोध्या आए और जगत्पति के चरणों में प्रणाम कर उनके सम्मुख खड़े होकर भृत्य की भांति हाथ जोड़कर विनती करने लगे—'हे नाथ, जो अज्ञानी है वह यदि ज्ञान-निधि समान प्रभु को अपने विचार और बुद्धि से किसी कार्य में प्रवृत होने को कहे तो वह परिहास का पात्र ही होगा। फिर भी स्वामी अपने भृत्य को स्नेह दृष्टि से देखते हैं तभी तो वह बहुत बार स्वच्छन्दतापूर्वक कुछ बोल पाता है। उनमें जो स्वामी के अभिप्राय को ज्ञातकर बोलता है वही सच्चे सेवक के रूप में अभिहित होता है; किन्तु हे नाथ, मैं आपके अभिप्राय को ज्ञात न कर बोलता हूँ अतः आप अप्रसन्न न हों। मैं जानता हूँ आप गर्भावास से ही वीतरागी हैं एवं अन्य पुरुषार्थ की इच्छा नहीं रहने से चतुर्थ पुरुषार्थ के प्रवासी हैं। फिर भी हे स्वामी, मोक्षमार्ग की भांति व्यवहार मार्ग आप ही प्रकट करेंगे। इसलिए लोक व्यवहार प्रारम्भ करने हेतु आपका विवाह-महोत्सव करने की इच्छा है। हे प्रभु, आप प्रसन्न होकर मुझे अनु-

मति दें। भुवन-भूषण तुल्य रूपवती सुमंगला और सुनन्दा अब विवाह योग्य हो गई हैं। (श्लोक ७५७-७६५)

इसी समय प्रभु ने भी अवधिज्ञान से यह जानकर कि तिरासी लाख पूर्व दृढ़ भोग कर्म मुझे भोग करने होंगे सिर हिलाकर अपनी स्वीकृति प्रदान कर सन्ध्याकाल की भांति अधोमुख हो गया।
(श्लोक ७६६-७६७)

स्वामी के मनोभाव को जानकर इन्द्र ने विवाह कर्म आरम्भ करने के लिए देवताओं को वहां बुलवाया। इन्द्र की आज्ञा प्राप्त कर आभियोगिक देवतागण ने वहीं एक सुन्दर मण्डप निर्माण किया, उसे देखकर लगता जैसे सुधर्मा-सभा का अनुज हो। उसमें बनाए गए सुवर्ण माणिक्य और रौप्य के स्तम्भ मेरु, रोहणाचल और वैताढ्य पर्वत के शिखर से शोभित हो रहे थे। उसके ऊपर रखे हुए स्वर्णमय प्रकाशशाली कलश चक्रवर्ती के कांकणी रत्नमण्डलों के समान शोभा देने लगे। वहां निर्मित वेदी विस्तृत किरणजाल में अन्य तेज को सहने में असमर्थ सूर्य किरणों का आभास दे रही थी। उस मंडप में प्रवेशकारी मणिमय शिलाओं की दीवारों पर प्रतिबिम्बित होकर बृहत् परिवार सम्पन्न से लग रहे थे। रत्न-स्तम्भों पर स्थित पुत्तलिकाएँ नृत्यकारिणी नर्तकियों की भांति प्रतिभात हो रही थीं। उस मण्डप के प्रत्येक ओर कल्पवृक्ष के तोरण बनाए गए थे। वे काम-देव के धनुष से शोभित हो रहे थे। स्फटिक द्वार की शाखा पर नील-मणि का तोरण बनाया गया था जो कि शरत्कालीन मेघमाला में उड़ती हुई शुक-पंक्ति-सा सुन्दर लग रहा था। कुछ स्थान स्फटिक मणि से निर्मित हुए थे। वहां नियत किरण पड़ने के कारण वे अमृत की क्रीड़ा वापी से शोभित थे। कुछ स्थान पर पद्मराग मणि की शिला की किरण प्रसारित हो रही थी। इसलिए वह मण्डप कुसुम्बी और विस्तृत दिव्य वस्त्र का संचयक लग रहा था। अनेक जगहों पर नीलमणि शिला की अत्यन्त मनोहर किरणांकुर पड़ने से मण्डप पुनः रोपित मांगलिक भवांकुर युक्त-सा लगता था। कुछ स्थान पर मरकतमय पृथ्वी की किरण निरन्तर पड़ रही थी इससे वह वहां लाए नील और मङ्गलमय वंश की शंका उत्पन्न कर रहा था। उस मण्डप के ऊपर जो सफेद दिव्य वस्त्र का चँदोवा बांधा गया था वह ऐसा लगता था मानो आकाश गंगा ही चँदोवे के रूप में वहां के

के कौतुक को देखने के लिए समुपस्थित हुई है। चँदोवे के चारों ओर के स्तम्भ पर जो मुक्त मालाएँ अटकाई गई थीं वे अष्टदिक के हास्य-सी प्रतीत होती थीं। मण्डप के मध्य में देवांगनाओं ने रति के निधान रूप रत्न-कलशों की चार आकाशचुम्बी पंक्तियां स्थापित की थीं। उन्हीं चार पंक्तियों के कुम्भ को स्थिर रखने में सहायकारी [illegible] करते हुए शोभा दे रहे थे। (श्लोक ७६८-७८४)

उसी समय, हे रम्भा, मांग्य रचना करो', 'हे उर्वशी, दुर्वाघास लाओ', 'हे पृताची, वर को अर्घ देने के लिए घी, दही आदि लाओ', 'हे मंजुघोषा, सखियों द्वारा धवल मंगल अच्छी तरह गवाओ', 'हे सुगन्धे, तुम सुगन्धित द्रव्य तैयार करो', 'हे तिलोत्तमे, दरवाजे पर सुन्दर स्वस्तिक अंकित करो', 'हे मैना, तुम अभ्यागत व्यक्तियों को सुन्दर आलाप गाकर सम्मानित करो', 'हे सुकेशी, वर-वधू के लिए केशाभरण बनाओ', 'हे सहजन्या, वरयात्री रूप में आगत पुरुषों के लिए स्थान निरूपण करो', 'हे चित्रलेखा, मातृभुवन में विचित्र चित्र अंकित करो', 'हे पूर्णिमा, तुम पूर्णपात्र शीघ्र तैयार करो', 'हे पुण्डरिके, तुम पुण्डरीक से पूर्णकुम्भ सजाओ', 'हे अम्लोचे, तुम वर के लिए चौकी योग्य स्थान पर रखो', 'हे हंसपादी, तुम वर-वधू के लिए पादुकाएँ रखो', 'हे पुंजिकास्थला, तुम वेदिकाओं को गोमय से शीघ्र लेपन करो', 'हे रामा, तुम कहां जा रही हो ?' 'हे हेमा, तुम सोना की ओर क्यों टकटकी लगाए हो ?' 'हे ऋतुस्थला, तुम पागलों की तरह चुप क्यों बैठी हो ?' 'हे मारिचि, तुम, क्या सोच रही हो ?' 'हे सुमुखी, तुमने मुँह क्यों फुला रखा है ?' 'हे गान्धर्वी, तुम आगे क्यों नहीं जा रही हो ?' 'हे दिव्या, तुम क्यों इधर-उधर घूम रही हो ?' अब लग्न का समय हो गया है। सभी अपने-अपने विवाहोचित कार्य शीघ्र पूर्ण करो।' इस भांति अप्सराएँ एक-दूसरे का नाम ले-लेकर बोल रही थीं। इससे वहां कोलाहल-सा मच गया था। (श्लोक ७८५-७९५)

कुछ अप्सराओं ने सुनन्दा और सुमंगला को मंगल स्नान करवाने के लिए चौकी पर बैठाया। मधुर धवल मंगल गीत गाते हुए प्रथम उन्होंने उनके समस्त शरीर में सुगन्धित तेल मर्दन किया। फिर जिनकी पद रज से पृथ्वी पवित्र हुई है इस प्रकार उन दोनों

कन्याओं के उबटन लगाया। उनके दोनों हाथ, दोनों घुटनों, दोनों स्कन्ध और मस्तक पर नौ श्याम तिलक बनाए। वे उनकी देह पर नौ अमृत-कुण्ड तुल्य प्रतिभासित हो रहे थे। हथेली में लपेटे कुसुम्भी सूत लेकर देवियों के दाएँ-बाएँ अंगों का उन्होंने स्पर्श किया मानो उनकी देह समचतुरस्र संस्थान वाली है या नहीं, अनुभूत किया। इस प्रकार वासियों की तरह अप्सराओं ने गौरवर्णा उन बालिकाओं के बदन में उनकी चपलता दूर करने के लिए उबटन लगाया। फिर आनन्द से उत्फुल्लमना उन लोगों ने उनके शरीर में एक और विशेष प्रकार का उबटन लगाया। फिर वे कुलदेवी की तरह उनको अन्य आसनों पर बैठाकर सुवर्ण कलशों में भरे जल से स्नान कराया। सुगन्धित गैरिक वस्त्र से उनका शरीर पोंछा, कोमल रेशमी वस्त्र से उनके केश आवृत्त किए, फिर रेशमी वस्त्र से [illegible] उन्हें उनके आसनों पर बैठाया। उनके केशों से जलकण इस प्रकार झर रहे थे मानो मोतियों की वहां वर्षा हो रही हो। स्निग्ध धूम रूपी लता में जिनकी शोभा बढ़ती है ऐसे उनके सामान्य भीगे केशों को दिव्य धूप से सुगन्धित किया। जिस प्रकार सुवर्ण पर गेरु का लेप होता है वैसे ही दोनों स्त्री रत्नों के शरीर में सुगन्धित अङ्गराग का लेपन किया। उनके गले में, हाथों के अग्रभाग में, स्तनों पर, कपोलों पर पत्रावली अंकित की। वे कामदेव की प्रशस्ति-सी प्रतीत हो रही थीं। कामदेव के अवस्थान के लिए नवीन मण्डल की भांति उनके ललाट पर चंदन के सुन्दर तिलक की रचना की। उनके नेत्रों के नील कमल-वन में भावी भ्रमर-सा कज्जल सज्जित किया। उनकी कबरी विकसित कुसुमदाम से ग्रथित की। वे ऐसे लग रहे थे मानो कामदेव ने अपने अस्त्रों को रखने के लिए शस्त्रागार निर्माण किया है। चन्द्रकिरण का भी तिरस्कार करने वाले जरी खचित दीर्घांचल युक्त विवाह वस्त्र उन्हें पहनाए। पूर्व और पश्चिम दिशा के मस्तक पर जैसे सूर्य और चन्द्र रहते हैं वैसे ही उनके मस्तक पर देदीप्यमान मुकुट रखा। उनके कानों में मणिमय अवतंस पहनाए। वे अपनी शोभा से रत्नांकुरित मेघदर्वत के समस्त अभिमान को चूर कर रही थीं। कर्ण-लताओं में नवीन पुष्पमञ्जरी को भी विडम्बित करने वाले मुक्ता के सुन्दर कुण्डल पहनाए। कण्ठ में विचित्र माणिक्य कान्ति से आकाश को प्रकाशित करने वाले संक्षेप किए हुए इन्द्रधनुष की लक्ष्मी की शोभा को अपहरणकारी पदक पहनाए। भुजाओं में कामदेव

के धनुष में बंधे वीरपट से सुशोभित रत्नमण्डित बाजूबन्द पहनाए। उनके स्तन तटों पर उत्थित अवनमित नदी का भ्रम उत्पन्नकारी हार पहनाया। उनके हाथों में मणिमय कंगन पहनाए। वे जल-लता के नीचे सुशोभित जल के आलवाल से लग रहे थे। जिसके घुघरू ध्वनित हो रहे हैं ऐसी मणिमय कटिमेखला उनके कटि प्रदेश पर स्थापित की। इससे वे रतिदेवी की मंगल पाठिका-सी लग रही थीं। उनके चरणों में रत्नमय नुपुर पहनाए, जिनकी झंकार मानो उनका गुणगान कर रही है ऐसा प्रतीत होता था। देवियों ने इस प्रकार दोनों को सजाया और उनको मातृभुवन ले लाकर स्वर्णासन पर बैठा दिया। (श्लोक ७९६-८२३)

उसी समय इन्द्र ने आकर वृषभलांछन प्रभु को विवाह के लिए प्रस्तुत होने की विनती की। मुझे लोक व्यवहार का मार्ग दिखाना होगा और साथ ही मेरे जो कर्म भोग अवशेष हैं उन्हें भोगना भी होगा सोचकर प्रभु ने इन्द्र की विनती स्वीकार की। विधिज्ञाता इन्द्र ने प्रभु को स्नान करवाया, अङ्गराग लगाया और यथाविधि उन्हें सजाया। फिर प्रभु दिव्य वाहन पर बैठकर विवाह-मन्डप की ओर अग्रसर हुए। इन्द्र छड़ीदार की भांति उनके आगे चलने लगा। अप्सराएँ उनके दोनों ओर निर्मंछन करने लगीं। इन्द्राणियां श्रेयकारी धवल मंगल गीत गाने लगीं। सामानिक देवता दूसरों के रोग-दुःख ग्रहण करने लगे, गन्धर्वगण सद्यजात आनन्द से बाजा बजाने लगे। इस प्रकार प्रभु दिव्य वाहन पर चढ़े हुए विवाह-मण्डप के द्वार-प्रान्त पर आए फिर विधिज्ञाता प्रभु जिस प्रकार समुद्र अपनी मर्यादा भूमि पर आ खड़ा होता है उसी प्रकार वाहन से अवतरण कर मण्डप के द्वारप्रान्त पर आ खड़े हुए। भगवान् इन्द्र के हाथों का सहारा लेकर खड़े थे उस समय ऐसा लगा जैसे हस्ती किसी वृक्ष का सहारा लेकर खड़ा है। (श्लोक ८२४-८३१)

उस समय मण्डप की स्त्रियों ने सराव सम्पुट दरवाजे के मध्य में रखे। उसमें अग्नि और लवण था। लवण के आग में डालने के कारण उसमें 'तड़-तड़' शब्द हो रहा था। एक स्त्री जिस प्रकार पूर्णिमा की रात्रि चन्द्र को धारण करती है उसी प्रकार रौप्य का एक थाल धारण कर भगवान् के सामने आ खड़ी हुई। उसमें दूर्वा आदि मांगलिक द्रव्य रखे हुए थे। एक स्त्री कुसुम्भी वस्त्रों

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी

को पहनकर पांच पत्र विशिष्ट मन्थन-दण्ड जो कि प्रत्यक्ष मंगलरूप था लेकर अर्घ देने के लिए भगवान् के सम्मुख खड़ी हो गई। 'हे अर्घदानकारिणी, अर्घ देने योग्य इस वर को अर्घ दे, मक्खन छोट, समुद्र जैसे अमृत उछालता है वैसे थाल में से दही उछाल', 'हे सुन्दरी, नन्दनवन से लाए हुए चन्दन का रस तैयार कर। भद्रशाल वन की से जो दूब लाई गई थी वह ले आ। जिन भगवान् के ऊपर उपस्थित सभी लोगों के नेत्रों द्वारा जो मंगल तोरण निर्मित हुआ है और जो त्रिलोक में उत्तम हैं ऐसे वर तोरण द्वार पर खड़े हैं। उनका शरीर उत्तरीय आवरण से ढका है। देखकर लगता है मानो गंगा नदी की तरंग में नवीन राजहंस जैसे आच्छादित हो गया है', 'हे सुन्दरी, हवा से फल झरने लगे हैं, चन्दन सूखने लगा है अतः वर को अधिक देर तक द्वार पर खड़ा मत रखो'—बीच-बीच में ऐसा कहती हुई देवांगनाएँ धवल मंगलगीत गाने लगीं। उस अर्घदानकारिणी स्त्री ने वर को अर्घदान किया। प्रवालओष्ठा उस देवी ने धवल मंगल से शब्द करते हुए कंकणयुक्त हाथों से त्रिलोक स्वामी के ललाट को मन्थनदण्ड से तीन बार स्पर्श किया। तब भगवान् ने क्रीड़ावश बाएँ पैर से, जिस प्रकार हिमखण्ड को चूर किया जाता है, उसी प्रकार अग्नि सहित सराव सम्पुट को चूर-चूर कर दिया। अर्घ-प्रदानकारिणी देवी ने भगवान् के कण्ठ में कुसुम्भी वस्त्र स्थापित किया। उस वस्त्र द्वारा आकृष्ट होकर प्रभु ने मातृ-भवन में प्रवेश किया। (श्लोक ८३२-८४३)

वहीं कामदेव के कन्द की भांति मदन-फल से सुशोभित सूत्र वर-वधू के हाथों में बांधा गया। देवियों ने वर को मातृदेवियों के सम्मुख उच्च सुवर्ण सिंहासन पर बैठाया। वे वहां इस प्रकार शोभित हुए जैसे मेरु पर्वत के शिखर पर सिंह सुशोभित होता है। सुन्दरियों ने शमी और पीपल वृक्ष की छाल का चूर्ण दोनों कन्याओं की हथेली में लेपन किया। उस कामदेव रूपी वृक्ष का दोहद पूर्ण किया है ऐसा लगता था। जब लग्न का ठीक समय उपस्थित हुआ तब सावधानी से प्रभु ने दोनों कन्याओं के लेपयुक्त हाथों को अपने हाथ में धारण किया। उसी समय इन्द्र ने उनके लेपयुक्त हाथों में एक-एक मुद्रिका उसी प्रकार रखी जैसे जलपूर्ण मिट्टी में धान्य का बीज-वपन किया जाता है। प्रभु के दोनों हाथ जब उनके दोनों हाथों से मिलित हुए तब वे दो शाखाओं में लता वेष्टित होने पर वृक्ष जिस प्रकार शोभित

होता है वैसे ही शोभित होने लगे। नदी का जल जैसे समुद्र में मिल जाता है वैसे ही वधुओं के नेत्र वर के नेत्रों से मिले। वायुहीन जल की तरह वर-वधू के नयन नयन से और मन मन से मिलित हुए। वे एक दूसरे की अक्षि-तारकाओं में प्रतिबिम्बित होने लगे। वे ऐसे लगने लगे जैसे प्रेम में वे एक दूसरे में समाहित हो गए।

(श्लोक ८४४-८५२)

उसी समय विद्युत्प्रभादि गजदन्त जिस प्रकार मेरु के निकट ही रहते हैं वैसे ही सामानिक देवतागण अनुचरों की भांति भगवान् के निकट अवस्थित थे। कन्याओं के साथ जो स्त्रियां थीं उनमें चतुर परिहास-रसिका इस प्रकार परिहास-गीत गाने लगी : जैसे तृषार्त ग्रस्त व्यक्ति समस्त समुद्र का जलपान करने की इच्छा करता है उसी प्रकार अनुचरगण समस्त मोदक खाने की इच्छा कर रहे हैं। कुकुर जिस प्रकार प्याज पर अपनी अखण्ड दृष्टि रखता है उसी प्रकार भण्डार पर लगी हुई इन अनुचरों की दृष्टि कुकुर-दृष्टि से प्रतिस्पर्द्धा कर रही है। जन्म से ही जिसने कभी भोज नहीं खाया ऐसे गरीब बालक की तरह इन अनुचरों का मन वृहद् भोज के लिए लालायित हो उठा। चातक जिस प्रकार मेघ वारि की इच्छा करता है, याचक धन की, उसी प्रकार ये सब अनुचर सुपारी पाने की इच्छा कर रहे हैं। गाएं जैसे घास खाने की इच्छा करती हैं उसी प्रकार ताम्बूल पत्र खाने के लिए सभी अनुचर उत्कण्ठित हैं। मक्खन पिण्ड को देखकर जैसे बिलाव की जीभ से जल गिरने लगता है वैसे ही चूर्ण खाने के लिए इनकी जीभों में जल भर आया है। कर्दम से जैसे भैंस आकृष्ट होती है उसी प्रकार उन सबका मन विलेपन में आकृष्ट हो गया है। उन्मत्त व्यक्ति जैसे निर्माल्य में प्रीति रखते हैं उसी प्रकार इनकी दृष्टि पुष्पदाम पर अटकी हुई है।

(श्लोक ८५३-८६२)

इस प्रकार परिहासपूर्ण गीत सुनने के लिए देवतागण कौतूहल-वश उत्कर्ण और ऊर्ध्वमुख होकर अनवरत देख रहे थे। उस समय वे चित्रलिखित से लग रहे थे। (श्लोक ८६३)

लोगों को यह व्यवहार दिखाने योग्य है ऐसा समझकर वाद-विवाद में निर्वाचित मध्यस्थ की भांति प्रभु इन सब को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगे। (श्लोक ८६४)

तत्पश्चात् इन्द्र ने प्रभु के उत्तरीय के साथ दोनों देवियों के उत्तरीय इस प्रकार बांध दिए जैसे जहाज के साथ नौका बांधी जाती है। आभियोगिक देवताओं की तरह स्वयं इन्द्र भक्ति से भरकर भगवान् को गोद में उठाकर वेदीगृह ले जाने लगे। इन्द्राणियां दोनों देवियों को गोद में लेकर मङ्गल करती हुई छड़ीदार भगवान् के साथ-साथ चलने लगीं। त्रिलोक के शिरोमणि रत्न समान वधुएं और वर ने पूर्व द्वार से वेदी-स्थल में प्रवेश किया। किसी वायस्त्रिंश देव ने उसी क्षण वेदी से इस प्रकार अग्नि प्रकटित की मानो अग्नि पृथ्वी से ही निकल रही है। उसमें समिध डालते ही अग्नि इस प्रकार आकाश में फैल गई मानो आकाशचारी विद्याधर कन्याओं की अवतंस श्रेणी हो। (श्लोक ८६५-८७०)

स्त्रियां मंगल गीत गा रही थीं। प्रभु ने सुमंगला और सुनन्दा के साथ सप्तपदी पूर्ण होने तक वेदी की प्रदक्षिणा दी। फिर जब आशीर्वाद गीत प्रारम्भ हुआ तब इन्द्र ने तीनों के हाथों को पृथक् किया और उत्तरीय ग्रन्थि को खोल दिया। (श्लोक ८७१-८७२)

तदुपरान्त प्रभु के विवाहोत्सव से आनन्दित इन्द्र सूत्रधार की तरह इन्द्राणियों सहित हस्ताभिनय प्रदर्शित कर नृत्य करने लगे। पवन द्वारा आन्दोलित वृक्ष के साथ जैसे आश्रित लता भी नृत्य करने लगती है वैसे ही इन्द्र के साथ अन्य देवता नृत्य करने लगे। कोई-कोई भरत नाट्य पद्धति से विचित्र प्रकार से नृत्य करने लगे। किसी-किसी ने इस प्रकार का गीत गाना प्रारम्भ किया जैसे वे गन्धर्व जाति के हैं। कोई-कोई अपने मुख से ऐसी ध्वनि निकालने लगे मानो उनका मुख वादित्र हो। कोई-कोई चपलतावश बन्दर की तरह ही कूद-फांद करने लगे। कोई विदूषक की भांति लोगों को हँसाने लगे। इस प्रकार हर्षोन्मत्त होकर जिनके सम्मुख भक्ति प्रकट की गई वे भगवान् आदिनाथ प्रभु सुमंगला और सुनन्दा को अपने दोनों ओर बैठाकर दिव्य वाहन पर आरोहण कर अपने आवास को लौट गए। (श्लोक ८७३-८७९)

नाट्यशाला का कार्य समाप्त होने पर सूत्रधार जैसे अपने घर लौट जाता है उसी प्रकार विवाहोत्सव समाप्त कर इन्द्र देवलोक को लौट गए। तभी से प्रभु ने जिस प्रकार विवाह-पद्धति प्रदर्शित की वह लोक में प्रचलित हो गई। कारण, महापुरुषों की प्रकृति अन्य के मंगल के लिए ही हो जाती है। (श्लोक ८८०-८८१)

अनासक्त होने पर भी प्रभु तदुपरान्त अपनी दोनों पत्नियों के साथ भोग-सुख उपभोग करने लगे। इस प्रकार उनके भोगावली कर्मों का जो पहले बन्धन हो गया था वह बिना भोगे क्षय होने वाला नहीं था। विवाहोपरान्त प्रभु ने छह लाख से कुछ कम समय तक दोनों पत्नियों के साथ सुखभोग में निरत रहे। (श्लोक ८८२-८८३)

उसी समय बाहु और पीठ के जीव स्वार्थसिद्धि विमान से च्युत होकर सुमंगला की कुक्षि में एवं सुबाहु और महापीठ के जीव सुनन्दा की कुक्षी में युग्म रूप से उत्पन्न हुए। मरुदेवी की भांति गर्भ के माहात्म्य को सूचित करने वाले चौदह महास्वप्न सुमंगला देवी ने देखे। सुमंगला ने स्वप्न के विषय में प्रभु को बताया। प्रभु ने कहा—'तुम्हारे चक्रवर्ती पुत्र होगा।' (श्लोक ८८४-८८७)

समय प्राप्त होने पर पूर्व दिशा जिस प्रकार सूर्य और सन्ध्या को जन्म देती है उसी प्रकार सुमंगला देवी ने निज कान्ति से दिक्-समूह प्रकाशकारी दो बच्चों को जन्म दिया। उनमें पुत्र का नाम भरत, पुत्री का नाम ब्राह्मी रखा गया। (श्लोक ८८८)

वर्षा ऋतु जैसे मेघ और विद्युत को जन्म देती है उसी प्रकार सुनन्दा ने सुन्दर आकृतियुक्त बाहुबली और सुन्दरी को जन्म दिया। (श्लोक ८८९)

तदुपरान्त विंदुर पर्वत की धरती जैसे रत्न उत्पन्न करती है उसी प्रकार सुमंगला ने उनचास युग्म पुत्रों को जन्म दिया। महा-पराक्रमी और उत्साही वे बालक क्रीड़ा करते हुए विन्ध्य पर्वत के हस्तिशावकों की तरह वर्द्धित और पुष्ट होने लगे। वृक्ष जैसे अनेक शाखाओं से शोभित होता है उसी प्रकार अपने पुत्रों से परिवृत भगवान् ऋषभ सुशोभित होने लगे। (श्लोक ८९०-८९२)

प्रभात के समय जिस प्रकार प्रदीप का आलोक कम हो जाता है उसी प्रकार काल दोष से कल्पवृक्ष का प्रभाव कम होने लगा। अश्वत्थ वृक्ष में जैसे लाक्षारस उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार युगलिकों के मध्य धीरे-धीरे क्रोधादि कषाय उत्पन्न होने लगे। सर्प जैसे तीन प्रकार की ताड़नाओं की परवाह नहीं करता उसी प्रकार युगलिक भी हाकार, माकार, धिक्कार तीन प्रकार की नीतियों की उपेक्षा करने लगे। तब युगलिकों के मध्य जो विचक्षण थे वे प्रभु के निकट

आकर उनके पिता के राज्य में जो अनुचित घटना घट रही थी उसे सुनाया। सुनकर तीन ज्ञान के धारक प्रभु ने जाति स्मरण ज्ञान से कहा—संसार में जो मर्यादा का उल्लंघन करता है उन्हें दण्ड देने के राजा लिए होते हैं; किन्तु राजा को उच्चासन पर बैठाकर पहले उसका अभिषेक किया जाता है। उसके हाथ में अखण्ड अधिकार और चतुरंगिनी सेना रहती है।' (श्लोक ८९३-८९८)

यह सुनकर वे बोले—'हे स्वामी, आप हमारे राजा बनिए। हमारी उपेक्षा आपके लिए उचित नहीं है। कारण, हमारे मध्य आप जैसा कोई नहीं है।' (श्लोक ८९९)

भगवान् बोले—'तुम लोग उत्तम कुलकर नाभि के पास जाकर प्रार्थना करो। वे तुम्हें राजा देंगे।'

तब उन्होंने कुलकराग्रणी नाभि के पास आकर निवेदन किया। नाभि ने कहा—'ऋषभ तुम्हारे राजा हों।

(श्लोक ९००-९०१)

युगलिकगण भगवान् के अभिषेक के लिए जल लेने गए। उसी समय स्वर्गाधिपति इन्द्र का सिंहासन कम्पित हुआ। उन्होंने अवधिज्ञान से प्रभु का राज्याभिषेक समय जानकर लोग जिस प्रकार एक घर से दूसरे घर में जाते हैं उसी प्रकार क्षणमात्र में अयोध्या आकर उपस्थित हुए। (श्लोक ९०२-९०४)

सौधर्म कल्प के उन इन्द्र ने स्वर्णवेदिका निर्मित कर अति पाण्डुकबला शिला की भांति उस पर एक सिंहासन स्थापित किया। पूर्वदिक् के अधिपतियों ने स्वस्तिवाचक की भांति देवताओं द्वारा लाए गए तीर्थजल से प्रभु का अभिषेक किया। इन्द्र ने प्रभु को दिव्य वस्त्र पहनाए। निर्मलता के कारण वे उस समय चन्द्र की भांति सुन्दर और तेजोमय लगने लगे। फिर इन्द्र ने उनके सर्वांग पर मुकुटादि अलङ्कार धारण करवाए। उसी समय युगलिक भी जल लेकर आ गए। भगवान् को दिव्य वस्त्र से भूषित देखकर वे सामने आकर इस प्रकार खड़े हो गए मानो उन्हें अर्घदान दे रहे हों। दिव्य वस्त्रालङ्कारों से विभूषित प्रभु के मस्तक पर जल डालना उचित नहीं समझकर उन्होंने कमल पत्र में लाया हुआ जल प्रभु के पैरों पर समर्पित कर दिया। इससे इन्द्र समझ गए कि वे अत्यन्त

विनीत हैं। उन्होंने कुबेर को उनके निवास के लिए विनीता नामक नगरी की स्थापना का आदेश दिया। फिर इन्द्र देवलोक को लौट गए। (श्लोक ९०५-९११)

कुबेर ने बारह योजन दीर्घ और नौ योजन प्रशस्त विनीता नामक नगरी स्थापित की। विनीता का दूसरा नाम अयोध्या था। यक्षपति कुबेर ने उस नगरी को अक्षय वस्त्रालङ्कार और धन-धान्य से पूर्ण किया। उस नगरी में हीरक, इन्द्रनील और वैदूर्यमणि निर्मित बृहद्-बृहद् अट्टालिकाएँ अपने किरण जाल से दीवालरहित आकाश में भी विचित्र चित्ररचना कर रही थीं। मेरु पर्वत के शिखर तुल्य उच्च स्वर्ण अट्टालिकाएँ पताकाओं से सुशोभित होकर बन्दनवार की लीला को विस्तृत कर रही थीं। दुर्ग प्राकार के ऊपर संयुक्त शुद्ध स्तम्भ श्रेणी माणिक्य द्वारा निर्मित हुई थीं। वे विद्याधर सुन्दरियों के लिए अनायास ही दर्पण का कार्य कर रही थीं। उस नगर के प्रत्येक गृह-आंगन में मुक्ता के स्वस्तिक अंकित थे। उन मुक्ताओं से लड़कियाँ कर्कटक खेल खेलती थीं। उस नगरी के उद्यान से बृहद्-बृहद् वृक्ष से दिन-रात धक्का खाकर मेघरों के विमान कुछ क्षण के लिए विहग नीड़ों का भ्रम उत्पन्न करते थे। विपणियों और गृहों स्थित रत्नराशि देखकर शिखर सम्पन्न रोहणाचल की शंका हो जाती। गृह वापिकाएँ जलक्रीड़ारत सुन्दरियों की मुक्तामाला छिन्न हो जाने से ताम्रपर्णी शोभा धारण करते थे। वहां के श्रेष्ठी इतने धनी थे कि श्रेष्ठी पुत्रों को देखकर लगता जैसे स्वयं कुबेर वहां वाणिज्य करने आए हैं। रात्रि के समय चन्द्रकान्त मणि की दीवाल से प्रवाहित जल से धूल स्थिर हो जाती। अयोध्या नगरी अमृत तुल्य जलपूर्ण असंख्य कुओं, वापी और सरोवरों से नवीन अमृत के कुण्ड पूर्ण नागलोक-सी शोभित होती थी। (श्लोक ९१२-९२३)

प्रभु जब बीस लाख पूर्व के हुए तब प्रजा पालन के लिए राजा हुए। मन्त्रों के मध्य जैसे ॐकार है वैसे ही राजाओं के मध्य प्रथम राजा वृषभ अपनी सन्तान की ही तरह प्रजा का पालन करने लगे। उन्होंने दुष्टों को दण्ड देने के लिए और सत्पुरुषों के पालन के लिए उग्रमी मन्त्री नियुक्त किए। वे प्रभु के अङ्गस्वरूप थे। महाराजा ऋषभ ने अपने राज्य की चोरी आदि से रक्षा करने के लिए इन्द्र

के लोकपाल की तरह चतुर चौकीदार नियुक्त किए। राज्य हस्ती की तरह प्रभु राज्य की रक्षार्थ के लिए शरीर के उत्तम अङ्ग सदृश सेनापति की तरह सैन्य के उत्कृष्ट अङ्ग स्वरूप हस्ती रखे। सूर्याश्व के स्पर्द्धाकारी उच्च ग्रीवा सम्पन्न उच्च जाति के अश्वों से प्रभु ने हय-शाला पूर्ण की। नाभिनन्दन ने उत्तम काष्ठ से संश्लिष्ट सुन्दर रथ तैयार करवाया। चक्रवर्त्ती जन्म में एकत्र की थी ऐसी परीक्षित सामर्थ्ययुक्त पदातिक सैन्य एकत्र की। उन्होंने जो सेनापति नियुक्त किए वे नूतन साम्राज्य के स्तम्भ रूप प्रतीत होते थे। गाएँ, भैंसें, बलिवर्द, खच्चर, ऊँट आदि पशुओं को भी व्यवहार ज्ञाता प्रभु ने एकत्र किया। (श्लोक ९२४-९३३)

उस समय पुत्रहीन वंश की भांति कल्पवृक्ष विनष्ट हो जाने पर मनुष्यों ने फल-मूल आदि खाना प्रारम्भ किया। चावल, गेहूं, चना, दाल आदि शस्य भी तब अपने से ही तृण की भांति उगने लगे थे। युगलिक उन्हें बिना पकाए ही खाते; किन्तु अपक्व अन्न हजम न होने के कारण उन्होंने प्रभु से यह बात निवेदन की। प्रभु ने कहा—'उनका छिलका उतार कर खाओ।' प्रभु के आदेशानुसार उन्होंने इसी प्रकार शस्य खाना आरम्भ किया; किन्तु सख्त होने के कारण वह भी उन्हें नहीं पचा। तब वे फिर प्रभु के निकट गए। भगवान् ने कहा—'पहले शस्य को हाथ से मसलो फिर उन्हें जल में भिगो दो। फिर पत्ते के दोने में रखकर खाओ।' उन्होंने इसी प्रकार शस्य खाना आरम्भ किया। फिर भी उनका अजीर्ण दूर नहीं हुआ। तब वे फिर प्रभु के निकट आए। प्रभु ने कहा—'उपर्युक्त विधि करने के पश्चात् मुष्ठि या बगल में उस शस्य को इस प्रकार रखो जिससे वह उष्ण हो जाए फिर खाओ।' इस प्रकार खाने पर भी अजीर्ण दूर नहीं हुआ। वे क्रमशः दुर्बल होने लगे। उसी समय एक दिन दो वृक्ष शाखाओं के घर्षण से अग्नि उत्पन्न हुई।

(श्लोक ९३४-९४१)

उस अग्नि ने घास और वृक्ष लतादि को जलाना आरम्भ किया। लोगों ने उस ज्वलन्त अग्नि को रत्न समझकर रत्न लेने के लिए हस्त प्रसारित किया। उससे उनके हाथ जल गए। तब वे प्रभु के निकट जाकर बोले—'वन में एक अद्भुत भूत उत्पन्न हुआ है।' प्रभु बोले—'स्निग्ध और रूक्ष काल मिलित होने से अग्नि प्रकट हुई

है। एकान्त रूक्ष और एकान्त स्निग्ध काल में अग्नि कभी प्रकट नहीं होती। तुम उसके पास जो गुल्म तृणादि हैं उन्हें उसके पास सरका दो। फिर उसी अग्नि में पूर्व कथित विधि से तैयार किया हुआ शष्य पकाओ।' पकने पर उसे खाओ।' (श्लोक ९४२-९४६)

मार्गदर्शक : आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

उन अज्ञानियों ने शष्य अग्नि में डाल दिया। अग्नि ने उसे जला डाला। तब वे प्रभु के पास आकर बोले—'प्रभु, लगता है अग्नि क्षुधार्त है। इस अग्नि में जितना शष्य निक्षेप किया उसने सब उदरस्थ कर लिया। एक दाना भी नहीं लौटाया।' उस समय प्रभु हस्ती पर आरूढ़ थे। उन्होंने उसी समय उन्हें जल में भीगी मिट्टी का पिण्ड लाने को कहा। उस मिट्टी को हाथी के मस्तक पर रखकर हाथ से विस्तृत करते हुए हाथी के मस्तक के आकार का एक पात्र तैयार किया। इस प्रकार शिल्प के मध्य प्रभु ने कुम्हार का शिल्प सर्वप्रथम प्रकट किया। फिर उन्होंने कहा—'इसी प्रकार और बहुत से पात्र बनाओ। उन्हें अग्नि पर रखकर सुखा लो। फिर उसी पात्र में भीगे हुए शष्य रखकर पकाओ। शष्य पक्व हो जाने पर पात्र अग्नि से नीचे उतारो, फिर खाओ।' उन्होंने प्रभु की आज्ञानुसार समस्त कार्य किया। तभी से प्रथम कारीगर कुम्हार हुआ। फिर प्रभु ने वर्द्धकी अर्थात् गृहनिर्माणकारी राजमिस्त्रियों की सृष्टि की। कहा भी गया है महापुरुष जो कुछ भी करते हैं संसार के मंगल के लिए ही करते हैं। घर में चित्र बनाने और क्रीड़ा के लिए प्रभु ने चित्रकला की शिक्षा देकर अनेक लोगों को चित्रकार बना दिया। वस्त्र बुनने के लिए जुलाहे तैयार किए। कारण, उस समय सभी कल्पवृक्षों के स्थान पर प्रभु ही एकमात्र कल्पवृक्ष थे। लोगों को केश और नख बढ़ जाने से कष्ट उठाते देख उन्होंने नाई बनाए। इन पांच शिल्पों में (कुम्हार, राजमिस्त्री, चित्रकार, जुलाहा और नाई) प्रत्येक के बीस-बीस भेद हुए। इससे वे शिल्प नदी के प्रवाह की तरह एक सौ रूप में विस्तृत हुए (अर्थात् शिल्प एक सौ प्रकार का हुआ)। लोगों की जीविका के लिए प्रभु ने घसियारा, लकड़हारा, किसान और वणिक कार्य की शिक्षा दी। उन्होंने साम, दाम, दण्ड, भेद नीति का प्रवर्तन किया। ये चार प्रकार की नीतियां जगत् की व्यवस्था रूप नगरी के मानो चार पथ थे। (श्लोक ९४७-९५९)

ज्येष्ठ पुत्र को ब्रह्म कहना उचित है। इसी दृष्टि से भगवान्

ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को बहत्तर कलाओं की शिक्षा दी। भरत ने भी उन कलाओं को अपने भाइयों और पुत्रों को सिखाया। कारण, योग्य व्यक्तियों को प्रदत्त शिक्षा शत शाखायुक्त हो जाती है। प्रभु ने बाहुबली को हस्ती, अश्व, स्त्री और पुरुष के अनेक भेदयुक्त लक्षणों का ज्ञान दिया। ब्राह्मी को दाहिने हाथ से अठारह लिपियां और सुन्दरी को बाएं हाथ से गणित शिक्षा प्रदान की। वस्तु के मान (मात), उन्मान (तोला-माशादि वजन), अवमान (गज, हाथ, अंगुल आदि माप), प्रतिमान (सेर, पाव आदि वजन) की शिक्षा देने के साथ मणि आदि गूंथने की कला भी सिखायी।

(श्लोक९६०-९६४)

राजा, अध्यक्ष, कुलगुरु के समक्ष वादी - प्रतिवादी जैसा व्यवहार प्रचलित हुआ। हस्तीपूजा, धनुर्वेद, वैद्य की उपासना, युद्ध, अर्थशास्त्र, बन्धघात और वध अर्थात् कैद, कशाघात, प्राणदण्ड और सभा संगठन उसी समय से प्रवर्तित हुआ। यह मेरी माँ है, ये मेरे पिता हैं, यह भाई, यह स्त्री, यह पुत्र, यह मेरा घर, यह मेरा धन आदि मेरे का ममत्व बोध उसी समय से प्रचलित हुआ। लोगों ने प्रभु को विवाह के समय अलङ्कारों से अलंकृत और वस्त्रों से सुसज्जित देखा था अतः वे भी स्वयं को वस्त्रों व अलङ्कारों से सुसज्जित करने लगे। भगवान् को उन्होंने पाणिग्रहण करते देखा था अतः लोग उस समय से आज तक वैसा ही करते आ रहे हैं। कारण, महापुरुषों के द्वारा पथ चिरन्तन होता है। प्रभु के विवाह से ही अन्य के द्वारा प्रदत्त कन्या के साथ विवाह करने का प्रयास प्रारम्भ हुआ। चूड़ाकर्म (जातक को सर्वप्रथम मुण्डन कर शिखा रखना), उपनयन (यज्ञोपवीत धारण), युद्धनाद, प्रश्न भी तभी से आरम्भ हुआ। ये समस्त कार्य यद्यपि सावद्य है फिर भी प्रभु ने संसारी लोगों के मंगल के लिए इनका प्रवर्त्तन किया। उनकी आम्नाय में आज तक पृथ्वी पर वह कला प्रवर्त्तित है। अर्वाचीन बुद्धि के पण्डितगणों ने इस विषय में अनेक शास्त्रों की रचना की है, वे प्रभु के उपदेश से चतुर हुए हैं। कारण, उपदेशक नहीं रहने से मनुष्य पशु-सा व्यवहार करता। (श्लोक ९६५-९७३)

विश्व की स्थिति रूपी नाटक के सूत्रधार प्रभु ने उग्र, भोग, राजन्य और क्षत्रिय नामक चार कुल स्थापित किए। दण्डदानकारी

(आरक्षक और दुष्टों को दण्ड देने वाला) सम्प्रदाय के लोग उग्रकुल के अभिहित हुए। इन्द्र के जैसे त्रायस्त्रिंश देवता रहते हैं उसी प्रकार जो उन्हें परामर्श देते (मन्त्री) उन्हें भोगकुल के अन्तर्गत रखा गया। प्रभु के समान आयु सम्पन्न जो प्रभु के साथ ही रहते थे और उनके मित्र थे वे राजन्य कहलाए। अवशिष्ट व्यक्ति क्षत्रिय नाम से परिचित हुए। (श्लोक ९७४-९७६)

इस प्रकार प्रभु नवीन व्यवहार नीति का प्रवर्त्तन कर नवोढ़ा स्त्री की भांति नवीन राज्यलक्ष्मी का उपभोग करने लगे। वैद्य जिस प्रकार रोग की चिकित्सा करता है, यथायोग्य औषधि देता है उसी भांति उन्होंने अपराधियों के अनुरूप दण्ड देने का विधान दिया। दण्ड के भय से भयभीत साधारण मनुष्य चोरी आदि अपराध से विरत रहते। कारण, दण्ड सभी प्रकार के अपराध रूपी सर्प को वशीभूत करने का विषोपहारक मन्त्र है। जिस प्रकार सुशिक्षित लोग प्रभु की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते उसी प्रकार वे भी किसी के गृह, क्षेत्र और उद्यानों की मर्यादा भी लंघन नहीं करते थे। वृष्टि भी जैसे मेघाडम्बर में प्रभु के न्याय धर्म की प्रशंसा करती और समय पर धान्य क्षेत्रों में जल देने के लिए हारि वर्षण करती। हवा में लहराते हुए धान के क्षेत्र, इक्षु के क्षेत्र, गोव्रज, चांचल्यमय नगर और ग्राम समृद्धि से इस प्रकार शोभित थे मानो स्वामी की ऋद्धि को इंगित कर रहे हैं। भगवान् ने सभी को क्या त्याज्य है, क्या ग्रहणीय है इसका ज्ञान करवाया। परिणामतः भरत क्षेत्र प्रायः विदेह क्षेत्र की भांति हो गया। इस भांति नाभिराज के पुत्र ने राज्याभिषेक के पश्चात् त्रेसठ लाख पूर्व तक पृथ्वी का पालन किया। (श्लोक ९७७-९८४)

एक बार कामदेव का निवास-स्थल वसन्त ऋतु आयी। परिवार-परिजनों के अनुरोध पर प्रभु उपवन में गए। वहां मानो वसन्त ऋतु देह धारण कर आई है इस प्रकार फूलों के अलङ्कार से सज्जित होकर वे पुष्प गृह में उपवेशित हुए। उस समय पुष्प और आम्रमञ्जरी के मकरन्द से उन्मत्त होकर भ्रमरगण गुञ्जन कर रहे थे। जगता था मानो वसन्त लक्ष्मी ही प्रभु का स्वागत कर रही है। पंचम स्वर में गाने वाली कोकिला ने नाटयारम्भ के पूर्व का मंगलाचरण प्रारम्भ किया तब मलय पवन नट बनकर लतारूपी रमणियों

आशीर्वाद :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

को नृत्य-शिक्षा देने में प्रवृत्त हो गया। मृगलोचनाएँ अपने-अपने कामुक पतियों की तरह कुरुबक, अशोक और बकुलवृक्ष को आलिंगन करने लगीं, उन्हें पदाघात कर अपने-अपने मुख का मदपान करवाया। तिलक वृक्ष ने अपनी प्रबल सुगन्धों से भ्रमरों को तुष्ट कर युवकों के ललाट की भांति वन को सुशोभित किया। पीत पुष्पा लवली लता अपने पुष्पगुच्छों के भार से इस प्रकार झुकी हुई थी जिस प्रकार कृशांगी अपने परिपुष्ट स्तनों के भार से झुकी रहती है। चतुर कामी पुरुष जिस प्रकार मन्द-मन्द आलिंगन करता है उसी प्रकार मलय पवन आम्रलताओं को धीरे-धीरे आलिंगन करने लगा। वेत्रधारी पुरुषों की तरह कामदेव जम्बू, कदम्ब, आम्र और चम्पक वृक्ष रूपी वेत्रों से पथिकों को आहूत करने लगा। नवीन पाटल पुष्प के सम्पर्क से सुगन्धित मलय-पवन सबको आनन्दित करने लगा। मकरन्दपूर्ण महुआवृक्ष भ्रमरों के गुञ्जन से इस प्रकार गुञ्जित हो रहे थे जैसे मधुपात्र भ्रमर गुञ्जन से गुञ्जरित होते हैं। गोलक और धनुष अभ्यास के लिए कामदेव ने मानो कदम्ब पुष्प के गोलक तैयार किए। परोपकार ही (सरोवर खनन, जलगृह निर्माण आदि) जिनका इष्ट है इस प्रकार पवन ने वासन्ती लता के भ्रमर रूपी पान्थों के लिए मकरन्द गृह निर्माण कर रखा था। जिन पुष्पों का मामोदी प्रभाव बहुत कष्ट से निवारित किया जाता है ऐसे सिन्धुवार वृक्षों ने पान्थों की नासिकाओं में सुगन्ध बहन कर उन्हें मुग्ध बना दिया। बसन्त रूपी उद्यान पालक के द्वारा नियुक्त होकर चम्पक वृक्ष अवस्थित भ्रमर निःशंक होकर विचर रहे थे। यौवन जिस प्रकार स्त्री-पुरुष को सुशोभित करता है उसी प्रकार बसन्त ऋतु भी अच्छी-बुरी सभी प्रकार की लताओं और वृक्षों को सुशोभित कर रही थी। मृगाक्षियां पुष्पचयन कर रही थीं मानो वे महापर्व में बसन्त को अर्घ देने की तैयारी कर रही हों। पुष्प चयन के समय उनके मन में यह भी आया होगा कि इनके रहते कामदेव को अन्य पुष्प धनुष की क्या आवश्यकता है? वासन्ती लता के पुष्पचयन किए जा रहे थे उन पर भ्रमर इस प्रकार गुञ्जन कर रहे थे मानो पुष्पों के वियोग में वे सब गुञ्जन के बहाने क्रन्दन कर रहे हैं। कोई सुन्दरी मल्लिका पुष्पचयन करने जा रही थी, उसके उत्तरीय प्रान्त के अटक जाने के कारण वह वहीं खड़ी रही, इससे लगता है जैसे मल्लिका उसका उत्तरीय प्रान्त पकड़कर उसे दूर नहीं जाने देती।

एक सुन्दरी चमेली फूल तोड़ना चाह रही थी; किन्तु वहां बैठे एक भ्रमर ने उसके ओष्ठों का दर्शन कर लिया मानो उसके आश्रय-भङ्गकारी पर रुष्ट हो गया था। कोई सुन्दरी बाहुलता ऊँची कर पुष्प चयन करने के साथ-साथ उसके बाहुमूलों पर बद्ध दृष्टि पुरुष का हृदय भी बन कर रही थी। [illegible] पुष्पों के गुच्छों को हाथ में रखकर पुष्प चयनकारिणियां संचरमान लता-सी लग रही थीं। वृक्ष शाखाओं पर कौतुकवश पुष्प चयनकारिणियों ने झूलना प्रारम्भ कर दिया था। उन्हें देखकर लगता है मानो उस वृक्ष में स्त्रीरूप फल झूल रहा है। कोई युवक स्वयं ही मल्लिका कलियां चयन कर अपनी प्रिया के लिए मुक्ता-माला-सी माला एवं अन्य अलंकार प्रस्तुत कर रहा था। किसी ने अपनी प्रिया की कबरी को विकसित फूलों से इस प्रकार भर दिया मानो कामदेव के तूणीर को उसने सजा दिया है। कोई पांच रंग के फूलों से इन्द्रधनुषी माला अपने हाथों से गूँथ कर अपनी प्रिया को पहनाकर प्रसन्न कर रहा था। कोई युवक क्रीड़ाछल से निक्षिप्त पुष्पकन्दुक भृत्य की भांति आहरण कर ला-लाकर अपनी प्रिया को दे रहा था। कुछ मृगाक्षियां झूले में झूलती हुई सामने के वृक्ष पर इस प्रकार पदाघात कर रही थीं मानो अपराधी पति पर पैर से प्रहार कर रही हों। कोई नवोढ़ा सखियों द्वारा पति का नाम पूछने पर लज्जा से आनमित होकर उनके पद-प्रहार को सहन कर रही थीं। कोई युवक अपने सामने बैठी भयभीत प्रिया को गाढ़ आलिंगन देने की इच्छा से खूब जोर से झूला ले रहा था। वृक्षों की शाखाओं पर बंधे झूले रसिकजनों के अधिक वेग से धावित करने के कारण वृक्षों के पत्रों के मध्य बार-बार आने-जाने से वे मर्कट से लगते थे। (श्लोक ९८५-१०१६)

इस प्रकार नगरनिवासियों को लीला-विलास में मग्न देख कर प्रभु के मन में विचार उत्पन्न हुआ कि क्या अन्यत्र भी इसी प्रकार लीला-विलास होता है? विचार करते-करते अवधिज्ञान से पूर्व जन्मों से लेकर अनुत्तर विमान पर्यन्त समस्त स्वर्ग उन्हें स्मरण हो आए। चिन्तन करते हुए उनका मोह भंग हुआ। वे सोचने लगे—इन विषयाक्रान्त मनुष्यों को धिक्कार है! ये आत्मसुख के विषय में कुछ नहीं जानते। हाय! ये संसार रूपी कूप में यन्त्रारूढ़ कलश की भांति बार-बार यातायात करते हैं। मोहान्ध मनुष्यों के जन्म को

हो धिक्कार है ! इनका जीवन उसी प्रकार व्यर्थ बीत जाता है जैसे निद्रा रहित मनुष्यों की रात्रि व्यर्थ व्यतीत होती है। सत्य ही कहा गया है—राग, द्वेष और मोह उद्योगी प्राणी के धर्म-मूल को उसी प्रकार कुतर देता है जैसे वृक्ष की जड़ को चूहा विनष्ट कर देता है। मोहान्ध जीव वट-वृक्ष की भांति क्रोध को विस्तृत कर देता है। यही क्रोध जो उसे वर्द्धित करता है उसी को समूल ग्रस लेता है। मान पर आरूढ़ व्यक्ति हाथी पर [illegible] की तरह किसी की सुविधा भी परवाह न कर मर्यादा का लंघन करता है।

दुराशय प्राणी कोंच बीज की फली की भांति उत्पातकारी माया का परित्याग नहीं करते। तुषोदक से जिस प्रकार दूध नष्ट हो जाता है, काजल से जिस प्रकार उज्ज्वल वस्त्र मलिन हो जाता है उसी प्रकार लोभ से जीव अपने उत्तम गुणों को मलिन कर देता है। जब तक इस संसार रूपी बन्दी गृह के चार कषाय रूपी चौकीदार जागृत रहकर आंख गड़ाए हैं तब तक मोक्ष कैसे प्राप्त हो ? हाय ! प्रिया के आलिंगन में बद्ध मनुष्य भूतग्रस्त की भांति क्षीयमान आत्मा को देख नहीं पाते हैं। औषधि से सिंह को जैसे नीरोग किया जाता है उसी प्रकार मनुष्य भी नानाविध खाद्य सामग्री से स्वयं ही अपनी आत्मा को उन्मादित कर देता है। सिंह के नीरोग होने पर जिस प्रकार वह स्वस्थ बनाने वाले पर ही आक्रमण करता है उसी प्रकार आहारादि द्वारा परिपुष्ट इन्द्रिय आत्मा को उन्मादी कर भव भ्रमण का कारण रूप बनाता है। यह सुन्दर है, सुगन्धित है, यह नहीं है किसे ग्रहण करूं यह विचार कर लम्पट मूढ़ होकर भ्रमर की भांति भ्रमण करता रहता है उसे कभी सुख नहीं मिलता। बालक को जिस प्रकार खिलौना देकर भुलावे में डाला जाता है उसी प्रकार सुन्दर वस्त्रों से वह अपनी आत्मा को भी भुलावे में डालता है। निद्रित मनुष्य जिस प्रकार शास्त्रचिन्तन से वंचित रहता है उसी प्रकार वीणा-वेणु के गीत स्वर से वंचित होकर मनुष्य अपने स्वार्थ से ही भ्रष्ट होता है। एक साथ कुपित त्रिदोष—वात, पित्त, कफ—की भांति उन्मत्त होकर विषय द्वारा जीव स्वयं की चेतना को खो देता है। अतः उन्हें धिक्कार ! (श्लोक १०१७-१०३३)

इस प्रकार जब प्रभु का मन संसार से विरक्त होकर चिन्ता-

जाल में बद्ध था उसी समय सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषिताश्व, अव्याबाध, मरुत और रिष्ट इन नौ प्रकार के ब्रह्म नायक, पंचम देवलोक के अन्तेवासी देवगण भगवान् के निकट आए और द्वितीय मुकुट की भांति मस्तक पर कमल कलि सदृश अञ्जलि धारण कर निवेदन किया—'इन्द्र के मुकुटमणि के किरण जाल से जिनके चरण धुले हुए हैं और भरत क्षेत्र के विनष्ट मोक्ष मार्ग को प्रदर्शित करने के लिए जो दीपतुल्य हैं ऐसे हे प्रभु, जिस प्रकार आपने लोक-व्यवहार प्रचलित किया है उसी प्रकार आपका कर्त्तव्य स्मरण कर धर्म तीर्थ प्रवर्तित कीजिए।' ऐसा कहकर देवगण ब्रह्मलोक के अपने-अपने स्थान को लौट गए एवं दीक्षा ग्रहण को उत्सुक प्रभु भी नन्दन वन के राज प्रासाद की ओर प्रत्यावर्त्तन कर गए। (श्लोक १०३४-१०४०)

(द्वितीय सर्ग समाप्त)

मार्गदर्शक – आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तृतीय सर्ग

तभी प्रभु ने सामन्तादि राजपुरुष और भरत बाहुबली आदि पुत्रों को बुलवाया और भरत को कहा—'तात! अब तुम राज्य का संरक्षण करो। मैं तो अब संयम रूप साम्राज्य को ग्रहण करूंगा।' (श्लोक १-२)

स्वामी की बात सुनकर भरत नीचा माथा किए कुछ क्षण चुपचाप खड़े रहे। फिर करबद्ध होकर गद्गद् कण्ठ से बोले—'पिताजी, आपके चरण-कमलों में बैठकर मुझे जो आनन्द मिलता है वह आनन्द सिंहासन पर बैठने से नहीं मिलेगा। आपके चरण-कमलों की छाया में मैं जिस आनन्द की अनुभूति करता हूँ उस आनन्द की अनुभूति राज-छत्र की छाया में नहीं हो सकती। यदि मुझे आपका वियोग-दुःख सहन करना पड़ा तो ऐसी राज्यलक्ष्मी से क्या लाभ? आपकी सेवा के सुख रूपी क्षीर समुद्र के सम्मुख राज्य सुख तो एक बिन्दु जल की भांति है। (श्लोक ३-७)

प्रभु बोले—'मैं राज्य का परित्याग कर रहा हूं। ऐसी स्थिति में पृथ्वी पर यदि राजा नहीं रहा तो सर्वत्र मत्स्य प्रवृत्ति फैल

जाएगी। अतः तात, भली-भांति इस पृथ्वी का पालन करो। तुम आज्ञा पालक हो, तुम्हें मेरा यही आदेश है।' (श्लोक ८-९)

प्रभु की आज्ञा का उल्लंघन करने में असमर्थ भरत ने राज्य ग्रहण किया। कहा भी गया है—गुरुजनों के प्रति विनय व्यवहार अर्थात् गुरुजनों की आज्ञा का पालन करना ही छोटों का कर्त्तव्य है। (श्लोक १०)

तब नम्र भरत ने उन्नत वंश की भांति पिता के सिंहासन को अलंकृत किया। प्रभु के आदेश से सामन्त सेनापति आदि ने भरत के राज्यारोहण उत्सव को उसी प्रकार प्रतिपालित किया जिस प्रकार इन्द्रादि देवताओं ने भगवान् के राज्यारोहण के समय किया था। उसी समय प्रभु के शासन की तरह भरत के मस्तक पर पूर्णिमा के चन्द्रतुल्य अखण्ड छत्र सुशोभित हुआ। उसके दोनों ओर चँवर डुलने लगे। वे भरत-क्षेत्र के उत्तर-दक्षिण दोनों ओर से आए लक्ष्मी के दूत से लगे। वे वस्त्र और अलङ्कारों से इस प्रकार शोभित होने लगे मानो वे उनके उज्ज्वल गुण हैं। महामहिम उन नवीन राजा को नवीन चन्द्रमा की भांति समस्त राजमण्डल ने अपनी कल्याण कामना से प्रणाम किया। (श्लोक १०-१६)

प्रभु ने बाहुबली आदि पुत्रों से भी उनकी योग्यतानुसार राज्य बांट दिया। फिर उन्होंने कल्पवृक्ष की भांति लोक की इच्छानुरूप वार्षिक दान देना प्रारम्भ किया। नगर के चौराहों एवं द्वारों के निकट ढोल बजाकर यह घोषित कर दिया गया जिसको जिस चीज की आवश्यकता है वह प्रभु से आकर ले जाए। जब प्रभु ने दान देना प्रारम्भ किया तब कुबेर ने जृम्भक आदि देवताओं को आदेश दिया कि वे प्रभु के निकट धन उपस्थित करें। वे लोग उस धन रत्न स्वर्ण रौप्य आदि को लाकर प्रभु के कोष में जमा करने लगे जो चिरकाल से नष्ट हो गया था, खो गया था, मर्यादालंघनकारी था या अन्याय द्वारा प्राप्त किया गया था या श्मशान में, पहाड़ों, में उद्यानों एवं घर की जमीनों में गाड़ कर छिपाया हुआ था या जिसका कोई अधिकारी नहीं था। देवताओं ने उसी प्रकार प्रभु का कोष पूर्ण किया जैसे वर्षा का जल कुएँ आदि जलाशयों को पूर्ण करता है। भगवान् सूर्योदय से दान देना प्रारम्भ करते वह मध्याह्न के भोजन के पूर्व तक चलता। वे प्रतिदिन एक करोड़ आठ लाख सुवर्ण मुद्रा को

कीमत के लगभग दान करते थे। इस प्रकार एक वर्ष में उन्होंने तीन सौ अठासी करोड़ अस्सी लाख मुद्रा की कीमत का धन दान दिया। भगवान् दीक्षा ले रहे हैं यह सुनकर कई लोगों के मन में भी वैराग्य का भाव जागृत हुआ। इसलिए वे कम दान ग्रहण करते थे। यद्यपि भगवान् इच्छानुरूप दान देते थे फिर भी वे अधिक नहीं लेते थे। (श्लोक १७-२५)

वार्षिक दान शेष होने पर इन्द्र का आसन कम्पायमान हुआ। वे भी द्वितीय भरत की तरह उनके निकट आए। अन्य इन्द्र भी हाथ में जल-कलश लेकर उनके साथ हो गए। उन्होंने राज्याभिषेक की भांति दीक्षा महोत्सव सम्बन्धी अभिषेक किया। वस्त्रालंकार विभाग के अधिकारी की भांति इन्द्र वस्त्रालंकार लाए। प्रभु ने उन्हें धारण किया। इन्द्र ने प्रभु के लिए सुदर्शन नामक शिविका तैयार करवाई। वह देखने में अनुत्तर विमान नामक देवलोक-सी थी। इन्द्र के हाथों का सहारा लेकर प्रभु ने उस शिविका पर आरोहण किया। लगा जैसे उन्होंने लोकाग्ररूपी मन्दिर की अर्थात् मोक्ष की प्रथम सीढ़ी पर पदार्पण किया। पहले रोमांचित मनुष्यों ने, पीछे देवताओं ने पुष्पभार की भांति उस शिविका को उठाया। उस समय आनन्द के कारण मंगल वाद्य बजाए जाने लगे। उसके शब्द ने पुष्करावर्तक मेघ की भांति दसों दिशाओं को आच्छादित कर लिया मानो इहलोक और परलोक की निर्मलता मूर्त्तिमन्त हो गई है ऐसे दोनों चँवर भगवान् के दोनों ओर डुलने लगे। वृन्दारक जाति के देव चारण की भांति मनुष्य कर्ण को सुख देने वाली प्रभु की जय ध्वनि उच्च शब्द से करने लगे। श्लोक २६-३४)

शिविका में उपविष्ट प्रभु उत्तम देवताओं के विमान में रखी शाश्वत प्रतिमा की भांति सुशोभित होने लगे। इन्हें जाते देख बालक, वृद्ध सकल नगरवासी उनके पीछे इस प्रकार दौड़ने लगे जैसे पिता के पीछे बालक दौड़ता है। कोई-कोई मेघ दर्शन को उत्सुक मयूर की भांति दूर से उन्हें देखने के लिए वृक्षों की ऊंची शाखाओं पर जाकर बैठ गए। कोई-कोई राह के मन्दिर एवं अट्टालिकाओं की छत पर चढ़ गए। ऊपर से पड़ती हुई तीव्र धूप को उन्होंने चन्द्र की चांदनी की तरह समझ लिया। किसी का घोड़ा नहीं आने के कारण देर हो जाने के भय से स्वयं ही घोड़े की तरह

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

भागने लगा। कोई जल की मछली की तरह लोक-समूह में प्रवेश कर प्रभु को देखने की इच्छा से लोगों के बगल से गुजरते हुए आगे बढ़ने लगा। जगत्पति के पीछे जो स्त्रियां दौड़ रही थीं, दौड़ने के कारण उनके मुक्ताहार टूट गए। देखकर लगा मानो वे अञ्जलि में खोई लेकर प्रभु का स्वागत कर रही हैं। प्रभु आ रहे हैं यह सुनकर कुछ स्त्रियां लड़कों को गोद में लेकर स्थिरता से खड़ी थीं। वे वानर सहित लता-सी लगती थीं। स्तनभार से मन्दगति से चलने वाली युवतियां अपने दोनों ओर स्त्रियों के गले में हाथ डाल कर चल रही थीं, मानो उन्होंने दो डैने उत्पन्न कर लिए हैं। कुछ स्त्रियां प्रभु को देखने के उत्साह की गति को भंग करने वाले अपने नितम्बों की निन्दा कर रही थीं। राह के दोनों ओर घर की कुल-वधुएं कुसुम्भी वस्त्र परिधान कर पूर्ण पात्र हाथ में लिए खड़ी थीं। वे चन्द्रमा सह सन्ध्या की सहोदरा भगिनियों सी प्रतीत होती थीं। कुछ रमणियां प्रभु को देखने के लिए उत्सुक बनी साड़ी के आंचल को हाथ से चँवर की तरह डुला रही थीं। कुछ स्त्रियां प्रभु पर खोई बरसा रही थीं, मानो निर्भर योग्य पुण्य बीज-वपन कर रही हों। कुछ सौभाग्यवतियां 'चिरंजीवी होओ, चिरंजीवी होओ, चिर आनन्द लाभ करो' ऐसा आशीर्वाद दे रही थीं। कुछ चपलनयना नगर-नारियां स्थिरनयना होकर द्रुत व धीर गति से प्रभु के पीछे-पीछे जा रही थीं। (श्लोक ३५-४९)

उस समय चार निकाय के देवतागण विमानों के द्वारा पृथ्वी को छायान्वित कर आकाश में उपस्थित होने लगे। कुछ देवता मदजलवर्षणकारी हस्ती - पृष्ठ पर आ रहे थे। देखकर लगा जैसे वे आकाश को मेघमय कर रहे हैं। आकाश रूप समुद्र में नौका रूप अश्व पर आरोहण कर डांड़ रूपी चाबुक से उन्हें संचालित कर कुछ देवता प्रभु को देखने आ रहे थे। कुछ देवता मानो मूर्त्तिमान् पवन हों इस प्रकार के रथ पर चढ़कर नाभि-नन्दन को देखने आए। लगता था रथ के गति वेग पर उन्होंने बाजी लगाई है इसलिए वे मित्रों को भी पथ नहीं देते थे। स्वग्राम को पहुंचे पथिक की भांति प्रभु के निकट आकर 'यही स्वामी हैं, यही स्वामी हैं' कहते-कहते उन्होंने वाहनों का गति रुद्ध की। विमान रूपी अट्टालिका, हाथी, घोड़ा और रथों के कारण ऐसा लगता था मानो अनेक देवता और

मनुष्यों से परिवृत जगत्पति अनेक सूर्य और चन्द्रों से परिवृत मानुषोत्तर पर्वत है। उनके दोनों ओर खड़े होकर भरत और बाहुबली उनकी सेवा करते हुए ऐसे शोभित होते थे जैसे दोनों तटों के मध्य समुद्र शोभित होता है। हाथी जिस प्रकार यूथपति का अनुसरण करता है उसी प्रकार अन्य अट्ठानवें विनीत पुत्र उनका अनुसरण कर रहे थे। माँ मरुदेवी, पत्नी सुनन्दा और सुमंगला, ब्राह्मी व सुन्दरी कन्याएँ एवं अन्य स्त्रियां नीहारबिन्दुयुक्त कमलिनी की भांति अश्रुपूर्ण नेत्रों से पीछे-पीछे जा रही थीं। इस प्रकार प्रभु सिद्धार्थ नामक उद्यान में आ उपस्थित हुए। वह उद्यान प्रभु के पूर्व-जन्म के सर्वार्थ-सिद्ध विमान-सा लग रहा था। वहां प्रभु शिविका रत्न से अशोक वृक्ष के नीचे इस प्रकार उतरे जैसे ममता रहित मनुष्य संसार में उतर जाता है अर्थात् संसार को छोड़ देता है। उस समय इन्द्र ने निकट आकर चन्द्र की किरणों से ही निर्मित हो ऐसा देवदुष्य वस्त्र उनके कन्धों पर रखा। (श्लोक ५०-६४)

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री विजयदिनसागर जी महाराज

उस दिन चैत्र कृष्णा अष्टमी थी। चन्द्र उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में अवस्थित था। दिन का अन्तिम भाग था। 'जय-जय' शब्द के कोलाहल से असंख्य देवता और मनुष्य स्व हर्ष को प्रकट कर रहे थे। भगवान् के सम्मुखस्थ चार दिशाओं को प्रसाद देने की इच्छा से जैसे उन्होंने चार मुष्टि से मस्तक के केशों का लुंचन किया। उन केशों को सौधर्मेन्द्र ने अपने उत्तरीय में झेल लिया। उस समय ऐसा लगा मानो वे अपने उत्तरीय को अन्य प्रकार के धागे से बुनना चाहते थे। प्रभु ने जब अवशिष्ट केशों को पंचम मुष्टि से लुंचन करना चाहा तब इन्द्र ने निवेदन किया, 'प्रभु, इन केशों को रहने दें कारण, हवा से उड़कर जब ये आपके सुवर्ण कान्तिमय स्कन्धों पर गिरते हैं तब मरकतमणि की भांति शोभित होते हैं।' इन्द्र की विनती स्वीकार कर प्रभु ने उन केशों को रहने दिया। कारण, भक्तों की एकनिष्ठ साधना को प्रभु कभी परित्याग नहीं करते। सौधर्मेन्द्र तब उन केशों को क्षीर समुद्र में डाल आए। फिर उन्होंने सूत्रधार की भांति हाथ के इशारे से वाद्य-वादन बन्द करने को कहा। उस दिन प्रभु का षष्ठ तप अर्थात् दो दिन का उपवास था। उन्होंने देवता, मनुष्य एवं असुरों के सम्मुख सिद्ध भगवान् को नमस्कार कर 'मैं सावद्य योग अर्थात् जिन कार्यों में हिंसा की

संभावना है उसका परित्याग करता हूं' ऐसा कहकर मोक्ष मार्ग के रथ तुल्य चारित्र को ग्रहण कर लिया। शरत् ताप से तप्त व्यक्ति को मेघ की छाया में जैसे सामान्य समय के लिए सुख होता है उसी प्रकार नारकी जीवों को भी क्षणमात्र के लिए सुख की अनुभूति हुई। उसी समय दीक्षा हो गई यह संकेत पाते ही प्रभु को मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न हुआ। कच्छ और महाकच्छ आदि चार हजार राजाओं ने भी प्रभु के साथ ही दीक्षा ग्रहण कर ली। मित्रों ने उन्हें निषेध किया, बन्धुओं ने मना किया, भरतेश्वर ने उन्हें बार-बार निवृत होने को कहा फिर भी वे स्त्री-पुरुष राज्यादि का तृणवत् परित्याग कर प्रभु की कृपा का स्मरण कर भ्रमर की भांति प्रभु के चरण-कमलों के विरह को असह्य समझ कर जो पथ स्वामी का है वही पथ हमारा पथ है यह निश्चय कर आनन्द के साथ चारित्र ग्रहण किया। ठीक ही तो कहा गया है—भृत्यों का यही क्रम होता है अर्थात् सभी अवस्थाओं में वे प्रभु का अनुसरण करते हैं। (श्लोक ४४-८०)

फिर इन्द्र करबद्ध होकर प्रभु की स्तुति करने लगे—हे प्रभो, हम लोग आपके यथार्थ गुणों का वर्णन करने में असमर्थ हैं फिर भी आपकी स्तुति करते हैं, कारण, आपके प्रभाव से हमारी बुद्धि का विकास होता है। हे स्वामी, त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा का परित्याग करने के कारण अभयदान रूपी दानशाला-से आपको हम नमस्कार करते हैं। मिथ्या का परित्याग करने के कारण निर्मल और हितकारी सत्य और प्रिय वचन रूप सुधापूर्ण समुद्र-से आपको हम नमस्कार करते हैं। अदत्तादान त्याग रूपी मार्ग बन्द हो गया था इस पथ में प्रथम पदक्षेप कर उस पथ को पुनः प्रवर्त्तित करने के कारण हे प्रभु, हम आपको नमस्कार करते हैं। कामदेव रूपी अन्धकार को नष्ट करने वाले अखण्डित ब्रह्मचर्य रूपी महान् तेज-पुञ्ज सूर्य-से आपको हम नमस्कार करते हैं। तृणवत् धरती और सम्पद आदि सर्व प्रकार के परिग्रहों का एक साथ परित्याग करने वाले निर्लोभ आत्मसम्पन्न हे प्रभो, आपको हम नमस्कार करते हैं। पंच महाव्रत रूप भार वहनकारी वृषभ तुल्य और संसार समुद्र को अतिक्रम करने में कच्छप समान आपको हम नमस्कार करते हैं। पांच महाव्रतों की सहोदरा भगिनी की भांति पांच समितियों को धारणकारी हे प्रभो, हम आपको नमस्कार करते हैं। आत्मभाव

में लीन बाह्य प्रवृत्ति का विरोध करने वाले और समस्त प्रवृत्तियों से पृथक् शरीर सम्पन्न तीन गुप्तियों को धारण करने वाले प्रभो, हम आपको नमस्कार करते हैं।' (श्लोक ८१-९०)

इस प्रकार स्तुति कर जन्माभिषेक के समय जिस प्रकार देवगण नन्दीश्वर द्वीप गए थे उसी प्रकार नन्दीश्वर द्वीप जाकर सब अपने-अपने स्थान को लौट गए। (श्लोक ९१)

देवताओं की तरह भरत बाहुबली आदि भी प्रभु को नमस्कार कर दुःखी मन से अपने-अपने स्थान लौट गए। (श्लोक ९२)

अपने साथ दीक्षा लेने वाले कच्छ-महाकच्छादि मुनियों सहित प्रभु मौन धारण कर विचरण करने लगे। (श्लोक ९३)

पारने के दिन प्रभु आहार भिक्षा के लिए निकले; किन्तु कहीं आहार प्राप्त नहीं हुआ। कारण, उस समय लोग भिक्षादान क्या है जानते ही नहीं थे। फिर वे एकान्त सरल थे। भिक्षा के लिए आगत प्रभु को पूर्व की ही भांति राजा मानकर कोई सूर्य के उच्च-श्रवा अश्व से भी वेगगामी अश्व उपहार में देने लगा। कोई शौर्य में दिग्गजों को भी परास्त करने वाला हाथी देने लगा। कोई रूप-लावण्य में अप्सरा को भी लज्जित करने वाली कन्या देने लगा तो कोई विद्युत्प्रभ अलङ्कारादि उनके सम्मुख रखने लगा। किसी ने सन्ध्याकालीन आकाश में विस्तृत विभिन्न रंगों वाला रंगीन वस्त्र देना चाहा तो कोई मन्दार-माला को भी तिरस्कार करने वाली पुष्पमाला अर्पण करने लगा। कोई सुमेरु पर्वत के शिखर की भांति स्वर्णदान करने लगा तो कोई रोहणाचल की चूड़ा की तरह रत्न-राशि प्रभु के सम्मुख रखने लगा; किन्तु प्रभु ने उनमें से एक भी वस्तु ग्रहण नहीं की। भिक्षा नहीं मिलने पर भी प्रभु अदीन मन से जंगमतीर्थ की भांति प्रव्रजन कर पृथ्वी को पवित्र करने लगे। उन्होंने क्षुधा, पिपासा, परिषह को इस प्रकार सहन कर लिया जैसे उनका शरीर सप्तधातु द्वारा निर्मित नहीं था। जहाज जिस प्रकार पवन का अनुसरण करता है उसी प्रकार स्वयं-दीक्षित राजागण भी प्रभु के साथ विहार करने लगे। (श्लोक ९४-१०२)

कुछ समय पश्चात् क्षुधा-पिपासा से पीड़ित और तत्त्वज्ञान रहित वे तपस्वी राजागण अपनी बुद्धि के अनुसार विचार करने लगे—प्रभु मीठे फलों को भी किम्पाक फल की तरह नहीं खाते।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी

स्वादिष्ट मीठा जल भी तिक्त जल की भांति नहीं पीते। शरीर से मन हटाने के लिए स्नान विलेपनादि भी नहीं करते। वस्त्रालङ्कार और पुष्प को बोझ समझकर धारण नहीं करते; किन्तु पवन-वाहित रजकणों को ये पर्वत की भांति धारण कर लेते हैं और ललाट तप्तकारी ताप को भी मस्तक पर ग्रहण करते हैं। कभी भी सोते नहीं हैं फिर भी क्लान्त नहीं होते। श्रेष्ठ हस्ती की भांति शीत, ग्रीष्म को कुछ समझते ही नहीं हैं। क्षुधा-पिपासा से जैसे अपरिचित हैं। वैर-प्रतिरोधकारी क्षत्रियों की भांति ये रात्रि में भी नींद नहीं लेते। हम तो इनके अनुचर बने हैं; किन्तु हम मानो अपराधी हों इस प्रकार से हमें एक दृष्टि से देखकर भी प्रसन्न करने का प्रयास नहीं करते, बात करना तो दूर रहा। इन्होंने पुत्र-कलत्रादि का परित्याग किया है; किन्तु हम समझ ही नहीं पा रहे हैं कि फिर ये मन ही मन क्या चिन्तन करते रहते हैं? (श्लोक १०३-११०)

इस प्रकार विचार कर वे तपस्वीगण अपने नेताओं और प्रभु के निकट सेवक की भांति रहने वाले कच्छ-महाकच्छ के निकट गए और बोले—'कहां क्षुधा पर जय प्राप्त करने वाले प्रभु और कहां अन्नकीट से हम? कहां पिपासाजयी प्रभु और कहां जल निवासी मेंढक से हम? कहां शीतविजयी प्रभु और कहां हम बन्दर की भांति शीत से कम्पायमान हम? कहां निद्राहीन प्रभु और कहां अजगर से निद्रालु हम? कहां धरती पर नहीं बैठने वाले प्रभु और कहां आसन बिछाकर पंगु की भांति बैठे रहने वाले हम? समुद्र लंघनकारी उड़ते हुए गरुड़ का जिस प्रकार काक अनुसरण करता है उसी प्रकार स्वामी परिगृहीत व्रत का हम अनुसरण करते हैं। तब क्या आजीविका के लिए अपना राज्य हमें पुनः ग्रहण करना होगा? किन्तु उन राज्यों को तो भरत ने अपने अधिकार में ले लिया है। तो अब हमें क्या करना उचित है? जीवन-निर्वाह के लिए क्या हमें भरत का आश्रय लेना होगा? लेकिन स्वामी को परित्याग करके जाने पर हमको भरत से भी बहुत भय है। हे आर्य, आप सर्वदा प्रभु के निकट रहते हैं। अतः प्रभु के मनोभावों को आप अच्छी तरह जानते हैं। इसलिए दिङ्मूढ़-से हम लोगों को क्या करना चाहिए वह बताइए?' (श्लोक १११-११८)

तब कच्छ और महाकच्छ मुनियों ने उत्तर दिया—'यदि

स्वयंभूरमण समुद्र का अतिक्रम किया जा सकता हो तो प्रभु के मनोभावों को भी जानना सम्भव हो सकता है। पहले हम प्रभु की आज्ञानुरूप चलते थे; किन्तु अब प्रभु ने मौन धारण कर लिया है अतः उनके मनोभावों को जिस प्रकार आप भी नहीं जान पाए, हम भी नहीं समझ पा रहे हैं। हम सब की दशा एक-सी ही है। एतदर्थ आप जैसा कहेंगे हम वैसा ही करेंगे।' (श्लोक ११९-१२१)

फिर उन लोगों ने परस्पर विचार कर गंगातटवर्ती अरण्य में प्रवेश कर कन्दमूल फलादि का आहार करना प्रारम्भ कर दिया। उस समय से कन्दमूल फलादि का आहार करने वाले वनवासी जटाधारी तपस्वीगण पृथ्वी पर विचरण करने लगे। (श्लोक १२२-१२३)

कच्छ और महाकच्छ के नमि और विनमि नाम के दो विनयी पुत्र थे। वे प्रभु की आज्ञा से प्रभु की दीक्षा के पूर्व किसी दूर में देश चले गए थे। वहां से लौटने पर उन्होंने अपने पिता को वन में देखा। उन्हें देखकर वे सोचने लगे। वृषभनाथ-से नाथ के होते हुए भी इनकी ऐसी दशा क्यों हो गई? कहां उनके पहनने के वे महीन वस्त्र और कहां भीलों के योग्य ये वल्कल? कहां देह में लगाने जाने वाले वे विलेपन और कहां पशुओं के तन पर लगने वाली यह धरती की धूल? कहां कुसुमदाम से सुशोभित केश और कहां वटवृक्ष की जटा-सी इनकी जटाएं? कहां हस्ती-से वाहन, कहां पदचारियों की भांति पैदल चलना? ऐसा विचार कर वे अपने पिता के पास गए और प्रणाम कर समस्त शंकाओं का उत्तर चाहा। तब कच्छ, महाकच्छ ने प्रत्युत्तर देते हुए कहा—'भगवान् ऋषभ ने राज्य परित्याग कर एवं पृथ्वी भरतादि पुत्रों के मध्य विभाजित कर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली है। हस्ती जिस प्रकार इक्षु का चर्वण करता है उसी प्रकार हम भी साहस कर प्रव्रजित हुए; किन्तु क्षुधा-पिपासा और शीत-ग्रीष्म के ताप से तापित होकर गर्दभ और खच्चर जिस प्रकार बोझ का परित्याग कर देता है उसी प्रकार हमने भी व्रतों परित्याग कर दिया है। यद्यपि हम प्रभु-सा आचरण करने में समर्थ नहीं हैं फिर भी संसार आश्रम में लौटना नहीं चाहते। इसीलिए इस तपोवन में रहते हैं।' (श्लोक १२४-१३३)

यह सुनकर वे सोचने लगे—'हम भी प्रभु के निकट जाकर

अपने भाग के लिए प्रार्थना करें।' वे गए और प्रभु के चरणों में प्रणाम किया। प्रभु उस समय मौनावलम्बन लिए ध्यानावस्थित थे। नमि-विनमि यह नहीं जानते थे कि प्रभु इस समय निःसंग हैं। उन्होंने सब कुछ परित्याग कर दिया है। अतः वे बोले—'हम लोगों को तो आपने दूर देश भेज दिया और समस्त पृथ्वी भरतादि को बांट दी। हमको तो आपने नाग के खुर जितनी धरती भी नहीं दी। इसलिए हे विश्वनाथ, अब दया कर हमें भूमि दीजिए।' भगवान् के प्रत्युत्तर न देने पर वे पुनः बोले—'आप देवों के भी देव हैं। हमारा आपने ऐसा कौन-सा अपराध देखा कि भूमि देना तो दूर मुख से बोलते तक नहीं?' दोनों के इस प्रकार कहने पर भी भगवान् ने कोई जवाब नहीं दिया। कारण, माया-मोह-परित्यागकारी किसी विषय के सम्बन्ध में विचार नहीं करते। (श्लोक १३४-१३९)

यद्यपि प्रभु कुछ नहीं बोले फिर भी हमारे ये ही सब कुछ हैं यह सोचकर वे उनकी सेवा करने लगे। प्रभु की निकटस्थ भूमि धूल रहित रहे इसलिए वे सरोवर से कमल-पत्र में जल लाकर उनके आस-पास की भूमि का सिंचन करने लगे। वे धर्म चक्रवर्ती भगवान् के सम्मुख नित्य ऐसे फूल लाकर रखने लगे जिन पर सुगन्ध के मतवाले भ्रमर गुंजते रहते थे। जिस प्रकार सूर्य और चन्द्र रात-दिन मेरुपर्वत की सेवा करते हैं उसी प्रकार हाथ में तलवार लेकर वे उनकी सेवा में खड़े रहते और सुबह-सांझ दोपहर में करबद्ध होकर प्रणाम करते हुए प्रार्थना करते—'हे प्रभु, हमें राज्य दो। आप ही हमारे एकमात्र स्वामी हैं।' (श्लोक १४०-१४४)

एक दिन नागकुमार देवों के अधिपति श्रद्धाशील धरणेन्द्र प्रभु के चरणों की वन्दना करने आए। वे बालकों-से सरल दोनों राजपुत्रों को प्रभु से राज्यलक्ष्मी के लिए प्रार्थना और उनकी सेवा करते हुए देखकर आश्चर्यचकित हो गए। धरणेन्द्र ने अमृत से मधुर शब्दों में उनसे पूछा—'तुम लोग कौन हो? भगवान् से तुम क्या प्रार्थना करते हो? जब एक वर्ष तक प्रभु ने सबको मनोवांछित दान दिया तब तुम कहां थे? इस समय ये ममतारहित, परिग्रह-रहित हैं। ये तो अपने शरीर तक की ममता से रहित और राग-द्वेष से मुक्त हो गए हैं।' (श्लोक १४५-१९४)

धरणेन्द्र को प्रभु की सेवा करने वाला जानकर नमि-विनमि

ने सादर उन्हें कहा—'ये हमारे स्वामी हैं। हम इनके सेवक हैं। इन्होंने हमें दूर देश भेज कर समस्त राज्य भरतादि पुत्रों में वितरित कर दिए। यद्यपि इन्होंने हमें दूर देश भेज दिया है फिर भी ये हमें राज्य देंगे ऐसा हमारा विश्वास है। सेवक को तो केवल सेवा करना उचित है। प्रभु के पास कुछ है या नहीं यह चिन्तन उसके लिए प्रयोजनीय नहीं है। (श्लोक १५०-१५२)

धरणेन्द्र बोले—'तुम लोग भरत के पास जाकर प्रार्थना करो। प्रभु के पुत्र होने के कारण वे प्रभु के जैसे ही हैं।'

(श्लोक १५३)

वे बोले—'निखिल भुवन के प्रभु को प्राप्त करने के पश्चात् अब उनके सिवाय हम किसी को प्रभु नहीं मानेंगे। क्या कभी कल्पवृक्ष को प्राप्त कर कोई कण्टक वृक्ष के पास जाता है? हम परमेश्वर को छोड़कर अन्य से प्रार्थना नहीं करेंगे। चातक पक्षी क्या मेघ के अतिरिक्त किसी अन्य से प्रार्थना करता है? भरतादि का कल्याण हो। आप क्यों उसके लिए चिन्तित हो रहे हैं? हमारे प्रभु जो कुछ दे सकेंगे वे देंगे, दूसरों को इससे क्या मतलब?

(श्लोक १५५-१५६)

उनके ऐसे युक्तियुक्त वचनों को सुनकर नागराज बहुत प्रसन्न हुए। वे बोले—'मैं पातालपति धरणेन्द्र, इन प्रभु का सेवक हूं। मैं तुम्हारा अभिनन्दन करता हूं। तुम लोग महाभाग्यवान् और सत्यवान् भी हो। तभी तो तुम्हारी यह दृढ़ प्रतिज्ञा है कि यही एकमात्र सेवा करने योग्य है अन्य नहीं। निखिल भुवन के प्रभु की सेवा करने से राज्यलक्ष्मी तो रज्जुबद्ध कर खींचकर लाने की भांति सेवक के निकट स्वतः ही उपस्थित हो जाती है। इन महात्मा के सेवक के लिए वैताढ्य पर्वत वासकारी विद्याधरों का आधिपत्य तो करतलगत फल की भांति अनायास ही लभ्य है। इन प्रभु की सेवा करने पर ही भुवनाधिपति की सम्पत्ति भी पैरों तले पड़े हुए वैभव की तरह सरलता से प्राप्त हो जाती है। इनकी सेवा करने वालों को व्यन्तर इन्द्र की लक्ष्मी भी वशीभूत होकर इस प्रकार नमस्कार करती है जिस प्रकार इन्द्रजाल से वशीभूत होकर कोई स्त्री करती है। जो भाग्यशाली इन प्रभु की सेवा करती है उसे स्वयं वर-वधू की तरह ज्योतिष्काधिपति की लक्ष्मी वरण करती है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर

जिस प्रकार बसन्त ऋतु द्वारा विविध प्रकार के पुष्पों की वृद्धि होती है उसी प्रकार इनकी सेवा करने वालों को इन्द्र की सम्पत्ति प्राप्त होती है। मुक्ति की छोटी बहन अहमिन्द्र की लक्ष्मी भी इनकी सेवा करने वाले को तत्काल प्राप्त होती है। इन जगत्पति की सेवा करने वाले को तो मृत्यु रहित आनन्दमय मोक्ष पद भी प्राप्त होता है। अधिक क्या कहें, इनकी सेवा करने से इहलोक में इन्हीं की भाँति त्रिभुवन का आधिपत्य और परलोक में सिद्ध गति तक प्राप्त होती है। मैं इन्हीं प्रभु का दास हूँ और तुम लोग भी इनके किंकर हो। अतः प्रभु की सेवा के फलस्वरूप मैं तुम्हें विद्याधरों का ऐश्वर्य दान करता हूं। यह बात स्मरण रखना यह राज्य तुम्हें प्रभु की सेवा के कारण ही प्राप्त हुआ है। पृथ्वी पर अरुणोदय सूर्य के द्वारा ही होता है।' तत्पश्चात् धरणेन्द्र ने उन्हें गौरी प्रज्ञप्ति आदि अड़तालिस हजार विद्याएँ जो कि पढ़ने मात्र से सिद्ध होती हैं प्रदान कीं और बोले—'वैताढ्य पर्वत पर जाओ और वहाँ दोनों ओर नगर स्थापित कर अक्षय राज्य करो।' (श्लोक १५७-१७१)

तब उन्होंने भगवान् को नमस्कार किया और विद्याबल से पुष्पक विमान की सरचना कर नागराज सहित उसमें बैठकर वहाँ से प्रस्थान किया। सर्वप्रथम वे अपने पिता कच्छ-महाकच्छ के पास गए और स्वामी सेवा के फलस्वरूप वृक्ष-फल-सी नवीन सम्पत्ति का जो लाभ हुआ वह वर्णित किया। फिर भरत के निकट जाकर अपने वैभव की कथा सुनाई। कारण अभिमानी पुरुष के मान की सिद्धि अपनी वैभवशाली स्थिति को बताने से ही सफल होती है। फिर वे स्वजन-परिजन सहित उत्तम विमान में चढ़कर वैताढ्य पर्वत पर गए। (श्लोक १७२-१७५)

वैताढ्य पर्वत के प्रान्त भाग को लवण समुद्र की तरंगें चूम रही थीं। वह पर्वत पूर्व और पश्चिम दिशा का मानदण्ड-सा प्रतीत होता था। वह पर्वत उत्तर और दक्षिण भारत के मध्य की मानो सीमा-सा था। वह पर्वत पचास योजन विस्तृत तथा छह योजन पृथ्वी के नीचे निहित था। और भू-पृष्ठ से पाँच सौ योजन ऊँचा था। गंगा और सिन्धु नदी इसको विभाजित कर इस प्रकार प्रवाहित होती मानो हिमालय अपनी दोनों भुजाओं को प्रसारित कर उसका आलिंगन कर रहा है। उभय भरतार्द्ध की लक्ष्मी के

निवास रूप उस पर्वत में खण्डप्रभा और तमिस्रा नामक दो गिरि कन्दराएँ थीं। चूलिका से जिस प्रकार मेरु सुशोभित होता है उसी प्रकार शाश्वत प्रतिमाओं सहित सिद्धायतन से वह पर्वत शोभित हो रहा था। उस पर्वत पर कण्ठाभरण तुल्य विविध रत्न-खचित और देवों की लीलास्थली से नौ शिखर थे। उसके बीस योजन ऊपर दक्षिण और उत्तर में वस्त्र-खण्ड की भाँति व्यन्तर देवों की दो निवास श्रेणियाँ थीं। पादमूल से शिखर पर्यन्त रौप्य की मनोहर शिलाएँ थीं जिन्हें देखकर लगता नमि और विनमि को वे हाथ के इशारे से बुला रही हैं। ऐसे पर्वत पर जाकर नमि और विनमि ने अवतरण किया। (श्लोक १७६-१८५)

नमि राजा ने उत्तर से दक्षिण बीस योजन [illegible] में ५० नगरों को पत्तन किया। यथा—बाहुकेतु, पुण्डरीक, हरिकेतु, सेतुकेतु, सर्वारिकेतु, श्री बाहु, श्री गृह, लोहार्गल, अरिंजय, स्वर्ग-लीला, वज्रागल, वज्रविमोक, महिसारपुर, जयपुर, मुकुलमुखी, चतुर्मुखी, रक्ता, विरक्ता, आखण्डलपुर, विलासयोनीपुर, अपराजित, काञ्चिदाम, सुविनय, नभःपुर, क्षेमंकर, सहचिह्नपुर, कुसुमपुरी, संजयती, शक्रपुर, जयन्ती, वैजयन्ती, विजया, क्षेमंकरी, चन्द्रभासपुर, रविभासपुर, सप्तभूतलावास, सुविचित्र, महाधपुर, चित्रकूट, विकूटके, वैश्रवणकूट, शशिपुर, रविपुर, विमुखी वाहिनी, सुमुखी, नित्योद्योतिनी और श्री रथनुपुर चक्रवाल। (श्लोक १८६-१९४)

किन्नर पुरुषों ने प्रथम वहाँ मंगलगान किया। फिर नमि ने रथनुपुर चक्रवाल नामक सर्वोत्तम नगर में निवास किया। वह नगर सब नगरों के मध्यवर्ती था। (श्लोक १९५)

धरणेन्द्र की आज्ञा से विनमि ने भी वैताढ्य पर्वत के उत्तरार्द्ध में साठ नगर बसाए। उनके नाम अर्जुनी, वारुणी, वैर संहारिणी, कैलाशवारुणी, विद्युद्द्योप, किलिकिल, चारु चूड़ामणि, चन्द्रभूषण, वंशवत, कुसुमचूल, हंसगर्भ, मेघक, शंकर, लक्ष्मीहर्म्य, चामर, विमल, असुमत्कृत, शिवमन्दिर, वसुमति, सर्वसिद्धस्तुत, सर्वशत्रुञ्जय, केतुमालक, इन्द्रकान्त, महानन्दन, अशोक, वीतशोक, विशोकक, सुखालोक, अलक, तिलक, नयस्तिलक, मन्दिर, कुमुदकुन्द, गगन-वल्लभ, युवती तिलक, अवनि तिलक, सगन्धर्व, मुक्ताहार, अनिमिष, विष्टप, अग्निज्वाला, गुरुज्वाला, श्रीनिकेतपुर, जयश्री निवास, रत्न

कुलिश, वसिष्ठाश्रम, द्रविणजय, सम्वर्तक, भद्राशयपुर, फेनशिखर, गौक्षीरवर शिखर, वैर्य क्षोम शिखर, गिरि शिखर, धरणी, वारुणी, सुदर्शनपुर, दुर्ग, दुर्द्धर, महेन्द्र, विजय, [illegible] और रत्नपुर। धरणेन्द्र की आज्ञा से विनमि गगन वल्लभ नगर में निवास करने लगे। यह नगर समस्त नगर के मध्य भाग में अवस्थित था। (श्लोक १९६-२०८)

विद्याधरों की महावैभवशालिनी दोनों ओर की नगर श्रेणियाँ उसी प्रकार शोभा पा रही थीं जैसे उसके ऊपर व्यन्तर श्रेणी का प्रतिबिम्ब पा रहा था। उन्होंने अन्य अनेक ग्राम-बस्ती एवं उप-नगरों की स्थापनाएँ कीं। स्थान और योग्यतानुसार उन्होंने और भी जनपदों के निर्माण किए। जिस-जिस जनपद से लाकर लोगों को वहाँ बसाया गया उन्हीं लोगों के नामानुसार उन जनपदों का नाम रखा गया। समस्त नगर में नमि और विनमि ने जिस प्रकार शरीर में हृदय रहता है उसी प्रकार सभाओं में नाभि-नन्दन की मूर्तियाँ स्थापित कीं। (श्लोक २०९-२१२)

विद्याधरगण विद्या के कारण उन्मत्त होकर अविनयी न हो जाएँ इसलिए धरणेन्द्र ने कुछ नियम प्रवर्त्तन किए। विद्या के मद में वे जिनेश्वर, जैन मन्दिर, चरमशरीरी और कायोत्सर्ग स्थित मुनियों की अवमानना न करें। यदि करेंगे तो आलस्यपरायण व्यक्ति का जिस प्रकार लक्ष्मी परित्याग कर देती है उसी प्रकार विद्याएँ उनका त्याग कर चली जाएँगी। और जो विद्याधर किसी पति-पत्नी की हत्या करेंगे या किसी स्त्री के साथ उसकी इच्छा के विरुद्ध बलात्कार करेंगे तो उसकी विद्या उसे उसी मुहूर्त्त में त्याग देगी। नागपति ने यह आदेश उच्च स्वर से उन सबको सुनाया और इनको सर्वदा पालनीय बतलाकर रत्नों की दीवारों पर प्रशस्ति की तरह खुदवा दिया। फिर नमि और विनमि को विधिवत् राजा बनाकर एवं अन्य प्रयोजनीय व्यवस्था कर वे वहाँ से लौट गए।
(श्लोक २१३-२१८)

अपनी-अपनी विद्याओं के नाम पर विद्याधरगण सोलह जातियों में विभाजित हो गए। यथा, गौरी विद्या वाले गौरेय, मनु विद्या वाले मनुपर्यंक, गान्धारी विद्या वाले गान्धार, मानवी विद्या वाले मानव, कौशिकी पूर्व विद्या से कौशिकीपूर्वक, भूमितुण्ड विद्या

से भूमितुण्डक, मूलवीर्य विद्या से मूलवीर्यक, शंकुका विद्या से शंकुक, पाण्डुकी विद्या से पाण्डुक, काली विद्या से कालिकेय, खपाकी विद्या से खपाकक, मातंगी विद्या से मातंग, पार्वती विद्या से पार्वत, वंश शालया विद्या वाले वंशीलय, पांशुमूला विद्या वाले पांशुमूलक और वृक्ष मूला विद्या वाले वृक्ष-मूलक कहलाए।

इन्हें भी दो भागों में विभाजित किया गया। आठ जाति के विद्याधर नमि के और शेष आठ जाति वाले विनमि के राज्य में निवास करने लगे। अपनी-अपनी जाति में अपने-अपने शरीर की भाँति उन्होंने एक-एक विद्याधीश्वर देवता की स्थापना की। सर्वदा भगवान् ऋषभ की पूजा कर धर्म की जिससे हानि न हो इस प्रकार देवताओं की ही तरह भोग उपभोग करने लगे मानो नमि और विनमि दूसरे शक्र और ईशानेन्द्र हों। इस प्रकार कभी वैताढ्य द्वीप के पर्वतशिखर पर कान्ताओं के साथ क्रीड़ा करते, कभी सुमेरु पर्वत के नन्दन आदि वन में पवन की भाँति इच्छापूर्वक आनन्द विहार करते, कभी यह सोचकर कि श्रावक होने के कारण ही वे इस सम्पत्ति के अधिकारी हुए हैं नन्दीश्वर आदि तीर्थों में शाश्वत जिन प्रतिमाओं की पूजा करने जाते। कभी विदेहादि क्षेत्रों में जाकर अर्हत् भगवान् के समोसरण में प्रभु की अमृत वाणी का पान करते। कभी हरिण जिस प्रकार कान ऊँचा कर गाना सुनता है उसी प्रकार चारण मुनियों की धर्म-देशना सुनते। सम्यक्त्व और अक्षय भण्डार के अधिकारी वे विद्याधरों द्वारा परिवृत होकर अर्थ धर्म काम की क्षति न हो इस प्रकार राज्य करने लगे।

(श्लोक २२५-२३३)

कच्छ और महाकच्छ आदि राजा जो कि तपस्वी हुए थे गंगा नदी के दक्षिण तट पर मृग की भाँति वनचर बने विचरण करने लगे। वल्कलवस्त्र धारण किए हुए वे चलायमान वृक्ष से लगते थे। वे गृहस्थ घरों के अन्न को वमन किया हुआ अन्न समझ कर कभी ग्रहण नहीं करते। चोला और बेला आदि तपस्या करते रहने के कारण उनकी देह का मांस सूख गया था अतः उनके शुष्क शरीर वायु रहित धौंकनी की तरह लगते। पारने के दिन भी वे वृक्ष से पतित पर्ण और फल मात्र खाते एवं मन ही मन भगवान् का ध्यान कर वहीं निवास करते। (श्लोक २३४-२३७)

भगवान् ऋषभ मौन धारण कर आर्य और अनार्य समस्त देशों में विचरण करने लगे। एक वर्ष निराहार रहकर प्रभु चिन्तन करने लगे—तेल के द्वारा जिस प्रकार दीप प्रज्वलित रहता है, जल के द्वारा वृक्ष जीवन्त रहता है उसी प्रकार प्राणी मात्र का शरीर भी आहार के द्वारा ही टिका रहता है। अतः साधुओं को बयालीस दोषों से रहित मधुकरी वृत्ति से भिक्षा ग्रहण कर उपयुक्त समय में आहार ग्रहण करना उचित है। एतदर्थ विगत दिनों की भाँति अब भी यदि मैं आहार ग्रहण नहीं करूँगा तो मेरा शरीर टिक सकेगा पर चार हजार साधु जिस प्रकार आहार न मिलने के कारण पीड़ित होकर भ्रष्ट हो गए उसी प्रकार अन्य साधु भी भ्रष्ट हो जाएँगे। ऐसा सोचकर प्रभु समस्त नगर के मण्डल रूप गजपुर (हस्तिनापुर) नगर में भिक्षा के लिए अग्रसर हुए। वहाँ बाहुबली के पुत्र, सोमप्रभ राजा के पुत्र श्रेयांस ने स्वप्न देखा कि चारों ओर से कृष्णवर्ण बने सुवर्णगिरि को दुग्ध भरे घड़ों से अभिषेक कर उन्होंने उसे उज्ज्वल वर्ण बना दिया है। उसी दिन सुबुद्धि नामक श्रेष्ठी ने स्वप्न में देखा—श्रेयांस कुमार ने सूर्य से निर्गत सहस्र किरणों को पुनः सूर्य में संस्थापित कर दिया। परिणामतः सूर्य और देदीप्यमान हो उठा। सोमप्रभ राजा ने देखा—अनेकों शत्रुओं के द्वारा घिरे हुए एक राजा ने उनके पुत्र की सहायता से विजय प्राप्त की। तीनों ही अपने स्वप्नों की बातें परस्पर सुनाने लगे, किन्तु स्वप्न का कारण कोई नहीं बता सका। उसी स्वप्न का कारण बताने और फल देने के लिए ही मानो प्रभु ने उस दिन भिक्षा के लिए नगर में प्रवेश किया। नगरवासियों ने एक वर्ष तक निराहार रखते हुए भी प्रभु को वृषभ गति से सानन्द आते हुए देखा। (श्लोक २३८-२५०)

नगरवासियों ने ज्योंही प्रभु को आते देखा वे दौड़कर उसी प्रकार निकट गए जिस प्रकार लोग अपने विदेशागत बन्धु को आते देखकर जाते हैं। उनमें से एक ने कहा—'प्रभु, आप मेरे घर पधारने का अनुग्रह करें कारण वसन्त ऋतु की भाँति बहुत दिनों बाद आपके दर्शन हुए हैं।' दूसरा बोला—'हे स्वामी, स्नान का जल, विलेपन तेलादि और परिधान वस्त्र प्रस्तुत है, आप स्नान कर वस्त्र परिधान करें।' तीसरे ने कहा—'हे भगवान्, मेरे घर उत्तम केशर, कस्तूरी, कर्पूर, चन्दन है उनका व्यवहार कर आप मुझे कृतार्थ करें।' चौथा बोला—'हे जगद्भूषण, दया कर आप मेरे वस्त्रा-

लंकार को आपकी देह पर धारण कर उन्हें अलंकृत करें।' पाँचवें ने कहा—'हे स्वामिन्, आप मेरे घर पधारें। आपके शरीर के अनुकूल पट्ट वस्त्र धारण कर उन्हें पवित्र करें।' कोई बोला—'हे देव, मेरी कन्या देवांगना-सी सुन्दर है आप उसे ग्रहण करें। आपके आगमन से हम धन्य हो गए हैं।' अन्य किसी ने कहा—'हे राज-कुंजर, आप क्यों पैदल चल रहे हैं? मेरे उस पर्वत तुल्य हाथी पर आरोहण कीजिए।' कोई और बोला—'सूर्याश्व के समान मेरे अश्व को स्वीकार करिए। हमारा आतिथ्य स्वीकार न कर आप क्यों हमें अयोग्य प्रतिपादित कर रहे हैं?' किसी ने कहा—'इस रथ में उत्तम जाति के अश्व जुते हैं आप इसे स्वीकार कीजिए। आप इस रथ पर नहीं चढ़ेंगे तो यह किस काम आएगा?' कोई कहता—'हे प्रभु, इन पके फलों को ग्रहण करिए।' किसी ने कहा—'हे एकान्त-वत्सल, आप इन ताम्बूल पत्रों को प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करिए।' कुछ बोले प्रभु—'हमने कौन-सा अपराध किया है। जिसके कारण आप न कुछ सुनते हैं न बोलते हैं?' (श्लोक २४१-२६६)

इस प्रकार लोग उनसे प्रार्थना करने लगे—किन्तु किसी की भी प्रदत्त वस्तु ग्रहण योग्य न समझकर प्रभु उसी प्रकार घर-घर विचरण करने लगे जैसे चन्द्र एक नक्षत्र से दूसरे नक्षत्र पर भ्रमण करता। प्रभात के समय जिस प्रकार पक्षियों का कोलाहल सुना जाता है उसी प्रकार श्रेयांसकुमार ने घर बैठे ही नगरवासियों का कोलाहल सुना। यह कोलाहल क्यों हो रहा है यह जानने के लिए उन्होंने अपने अनुचर को भेजा। अनुचर गया और समस्त वृतान्त विदित कर करबद्ध होकर बोला—

'राजाओं की भाँति जिनकी पाद-पीठिका के सम्मुख अपने मुकुट से धरती स्पर्श करते हुए इन्द्रादि देवता दृढ़ भक्ति से भू-लुण्ठित होते हैं, सूर्य जिस प्रकार समस्त वस्तु को प्रकाशित करता है उसी प्रकार जिन्होंने इस लोक पर दया कर आजीविका के साधन रूप कर्मों का निर्देश किया है, दीक्षा लेने की इच्छा से जिन्होंने भरतादि और आपको मुक्तावशिष्ट अन्न की तरह यह भूमि दान की है जिन्होंने समस्त सावद्य वस्तुओं का त्याग कर अष्ट कर्म रूप महापंक को शुष्क करने के लिए ग्रीष्मकालीन रौद्र की भाँति तप स्वीकार किया है, क्षुधार्त-तृषार्त वे ही प्रभु ऋषभदेव ममत्वहीन बने

अपने पैरों से भूमि को पवित्र करते हुए विहार कर रहे हैं। वे न तो रौद्रताप से आकुल होते हैं न छाया से आनन्दित। वे तो पर्वत की भाँति दोनों में ही समभावी रहते हैं। वज्र शरीर की तरह वे न तो शीत से विरक्त होते हैं न ग्रीष्म पर आसक्त। इसी तरह वे इधर-उधर भ्रमण कर कर रहे हैं। संसार रूपी हस्ती के लिए केशरी तुल्य प्रभु युग मात्र अर्थात् चार हाथ प्रमाण दृष्टि रखकर किसी चींटी को भी जिससे कष्ट न हो इस तरह पग धरते हुए चलते हैं। आपको आज्ञा देने में समर्थ त्रिलोकनाथ आपके पितामह सौभाग्य से ही यहाँ पधारे हैं। गोपाल के पीछे जैसे गाएं दौड़ती हैं उसी तरह प्रभु के पीछे समस्त नगरवासीगण दौड़ रहे हैं। यह उनका ही मधुर कोलाहल है।' (श्लोक २६४-२७६)

प्रभु के आगमन का संवाद सुनते ही युवराज श्रेयांस पदगमन-कारियों को पीछे करते हुए दौड़कर वहाँ गए। युवराज को छत्र और पादुकारहित दौड़ते हुए देखकर उनकी सभा के पारिषदगण भी छत्र और पादुका का परित्याग कर उनके पीछे दौड़ने लगे। द्रुतगति से दौड़ते हुए युवराज श्रेयांस के कर्ण कुण्डल इस तरह हिल रहे थे मानो युवराज पुनः प्रभु के सम्मुख, बाल क्रीड़ा कर रहे हों। अपने गृहांगन में प्रभु को आते देख वे उन के चरण कमलों पर गिर पड़े और भ्रमर भ्रम उत्पन्नकारी निज केशों से प्रभु के चरणों को मार्जित कर दिया। फिर उठकर प्रभु को तीन प्रदक्षिणा दी एवं आनन्दाश्रुपूर्ण नेत्रों से उनके चरणों में पुनः वन्दन किया। गिरते हुए अश्रु ऐसे प्रतीत होते थे मानो वे प्रभु चरणों को धो रहे हों। फिर खड़े होकर वे प्रभु के मुख कमल को इस तरह देखने लगे जैसे चकोर पूर्णिमा के चाँद को देखता है। उन्हें लगा ऐसा वेश मैंने पहले भी कहीं देखा है। ऐसा सोचते-सोचते उन्हें विवेक वृक्ष के बीज की भाँति जाति स्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। तब उन्हें ज्ञात हुआ कि पूर्व जन्म में पूर्व विदेह क्षेत्र में जब प्रभु वज्रनाभ नामक चक्रवर्ती थे मैं उनका सारथी था। उस जन्म में प्रभु के वज्रसेन नामक पिता थे। उन्हें मैंने इसी तरह तीर्थङ्कर चिह्नयुक्त देखा था। वज्रनाभ ने वज्रसेन तीर्थंकर से दीक्षा ग्रहण की। उस समय मैं भी उनके साथ दीक्षित हो गया था। उसी समय मैंने वज्रसेन तीर्थंकर के मुख से सुना था कि वज्रनाभ भरतखण्ड के प्रथम तीर्थंकर होंगे। स्वर्णप्रभादि जन्म में भी मैं उनके साथ था। इस समय वे मेरे

प्रपितामह हैं। भाग्योदय से ही मुझे आज इनके दर्शन हुए हैं। ये प्रभु ही तो साक्षात् मोक्ष हैं जो कि इस रूप में समस्त पृथ्वी पर व मुझ पर कृपा करने यहाँ आए हैं। कुमार जब इस तरह चिन्तन कर रहे थे उसी समय कोई व्यक्ति आया और बड़ी प्रसन्नतापूर्वक उन्हें नवीन इक्षुरस पूर्ण कलश उपहार रूप में दिए। जाति स्मरण ज्ञान से निर्दोष भिक्षा देने की विधि जानने वाले श्रेयांस कुमार ने प्रभु से प्रार्थना की—'हे भगवन्, इस कल्पनीय इक्षुरस को स्वीकार कीजिए। तभी प्रभु ने भी अंजलि रूपी हस्तपात्र उनके सम्मुख फैला दिए। श्रेयांसकुमार इक्षुरस भरे उन कलशों से प्रभु की अंजलि में रस डालने लगे। प्रभु ने अपनी अंजलि में बहुत-सा रस ग्रहण किया किन्तु कुमार का हृदय उतने से सन्तुष्ट नहीं हुआ। स्वामी की अंजलि में रस इस तरह स्थिर हुआ मानो उसकी शिखा आकाश स्पर्श करने के लिए जम गई हो। तीर्थङ्करों का तो प्रभाव ही अचिन्त्य होता है। प्रभु ने उस रस से पारणा किया और सुर-असुर मनुष्यों के नेत्रों ने उनके दर्शन रूपी अमृत का पान किया। उसी समय श्रेयांस के कल्याण को प्रसिद्ध करने वाली चारण रूप आकाश में प्रतिध्वनि से वृद्धि प्राप्त दुन्दुभि जोर-जोर से बजने लगी। मनुष्यों के नेत्रों से पतित आनन्दाश्रुओं के साथ साथ देवतागण आकाश से रत्न वर्षा करने लगे। ऐसा लगा मानो प्रभु के चरणों से पवित्र पृथ्वी को पूजा करने के लिए वे पंचरंगी पुष्पों की वर्षा कर रहे हैं। समस्त फूलों के समूह से संचित सुगन्ध-से गन्धोदक की देवताओं ने वृष्टि की। आकाश को विचित्र मेघों से चित्रित करने के लिए मानो देवता और मनुष्य उज्ज्वल वस्त्र ऊपर की ओर उत्क्षिप्त करने लगे। वैशाख शुक्ला तृतीया को दिया गया यह दान अक्षय हुआ और वह दिन अक्षय तृतीया के नाम से आज भी प्रचलित है। संसार में दान धर्म श्रेयांस कुमार से एवं अन्य समस्त व्यवहार भगवान् ऋषभनाथ द्वारा प्रारम्भ हुआ। (श्लोक २७६-३०२)

भगवान् ने पारणा किया इससे देवताओं ने जो रत्नादि की वर्षा की उसे देखकर नगरवासी आश्चर्य चकित हो श्रेयांसकुमार के प्रासाद की ओर आने लगे। कच्छ और महाकच्छ आदि क्षत्रिय तपस्वी भी भगवान् के आहार ग्रहण का संवाद पाकर बहुत प्रसन्न हुए और वहाँ आए। राजा, नागरिक और जनपदवासियों की देह

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

रोमांचित हो उठी। वे आनन्दित होकर श्रेयांसकुमार से बोले—'हे कुमार, आप धन्य हैं, कारण, प्रभु ने आप द्वारा प्रदत्त इक्षुरस ग्रहण किया; किन्तु हमने उन्हें सब कुछ देना चाहा फिर भी उन्होंने कोई भी वस्तु ग्रहण नहीं की। सब उन्हें तृणवत् लगा। वे हम पर प्रसन्न नहीं हुए। प्रभु ने एक वर्ष पर्यन्त ग्राम, नगर, आकर और अरण्य में प्रव्रजन किया; लेकिन हममें से किसी का भी आतिथ्य स्वीकार नहीं किया। अतः भक्त होने का अभिमान रखने वाले हम सब को धिक्कार है। हमारे घर विश्राम करना और हमारा द्रव्य ग्रहण करना तो दूर आज तक उन्होंने हमें सम्भाषित करने जैसी सामान्य-सी मर्यादा भी नहीं दी। जिन्होंने लक्ष-लक्ष पूर्व तक हमारा पालन किया वे ही प्रभु आज हमारे साथ अपरिचित व्यक्ति-सा व्यवहार करते हैं। (श्लोक ३०३-३१०)

श्रेयांसकुमार बोले—'आप लोग इस प्रकार क्यों बोल रहे हैं? अब ये पूर्व के परिग्रहधारी राजा नहीं हैं। ये तो अब संसार भंवर से बाहर आने के लिए समस्त सावद्य कर्मों का परित्याग कर यति बन गए हैं। जो भोगाकांक्षा रखते हैं वे स्नान, विलेपन, वसन-भूषण स्वीकार करते हैं; किन्तु रागहीन प्रभु को उन वस्तुओं से क्या प्रयोजन? जो कामादि के वशीभूत होते हैं वे कन्या स्वीकार करते हैं इन कामजीत प्रभु के लिए तो कामिनियां पाषाण तुल्य हैं। जिन्हें भूमि की कामना होती है वे हस्ती, अश्व आदि स्वीकार करते हैं; किन्तु संयम रूप साम्राज्य को ग्रहण करने वाले प्रभु के लिए तो ये समस्त विषय दग्ध वस्त्र की भांति हैं। जो हिंसक होते हैं वे सजीव फलादि ग्रहण करते हैं; लेकिन करुणामय प्रभु तो सभी जीवों को अभयदान देने वाले हैं। ये तो केवल ऐषणीय, कल्पनीय और प्रासुक आहार ही ग्रहण करते हैं। आप लोग यह सब बात नहीं जानते। (श्लोक ३११-३१७)

वे बोले—हे युवराज, जो शिल्पादि आज प्रयुक्त हो रहे हैं उनका ज्ञान तो प्रभु ने हमें पहले ही दे दिया इसलिए उन्हें सब जानते हैं; लेकिन आपने जो कुछ बताया वह तो प्रभु ने हमें कभी नहीं बताया। तभी तो हम यह सब कुछ नहीं जानते; लेकिन आप ने कैसे जाना? आप यह कहने में समर्थ हैं, कृपया हमें बतलाइए।'
(श्लोक ३१८-३१९)

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

युवराज बोले—'ग्रन्थ पढ़ने से जैसे बुद्धि उत्पन्न होती है उसी प्रकार प्रभु को देखने मात्र से मुझे जाति स्मरण ज्ञान हो गया। सेवक जिस प्रकार प्रभु के साथ एक ग्राम से दूसरे ग्राम जाता है उसी प्रकार मैंने भी प्रभु के साथ आठ जन्म व्यतीत किए हैं। इस जन्म के पूर्व द्वितीय जन्म में विदेह भूमि में प्रभु के पिता वज्रसेन नामक तीर्थंकर थे। प्रभु ने उनसे दीक्षा ग्रहण की थी। मैंने भी उसी समय दीक्षा ग्रहण कर ली थी। उस जन्म का स्मरण होने से मैं समस्त बातें जान सका हूं। गत रात्रि में मैंने, मेरे पिता और सुबुद्धि श्रेष्ठी ने जो स्वप्न देखा था उसका प्रत्यक्ष फल प्राप्त किया। मैंने स्वप्न में कृष्ण वर्ण मेरु को दुग्ध द्वारा धोकर उज्ज्वल किया था। उसी के फलस्वरूप तपस्या द्वारा दुबले बने प्रभु को इक्षुरस से पारणा करवा कर इनकी शोभा को वर्द्धित किया है। मेरे पिता ने शत्रु के साथ जिन्हें युद्ध करते देखा वे ये प्रभु ही थे। प्रभु ने मेरे द्वारा कराए गए पारणे की सहायता से परिग्रह रूपी शत्रु को पराजित कर दिया है। सुबुद्धि श्रेष्ठी ने स्वप्न देखा था सूर्य मण्डल से पतित होती सहस्र किरणों को मैंने पुनः संस्थापित कर दिया था जिससे सूर्य और अधिक जाज्वल्यमान हो गया। प्रभु सूर्य के ही समान हैं। अनाहारी रहने पर सूर्य-सा केवल ज्ञान नष्ट हो जाता। प्रभु को पारणा करवा कर आज मैंने इन्हें कैवल्य लाभ के पथ पर संस्थापित कर दिया है। इससे भगवान् और प्रदीप्त हो उठे हैं।' श्रेयांस के कथन को सुनकर सभी ने उन्हें धन्य-धन्य कहा और अपने-अपने घर को लौट गए। (श्लोक ३२०-३२९)

श्रेयांस के घर पारणा कर प्रभु वहां से अन्यत्र विहार कर गए। कारण, छद्मस्थ तीर्थंकर एक स्थान पर कभी नहीं रहते। भगवान् ने जिस स्थान पर पारणा किया उसे कोई उल्लंघन न करे इसलिए वहां श्रेयांसकुमार ने एक रत्नमय पीठिका बनवा दी और उस रत्नमय पीठिका को साक्षात् प्रभु के चरण समझकर भक्तिभाव से उनकी त्रिकाल वन्दना पूजा करने लगे। यदि लोग पूछते—'क्या है' तो वे उत्तर देते—'यह आदिकर्ता का मण्डल है।' तत्पश्चात् प्रभु जहां-जहां भिक्षा ग्रहण करते वहां-वहां ऐसी पीठिकाएं प्रस्तुत करवाते। इसी से क्रमशः 'आदित्य पीठ' उपासना प्रचलित हो गई। (श्लोक ३३०-३३४)

कुंजर जिस प्रकार निकुंज में प्रवेश करता है उसी प्रकार एक बार प्रभु सन्ध्या के समय बाहुबली के राज्य में तक्षशिला के निकट आए और नगर के बाहर एक उपवन में कायोत्सर्ग ध्यान में स्थित हो गए। उद्यानपाल ने यह संवाद बाहुबली को दिया। उसी क्षण बाहुबली ने नगर के रक्षकों को आदेश दिया—हाट-बाट आदि को सजाकर नगर को सुसज्जित करो। इस आज्ञा के प्राप्त होते ही नगर के स्थान-स्थान पर कदली वृक्ष की तोरण माला तैयार की गई। जिससे लटकते हुए केले पथचारियों के मुकुटों को स्पर्श करने लगे। भगवान् के दर्शनों को मानो देवतागण आए हों इस प्रकार प्रत्येक राज-पथ पर, रत्नपात्रों से अलंकृत मंच निर्मित किए गए। हवा में उड़ती हुई उच्च पताकाओं की श्रेणी से वह नगर ऐसा लगता था मानो वह सहस्रहस्त बनकर नृत्य कर रहा है। चारों ओर नवीन कुंकुम जल का छिड़काव कर देने के कारण ऐसा लगता जैसे समस्त नगर की मिट्टी ने मंगल अंगराग लगाया है। भगवान् के दर्शन करने की उत्कण्ठा रूप चन्द्रदर्शन से समस्त नगर कुमुद खण्ड की भांति विकसित हो उठा। अर्थात् किसी को भी उस रात नींद नहीं आई। सुबह ही प्रभुदर्शन से निज आत्मा और जनगण को पवित्र करूंगा ऐसी इच्छा वाले बाहुबली की वह रात्रि समाप्त होकर सवेरा होते ही प्रतिमास्थिति समाप्त कर पवन की भांति प्रभु अन्यत्र प्रस्थान कर गए। (श्लोक ३३५-३४४)

जैसे ही प्रभात हुआ बाहुबली उपवन की ओर जाने के लिए प्रस्तुत हुए। उसी समय सूर्य की भांति बड़े-बड़े मुकुटधारी-मण्डलेश्वर और समाधान के मन्दिर तुल्य साक्षात् शरीरधारी अर्थशास्त्र के शुक्रादि सनान अनेक मन्त्रीगण वहां बाहुबली की सेवा में उपस्थित थे। गुप्तपक्ष गरुड़ तुल्य जगत् को उल्लंघन करने वाले वेगधारी लक्ष-लक्ष अश्व श्रेणियों से वह स्थान सुशोभित हुआ। दीर्घकाय बहुत से ऐसे हाथी भी वहां उपस्थित थे जिनके मस्तक से मदजल प्रवाहित हो रहा था। उन्हें देखकर लगता था मानो पृथ्वी की धूल को शान्त करने के लिए प्रस्रवणयुक्त महागिरि वहां उपस्थित हुआ है। पाताल कन्या-सी सुन्दर असूर्यम्पश्या वसन्तश्री आदि अन्तःपुर की ललनाएं प्रस्तुत होकर उनके चारों ओर खड़ी थीं। उनके दोनों ओर चामरधारिणी रमणियां खड़ी थीं जिससे वे राजहंस युक्त गंगा-

यमुना द्वारा सेवित प्रयाग-से प्रतिभासित हो रहे थे। उनके मस्तक पर श्वेत छत्र था। इससे वे ऐसे शोभित हो रहे थे जैसे शरद ऋतु में चन्द्रमा के द्वारा पर्वत सुशोभित होते हैं। देवनन्दी नामक छड़ीदार आगे चलकर जिस प्रकार इन्द्र को पथ दिखलाते हैं उसी प्रकार सुवर्ण छड़ी हाथ में लिए प्रतिहार उनके आगे-आगे चलते-चलते पथ दिखा रहे थे। रत्नाभरण भूषित श्रीदेवी के पुत्र तुल्य श्रेष्ठीगण अश्व पर आरोहण कर उनका अनुगमन करने के लिए प्रस्तुत हो रहे थे और पर्वत शिला पर जिस प्रकार तरुण सिंह बैठा रहता है उसी प्रकार भद्रजातीय श्रेष्ठ हस्ती पर इन्द्रतुल्य राजा बाहुबली उपवेशित हुए। पर्वतमाला जिस प्रकार शिखर से सुशोभित होती है उसी प्रकार तरंगित कान्तिमय रत्नजड़ित मुकुट से वे शोभित हो रहे थे। बाहुबली ने कानों में मोती के कुण्डल धारण किए थे। उन्हें देखकर लगता मानो उनकी मुख शोभा द्वारा पराजित दोनों चन्द्र उनकी सेवा में उपस्थित हुए हैं। लक्ष्मी के मन्दिर तुल्य हृदय पर उन्होंने स्थूल मुक्तामणिमय हार पहन रखे थे। वे हार मन्दिर की अर्गला से लगते थे। भुजाओं में उन्होंने दो उत्तम सुवर्ण बाजूबंद धारण कर रखे थे। देखकर लगता था बाहुरूपी वृक्ष को बाजूबंद रूपी लता ने वेष्टित कर और दृढ़ बना दिया है। उनकी कलाई में मुक्तामणि के कड़े थे। वे देखने में लावण्यरूपी सरिता के फेन पुंज-से लगते थे। निज कान्ति से आकाश आलोकितकारी दो अँगूठियाँ उन्होंने अपनी अंगुलियों में पहन रखी थीं। वे अँगूठियाँ उसी तरह सुशोभित हो रही थीं जिस तरह सर्प के मस्तक पर दो वृहद् मणियाँ शोभित होती हैं। (श्लोक १४५-३६०)

उन्होंने शरीर पर महीन श्वेत वस्त्र धारण कर रखे थे; किंतु शरीर में किए हुए चन्दन लेप के कारण यह रहस्य कोई नहीं जान सका। पूर्णिमा का चन्द्र जिस तरह चाँदनी को धारण करता है वैसा ही गंगा तरंग से स्पर्द्धा लेने वाला सुन्दर उत्तरीय उन्होंने धारण कर रखा था। निकटस्थ विभिन्न तरह की धातुमय भूमि से जिस तरह पर्वत सुशोभित होता है उसी तरह विभिन्न रंग के सुन्दर पहने हुए वस्त्रों में वे सुशोभित हो रहे थे। लक्ष्मी को आकर्षित करने के लिए लीलायित अस्त्र रूप वज्र वे महाबाहु अपने हाथों में बार-बार घुमा रहे थे। इस भाँति राजा बाहुबली उत्सव सहित

प्रभु के पावन चरणों से पवित्र उस उपवन के निकट पहुंचे।
(श्लोक ३६१-३६५)

आकाश से जिस तरह गरुड़ उतरता है उसी तरह वे हाथी से उतरे और छत्रादि राजचिह्न का परित्याग कर उसी उपवन में प्रवेश किया। वहां उन्होंने चन्द्र रहित आकाश-सा और अमृत रहित सुधा कुण्ड-सा प्रभुहीन उद्यान को देखा। प्रभु दर्शन के उत्कृष्ट अभिलाषी बाहुबली ने उद्यानपालक को पूछा—'दृष्टि को आनन्द प्रदानकारी प्रभु कहां है?' उसने प्रत्युत्तर दिया—'वे रात्रि की भांति ही अन्यत्र चले गए। जैसे ही मुझे यह बात मालूम हुई मैं आपको सूचना देने जा रहा था कि आप स्वयं ही आ गए।'
(श्लोक ३६६-३६९)

यह सुनकर तक्षशिला के राजा बाहुबली चिबुक पर हाथ रख कर अश्रुपूर्ण नयनों एवं दुःखार्त्त हृदय से विचारने लगे—'[illegible] सपरिवार प्रभु पूजा करने की जो इच्छा थी वह ऊसर भूमि में बीज वपन की तरह व्यर्थ ही गई। जन-साधारण पर अनुग्रह करने की इच्छा से मैंने यहां आने में विलम्ब किया उसके लिए मुझे धिक्कार है! प्रभु को नहीं देखने के कारण मेरे लिए यह प्रभात भी अप्रभात है, सूर्य भी असूर्य है, नेत्र भी अनेत्र है। हाय, विभुवनपति रात्रि में यहां प्रतिमा धारण कर अवस्थित थे और मैं निर्लज्ज बाहुबली स्व-प्रासाद में आराम से सो रहा था।' (श्लोक ३७०-३७५)

इस प्रकार बाहुबली को चिन्तित देखकर उनके शोक रूपी शल्य को निःशल्य करने के लिए उनके मुख्य मन्त्री मधुर वाणी से बोले—'हे देव, आप क्यों चिन्ता कर रहे हैं कि यहां आकर भी मैं प्रभु को देख नहीं सका। कारण, वे प्रभु तो सर्वदा आपके हृदय में प्रतिष्ठित रहते हैं और यहां उनके चरणों के वज्र, अंकुश, कमल, ध्वज और मीन के चिह्न देखकर सोचिए आप उन्हें भावदृष्टि से देख पा रहे हैं।' (श्लोक ३७६-३७८)

मुख्य मन्त्री की बात सुनकर अन्तःपुर और परिवार सहित सुनन्दा पुत्र बाहुबली ने उन चरण-चिह्नों की वन्दना की। इन चरणचिह्न को कोई उल्लंघन न करे इसलिए उन चरणचिह्नों पर एक रत्नमय धर्म चक्र स्थापित किया। आठ योजन दीर्घ, चार योजन उच्च और एक हजार अरों से युक्त वह धर्मचक्र इस भांति

मार्गदर्शक : आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज

सुशोभित हो रहा था मानो वह पूर्ण सूर्यबिम्ब है। देवताओं के लिए भी जिसका निर्माण करना कठिन था ऐसे धर्मचक्र को बाहुबली ने प्रभु के अतिशय से निर्मित होते देखा। समस्त स्थानों से लाए गए पुष्पों से बाहुबली ने उस धर्मचक्र की पूजा की। इससे मन में हुआ जैसे वहां फूलों का पर्वत है। नन्दीश्वर द्वीप में इन्द्र जिस प्रकार अष्टाह्निका महोत्सव करते हैं इस प्रकार महोत्सव किया। फिर धर्मचक्र की पूजा और धर्मचक्र की रक्षा के लिए राजपुरुषों को सदा वहां रहने का आदेश देकर पुनः धर्मचक्र को वन्दना की और नगर की ओर लौट गए। (श्लोक ३७९-३८५)

इस प्रकार स्वतन्त्रतापूर्वक अस्खलित गति से प्रव्रजनकारी नाना प्रकार की तपस्या में निष्ठावान विभिन्न प्रकार के अभिग्रह-शील मौन व्रतावलम्बी यवनादि म्लेच्छ देश के निवासी अनार्यों को दर्शन मात्र से भद्र बनाने में समर्थ उपसर्ग और परिषह सहन करने में अव्याकुल प्रभु ने एक हजार वर्ष एक दिन की भांति व्यतीत किया। (श्लोक ३८६-३८८)

क्रमशः प्रव्रजन करते-करते प्रभु महानगरी अयोध्या के पुरिम-ताल नामक शाखानगर में आए। उसके उत्तर की ओर स्थित द्वितीय नन्दनवन के समान शकटमुख नामक उद्यान में प्रभु ने प्रवेश किया। अष्टम तप कर प्रतिमाधारी प्रभु ने अप्रमत्त नामक सप्तम गुणस्थान में आरोहण किया। फिर अपूर्वकरण नामक गुणस्थान में आरूढ़ होकर सविचार पृथक्त्व वितर्क नामक शुक्ल ध्यान की प्रथम श्रेणी प्राप्त की। तत्पश्चात् अनिवृत्ति नामक नवम और सूक्ष्म संपराय नामक दशम गुणस्थान से होते हुए क्षणमात्र में क्षीणकषाय अवस्था को प्राप्त किया। फिर ध्यान द्वारा पल भर में चूर्णीकृत लोभ नष्ट कर रीठे के जल की तरह उपशान्त कषायी बने। इसके बाद ऐक्यश्रुत अविचार नामक शुक्ल ध्यान की द्वितीय श्रेणी पाकर वे अन्तिम क्षण में क्षीणमोह नामक द्वादश गुणस्थान पर चढ़ गए। इससे प्रभु के समस्त घाती कर्म क्षय हो गए। इस प्रकार व्रत ग्रहण करने के एक हजार वर्ष पश्चात् फाल्गुन मास के कृष्ण पक्ष की एकादशी के दिन चन्द्र जब उत्तराषाढ़ा नक्षत्र पर आया तब सुबह के समय प्रभु को त्रिकाल विषयक केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। इस ज्ञान से संसार के समस्त विषय करामलकवत् जाने जाते हैं। उस समय

सभी दिशाएँ प्रसन्न हो उठीं। सुखद पवन प्रवाहित होने लगा। यहां तक कि नारक प्राणियों ने भी एक क्षण के लिए सुख की अनुभूति की। (श्लोक ३८९-३९८)

इसी समय सर्व इन्द्रों के आसन कम्पायमान होने लगे मानो वे स्वामी का केवल ज्ञान प्राप्ति उत्सव करने के लिए उन्हें उद्-बोधित कर रहे हों। समस्त देवलोकों में मधुर शब्दकारी घण्टे बजने लगे मानो वे अपने-अपने देवलोक के देवताओं का आह्वान करने का कार्य कर रहे हों। प्रभु चरणों में उपस्थित होने की इच्छा वाले सौधर्मेन्द्र के चिन्तन करते ही ऐरावत नामक देव गज रूप धारण कर उसी मुहूर्त्त में वहां आया। उसने अपने शरीर को एक लाख योजन विस्तृत किया। वह ऐसा लग रहा था मानो प्रभु के दर्शनों का इच्छुक चलता हुआ मेरु पर्वत हो। अपने शरीर की हिमखण्ड सी कान्ति से वह हस्ती चारों ओर चन्दन का लेप करता-सा प्रतीत हो रहा था। अपने गण्डस्थल से झरते हुए मदजल से वह मानो स्वर्ग की कुट्टिम भूमि को कस्तूरी समूह से अंकित कर रहा था। उसके दोनों कान पंखों की तरह हिल रहे थे मानो अपने गण्डस्थल से प्रवाहित मद जल की सुगन्ध से अन्ध भ्रमर समूह को वे निवारित कर रहे थे। निज कुम्भस्थल की दीप्ति से वह बाल सूर्य को पराजित कर रहा था। क्रमशः गोलाकार और पुष्ट सूंड से वह नागराज का अनुकरण कर रहा था। उसके नेत्र और दांत मधु-सी कान्ति सम्पन्न थे। उसका गला भेरी की तरह गोल और सुन्दर था। शरीर का मध्य भाग विशाल था। पीठ थी प्रत्यंचा पर आरोपित धनुष-सी वक्र। उदर था कृश। (श्लोक ३९९-४०८)

वह चन्द्रमण्डल-से नखमण्डल से सुशोभित था। उसका निःश्वास था दीर्घ और सुगन्धित। उसका करांगुल दीर्घ और दोलायमान था। उसके ओष्ठ, गुह्य इन्द्रिय और पूंछ बहुत बड़ी थी। दोनों ओर स्थित सूर्य और चन्द्र से जिस प्रकार मेरु पर्वत अंकित होता है उसी प्रकार दोनों ओर दोलायमान दो घण्टों से वह अंकित था। उसके दोनों ओर की रस्सी देव वृक्ष के पुष्पों से गुंथी हुई थी। आठों दिग्-लक्ष्मियों की विभ्रम भूमि हो ऐसे स्वर्ण पत्रों से सज्जित उसके आठ ललाट और मुख शोभित हो रहे थे। वृहद् पर्वत के शिखर तुल्य दृढ़ कुछ वक्र आठ-आठ दांत उसके प्रत्येक मुख में शोभा

पा रहे थे। उसके प्रत्येक दांत पर मधुर और स्वच्छ जल की एक-एक पुष्करिणी थी। वे वर्षधर पर्वत के सरोवर से शोभित थे। प्रत्येक पुष्करिणी में आठ-आठ कमल थे। उन्हें देखकर लगता जैसे जल देवियां जल से मुंह निकाल रही हों। प्रत्येक कमल में आठ-आठ पंखुड़ीदल थे। वे सब क्रीड़ारत देवांगनाओं के विश्राम करने के लिए निर्मित द्वीप से लगते थे। पंखुड़ियों पर चार प्रकार के अभिनय युक्त पृथक्-पृथक् आठ नाटक अभिनीत हो रहे थे। प्रत्येक नाटक में कलनादी झरने से बत्तीस पात्र थे। (श्लोक ४०९-४१७)

इस प्रकार उत्तम गजेन्द्र पर इन्द्र सपरिवार सामने वाले आसन पर बैठ गए। हस्ती के कुम्भस्थल से उनके नासिका तक ढक गई। हस्ती द्वारा उनके सपरिवार लिए [illegible] हुए। ऐसा लगा मानो समग्र सौधर्म देवलोक जैसे उड़ा चला जा रहा था। क्रमशः निज शरीर को छोटा करता हुआ पालक विमान की तरह वह हस्ती क्षण मात्र में उस उद्यान में जा उपस्थित हुआ जिसे भगवान ने पवित्र किया था। अन्यान्य अच्युतादि इन्द्र भी 'मैं पहले पहुँचू' इस तरह सोचते-सोचते देवताओं सहित अतिशीघ्र वहां आ पहुँचे।
(श्लोक ४१८-४२१)

उसी समय वायुकुमार देवताओं ने आभियोग्य परित्याग कर समवसरण के लिए एक योजन पृथ्वी परिष्कृत की। मेघकुमार देवताओं ने जमीन पर सुगन्धित जल की वर्षा की। ऐसा लगा मानो प्रभु के आगमन की बात सुनकर पृथ्वी सुगन्धित अश्रुजल से अर्घ्य उत्क्षिप्त कर रही है। व्यन्तर देवताओं ने भक्ति सहित अपनी आत्मा के अनुरूप उच्च किरण युक्त सुवर्ण माणिक्य और रत्नों की पीठिका निर्मित की। उस पर ऐसे पंचरंगी सुगन्ध-युक्त पुष्प बिछा दिए जिनके डण्ठल नीचे की ओर थे। उन्हें देखकर लगता थे जमीन में ही उगे हैं। चारों ओर सुवर्ण, रत्न एवं माणिक्य के तोरण बनाए। वे उनके कण्ठहार से लगते थे। वहां स्थापित रत्नादि निर्मित पुत्तलिकाओं से निर्गत प्रतिबिम्ब अन्य पुत्तलिकाओं पर इस तरह पड़ रहा था लगा मानो सखियां एक दूसरे का परस्पर आलिंगन कर रही हैं। स्निग्ध नीलमणि रचित मकर का चित्र विनष्ट कामदेव के लक्षण मकर का भ्रम उत्पन्न कर रहा था। वहां श्वेत छत्र इस तरह शोभा पा रहा था मानो भगवान के केवल ज्ञान

से उत्पन्न दिक् समूहों का प्रसन्न हास्य हो। ध्वजाएँ आन्दोलित हो रही थीं। उन्हें देखकर लगता जैसे पृथ्वी महानंद में नृत्य करने के लिए हस्त उत्तोलित कर रही है। तोरणों के नीचे स्वस्तिकादि अष्टमंगल चित्र अंकित किए गए थे। वे पूजा की वेदी-से लगते थे। वैमानिक देवों ने समवसरण के ऊपर का प्रथम प्राकार रत्नों से निर्मित किया। वह प्राकार ऐसा लगता था मानो रत्नगिरि की रत्न मेखला वहां लाकर स्थापित कर दी हो। उस प्राकार के ऊपर मणि निर्मित कंगूरों से निकलता हुआ किरण-जाल आकाश को विचित्र रंगों के वस्त्रों में परिणत कर रहा था। (श्लोक ४२२-४२३)

मध्य में ज्योतिष्क देवताओं ने सुवर्णमय द्वितीय प्राकार की रचना की। वह प्राकार उनके ज्योतिर्मय देह पिण्ड-सा लग रहा था। उस प्राकार पर भी रत्नों के कंगूरे देवों ने निर्मित किए। वे ऐसे लग रहे थे मानो देव और असुर नारियों के मुख देखने के दर्पण हों। भवनपति देवताओं ने बहिर्मार्ग में रजतमय प्राकार का निर्माण किया। उसे देखकर लगा जैसे भक्ति के लिए वैताढ्य पर्वत मण्डलाकृति बन रहा है। उस प्राकार पर स्वर्णमय कंगूरों का निर्माण किया। वे देवताओं के सरोवर में प्रस्फुटित स्वर्णकमल-से लग रहे थे। उन तीन प्राकारों से युक्त भूमि, भवनपति, ज्योतिष्क और वैमानिक देवताओं की लक्ष्मी मानो एक गोलाकृत कुण्डल में शोभित हो रही हो ऐसी प्रतीत होती थी। पताका शोभित मणिमय तोरण ऐसे लगते थे मानो स्वकिरणों से भिन्न पताकाएँ आन्दोलित कर रहे हैं। प्रत्येक प्राकार के चार-चार द्वार थे। वे चतुर्विध धर्म की क्रीड़ा करने के निमित्त बने अलिन्द से लग रहे थे। प्रत्येक द्वार के निकट व्यन्तर देवताओं द्वारा रक्षित धूपदान से इन्द्रनीलमणि के स्तम्भ की तरह धूमरेखा विस्तृत कर रहे थे। (श्लोक ४३४-४४१)

उस समवसरण के प्रत्येक द्वार के निकट प्राकार से चार पथ और मध्य में स्वर्ण कमल सरोवर निर्मित किए गए थे। द्वितीय प्राकार के ईशान कोण में प्रभु के विश्राम के लिए वेदिका-सा एक देवछन्द निर्मित किया गया था। भीतर के प्रथम प्राकार के पूर्व द्वार पर दोनों ओर सोने-सी कान्ति वाले दो वैमानिक देव द्वारपाल बने खड़े थे। दक्षिण द्वार के दोनों ओर मानो एक दूसरे के प्रतिबिम्ब हों ऐसे उज्ज्वल दो व्यन्तर द्वारपाल बने थे। पश्चिम द्वार पर

संध्या के समय चन्द्र-सूर्य जैसे आमने-सामने होते हैं उसी तरह रक्तवर्ण दो ज्योतिष्क देवता द्वारपाल बने थे। उत्तरी द्वार पर उन्नत मेघ से कृष्णवर्ण दो भवनपति देव दोनों ओर द्वारपाल बनकर स्थित थे। (श्लोक ४४३-४४५)

द्वितीय प्राकार के चारों द्वारों के दोनों ओर क्रमशः अभय-पाश, अंकुश और मुद्गल धारण कर श्वेतमणि, शोणमणि, स्वर्ण-मणि और नीलमणि के सदृश कान्ति सम्पन्न और जैसा कि ऊपर कहा गया है उसी प्रकार चार निकायों की जया, विजया, अजिता, अपराजिता नामक दो-दो देवियां प्रतिहारियों की भांति खड़ी थीं। (श्लोक ४४८-४४९)

शेष बाहर के प्राकार के चारों दरवाजों पर तुम्बरूधारी, खट्वांगधारी, नृमुण्डमाली और जटामुकुटधारी नामक चार देव प्रतिहारियों के रूप में खड़े थे। (श्लोक ४५०)

समवसरण के मध्य में तीन कोश दीर्घ चैत्यवृक्ष व्यन्तर देवों ने स्थापित किया जो कि तीन रत्नों (ज्ञान, दर्शन, चारित्र) के उदय से लग रहे थे। उस वृक्ष के नीचे विविध रत्नों की एक पीठिका निर्मित की और उसी पीठिका के ऊपर अनुपम मणियों का छन्दक स्थापित किया। छन्दक के मध्य पूर्व दिशा की ओर लक्ष्मी के सार रूप से पादपीठ सहित रत्न सिंहासन स्थापित किया और उस सिंहासन के ऊपर तीन लोक के स्वामित्व के चिह्न रूप तीन छत्र शोभित थे। सिंहासन के दोनों ओर दो यक्ष चँवर लिए खड़े थे। चँवर ऐसे लग रहे थे मानो हृदय में समस्त भक्ति धारण न कर सकने के कारण वह बाहर निकल आई है एवं दोनों चँवर उसके समूह हैं। समवसरण के चारों द्वार पर अलौकिक कान्तिमय धर्मचक्र स्वर्ण कमल पर रखा हुआ था। अन्य जो कुछ करणीय था व्यन्तर देवताओं ने वे समस्त कार्य किए। कारण, साधारणतः समवसरण के अधिकारी वही होते हैं। (श्लोक ४५१-४५७)

प्रभात के समय चार निकाय के कोटि-कोटि देवताओं के साथ प्रभु समवसरण में प्रवेश करने चले। उस समय देवतागण हजार-हजार पंखुड़ियों वाले नौ स्वर्ण कमल बनाकर प्रभु के सम्मुख रखने लगे। उनमें दो पर प्रभु चरण रखने लगे और देव जैसे ही प्रभु के चरण अग्रवर्ती कमल पर पड़ते वैसे ही पीछे के कमल आगे

रख देते। जगत्पति ने पूर्व द्वार से समवसरण में प्रवेश कर चैत्य वृक्ष की प्रदक्षिणा दी। फिर तीर्थ को नमस्कार कर सूर्य जैसे पूर्वांचल पर आरूढ़ होता है उसी प्रकार जगत के मोह रूपी अन्धकार को नष्ट करने के लिए पूर्वाभिमुखी सिंहासन पर आरूढ़ हुए। उस समय व्यन्तर देवताओं ने अन्य तीन दिशाओं में सिंहासन पर प्रभु की रत्नमय तीन प्रतिमाएँ स्थापित कीं। यद्यपि देवतागण प्रभु के अंगुष्ठ की प्रतिकृति भी यथायोग्य बनाने में समर्थ नहीं थे फिर भी प्रभु के प्रताप से प्रभु की प्रतिमा यथायोग्य निर्मित हो गई। प्रभु के मस्तक के चारों ओर भामण्डल प्रकट हुआ। उस मण्डल की द्युति के सम्मुख सूर्यमण्डल की द्युति खद्योत-सी लगने लगी। मेघ-सी गम्भीर शब्दकारी देव-दुन्दुभि बजने लगी। उसकी प्रतिध्वनि से चारों दिशाएँ शब्दायमान हो गईं। प्रभु के निकट एक रत्नमय ध्वजा थी। वह ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो धर्म पृथ्वी के वे ही एकमात्र प्रभु हैं ऐसा संकेत करने के लिए अपना एक हाथ उत्तोलित कर रही है। (श्लोक ४५८-४६७)

फिर विमानपति देवों की देवियां पूर्व द्वार से आईं। वे उन्हें तीन प्रदक्षिणा देकर तीर्थ और तीर्थङ्कर को नमस्कार कर प्रथम प्राकार में साधु-साध्वियों के लिए स्थान रखकर अपने स्थान के अग्निकोण में खड़ी हो गईं। भुवनपति ज्योतिष्क और व्यन्तर देवों की देवियां दक्षिण द्वार से प्रवेश कर और पूर्व विधि का पालन कर क्रमशः विमानपति देवों की भांति नैऋत्य कोण में जाकर खड़ी हो गईं। भवनपति, ज्योतिष्क और व्यंतर देवतागण पश्चिम दिशा के द्वार से प्रवेश कर उपर्युक्त विधि का पालन कर वायव्य कोण में जाकर बैठ गए। वैमानिक देव और मनुष्य स्त्री-पुरुष उत्तर दिशा के द्वार से प्रवेश कर पूर्व विधि के अनुसार ईशान कोण में जाकर बैठ गए। वहां पहले आने वाले अल्पऋद्धि सम्पन्न, पीछे आने वाले ऋद्धि सम्पन्न को नमस्कार करते और पीछे आने वाले आगे वाले को नमस्कार करके आगे चले जाते। प्रभु समवसरण में किसी का भी आना निषेध नहीं था। वहां विकथा नहीं थी, विरोधियों के मध्य विरोध नहीं था और किसी का भय नहीं था। द्वितीय प्राकार में तिर्यंच प्राणी आकर बैठ गए और तृतीय प्राकार में सबके वाहन रह गए। तृतीय प्राकार के बहिर्देश में तिर्यंच, मनुष्य और देवता आते-

जाते दिखाई पड़ रहे थे। (श्लोक ४६८-४७६)

इस प्रकार समवसरण रचित होने के पश्चात् सौधर्म कल्प के इन्द्र हाथ जोड़कर प्रभु को नमस्कार कर रोमांचित बने इस प्रकार स्तुति करने लगे : 'हे स्वामी, कहां आप गुणों के पर्वत, कहां मैं बुद्धि का दरिद्र, फिर भी आप की भक्ति ने मुझे अत्यन्त वाचाल बना दिया है अतः मैं आपकी स्तुति करता हूं। हे जगत्पति, जिस प्रकार रत्नों से रत्नाकर शोभित होता है उसी प्रकार आप अनन्त ज्ञान, दर्शन, वीर्य और आनन्द से शोभित हैं। हे देव, इस भरत क्षेत्र में बहुत दिन हुए धर्म नष्ट हो गया है। आप उस धर्म रूपी वृक्ष को पुनः उत्पन्न करने के लिए बीज सम बनिए। हे प्रभु आपके माहात्म्य की सीमा नहीं है। कारण, स्वस्थान में रहे हुए ही आप अनुत्तर विमान के देवताओं के सन्देह का निवारण कर सकते हैं। महान् ऋद्धि [illegible] कान्ति से अत्यधिक इन सब देवताओं को स्वर्ग में रहने का जो सौभाग्य प्राप्त हुआ है वह तो आपकी भक्ति का सामान्य फल है।' (श्लोक ४७७-४८२)

'मूर्खों का ग्रन्थ अध्ययन जिस प्रकार दुःख का कारण होता है उसी प्रकार जिस मनुष्य के मन में आपकी भक्ति नहीं उसकी बड़ी-बड़ी तपस्या भी कायक्लेश का कारण ही बनती है। हे प्रभु, स्तुति करने वाले और निन्दा करने वाले दोनों पर ही आप समभाव रखते हैं; किन्तु आश्चर्य यह है कि दोनों को शुभ और अशुभ फल पृथक्-पृथक् मिलता है। हे प्रभो, मैं स्वर्ग की लक्ष्मी से सन्तुष्ट नहीं हूं। इसलिए मैं प्रार्थना करता हूं कि मेरे हृदय में आपकी अक्षय और अपार भक्ति हो।' इस प्रकार स्तुति कर पुनः नमस्कार कर इन्द्र नर-नारी और देवताओं के आगे प्रभु के सम्मुख हाथ जोड़कर बैठ गया। (श्लोक ४८३-४८६)

उधर अयोध्या नगर में भरत चक्रवर्ती सुबह होते ही माता मरुदेवी को नमस्कार करने गए। अपने पुत्र के वियोग में रात-दिन रोते रहने के कारण उनके नेत्रों में एक व्याधि हो गई थी। फलतः उनकी दृष्टि चली गई थी। एतदर्थ 'आपका बड़ा पौत्र आपके चरणों में नमस्कार करता है' ऐसा कहकर भरत ने उनके चरण वन्दन किए। स्वामिनी मरुदेवी ने भरत को आशीर्वाद दिया। फिर मानो हृदय में शोक वहन नहीं कर पा रही हों इस प्रकार बोलने

लगीं—'वत्स, मेरा पुत्र ऋषभ मुझे, तुम्हें, प्रजावृन्द को, लक्ष्मी को एवं राज्य को तृणवत् परित्याग कर चला गया है तब भी इस मरुदेवी की मृत्यु नहीं हुई। जिस मेरे पुत्र के मस्तक पर चन्द्र की चन्द्रिका की तरह छत्र रहता था वह अभी कहां है ? छत्र विरहित होने के कारण उसके समस्त अङ्ग को सन्तापदानकारी सूर्य किरण निश्चय ही पीड़ित कर रही होगी। पहले तो वह श्रेष्ठ हस्ती आदि वाहन पर आरूढ़ होकर निकलता था अब पथचारी पथिक की भांति पैदल चलता होगा। पहले उसकी देह वारांगनाएं चमर वीजती थीं अब वह दंश-मशकादि की पीड़ा सहन करता होगा। पहले वह देवों द्वारा लाया हुआ दिव्य आहार ग्रहण करता और आज अभाजन की तरह भिक्षा-भोजन ग्रहण करता है। पहले वह महान् ऋद्धिसम्पन्न रत्न सिंहासन पर बैठता था, आज गैण्डे की तरह बिना आसन के ही बैठता है। पहले वह नगररक्षक और शरीररक्षकों से रक्षित होकर नगर में रहता था, अब तो वह सिंहादि पशुओं से पूर्ण वन में वास करता होगा। दिव्यांगनाओं के अमृततुल्य गीत श्रवणकारी उसके कर्ण सूचिविद्धकारी सर्पों की फुफकार सुनते होंगे। कहां उसकी पूर्व स्थिति और कहां आज की वर्तमान स्थिति ? हाय ! मेरे पुत्र ने कितना दुःख सहन किया है। वह कमल तुल्य कोमल था। आज वर्षा के उपद्रवों को सहन करता है। अरण्य की मालती लता की तरह हेमन्त का हिमपात उसे विवश होकर सहन करना होता है। ग्रीष्मकाल में वनवासी हस्ती की तरह सूर्य के प्रति दारुण किरण-जालों का वह कष्ट सहन करता होगा। इस प्रकार मेरा पुत्र वनवासी होकर आश्रयहीन साधारण पुरुष की तरह अकेला प्रव्रजन करता है, दुःख सहन करता है। मेरे ऐसे दुःख पीड़ित पुत्र को मानो मेरी आंखों के सम्मुख ही हो इस प्रकार देखती हूं और तुम्हें भी सर्वदा ये सब बातें सुनाकर दुःखित करती रहती हूं।'

(श्लोक ४८७-५०३)

मरुदेवी माता को इस प्रकार दुःखार्त्त देखकर राजा भरत हाथ जोड़कर अमृत तुल्य वाणी में बोले—'हे देवि, धैर्य के पर्वत तुल्य, बज्र के सार रूप, महासत्त्व सम्पन्न, मनुष्य शिरोमणि मेरे पिता की मां होकर आप इस प्रकार दुःखी क्यों हो रही हैं ? इस समय पिताजी संसार समुद्र को अतिक्रम करने का प्रयत्न कर रहे

हैं। अतः हम लोगों को गले में लटकते हुए पत्थर की तरह समझ कर परित्याग कर दिया है। उनके सम्मुख तो वन विचरणकारी हिंस्र पशु भी प्रस्तर पुत्तलि की भांति ही हो जाते हैं। वे उन्हें जरा भी कष्ट नहीं दे सकते। क्षुधा, तृष्णा, शीत-ग्रीष्म पिताजी के कर्म नाश करने में सहायक हो रहे हैं। यदि आपको मेरी बातों का विश्वास नहीं है तो अल्प समय के मध्य ही जब पुत्र के केवल-ज्ञान प्राप्ति का समाचार सुनेंगी तो अवश्य ही विश्वास हो जाएगा।'

(श्लोक ५०४-५०९)

ठीक उसी समय द्वारपाल ने यमक और शमक नामक दो संवादवाहकों के आने की सूचना महाराज भरत को दी। उनमें यमक ने आकर प्रणाम निवेदन कर कहा—'हे देव, आज पुरिमताल नगर के शकटानन उद्यान में युगादिनाथ को केवल-ज्ञान उत्पन्न हुआ है। ऐसा कल्याणकर संवाद निवेदन करते हुए मुझे ऐसा लग रहा है कि भाग्योदय से आपकी भी अभिवृद्धि हो रही है।' (श्लोक ५१०-५१२)

शमक तब उच्च कण्ठ से बोला—'देव, आपकी आयुधशाला में इसी समय चक्र रत्न उत्पन्न हुआ है।' (श्लोक ५१३)

यह सुनकर राजा भरत कुछ देर के लिए चिन्तान्वित हो गए। उधर पिता ने कैवल्य प्राप्त किया है, इधर चक्ररत्न उत्पन्न हुआ है—अब मेरे लिए प्रथम किसकी पूजा करना उचित है? किन्तु, कहां विश्व को अभयदान देने वाले मेरे पिता और कहां प्राण विनाशकारी यह चक्र? ऐसा चिन्तन कर उन्होंने प्रथम पिता की पूजा के लिए आने को प्रस्तुत होने का आदेश दिया। यमक और शमक को बहुत-सा पुरस्कार देकर विदा किया एवं माता मरुदेवी से बोले—'देवी, आप सर्वदा करुणावशवर्त्ती होकर कहती थीं कि भिक्षाजीवी एकाकी मेरा पुत्र दुःखी है; किन्तु अब तो वे त्रिलोक के स्वामी हो गए हैं। अब उनका वैभव देखिए'—ऐसा कहकर उन्हें हस्ती पृष्ठ पर आरूढ़ करवाया। (श्लोक ५१४-५१८)

पीछे मूर्त्तिमती लक्ष्मी की तरह सोना, रत्न और माणिक्य के आभूषणों से युक्त अश्व, हस्ती, रथ और पदातिक सेना लेकर महाराज भरत ने यात्रा प्रारम्भ की। निज आभूषणों की द्युति से जंगमतोरणरचनाकारी सैन्य सहित चलते हुए महाराज भरत ने दूर से ही ऊपरी प्राकार को देखा और मरुदेवी माता को बोले—

'देवि, वह देखिए देवी और देवताओं ने प्रभु के समवसरण की रचना की है। सुनिए पिताजी के चरणों की सेवा से आनन्दित बने देवताओं की जय ध्वनि। प्रभु के चरण रूप आकाश में बजती हुई दुन्दुभि गम्भीर और मधुर शब्द से हृदय में आनन्द उत्पन्न कर रही है। प्रभु के चरणों में वन्दन करने वाले देवताओं के विमानों से निकलती हुई घुंघरुओं की आवाज मैं सुन रहा हूं। भगवान् के दर्शनों से आनन्दित देवताओं का मेघ गर्जन-सा सिंहनाद आकाश में गूंज रहा है। ताल स्वर और राग समन्वित पवित्र गन्धर्व गीत प्रभु वाणी की दासी-सा हम लोगों को आनन्दित कर रहा है। भरत के कथन से उत्पन्न आनन्दाश्रु से मरुदेवी माता की आंखों के जाले इस तरह कट गए जिस तरह जल के प्रवाह से आवर्जना धुल जाती है। अतः उन्होंने पुत्र को अतिशय सहित तीर्थंकरत्व लक्ष्मी को अपनी आंखों से देखा और उस आनन्द में लीन हो गईं। उसी समय के समकाल में अपूर्वकरण के क्रम से क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर अष्ट कर्म क्षय करते हुए केवल-ज्ञान प्राप्त किया और उसी समय आयु पूर्ण हो जाने के कारण हस्तीपृष्ठ पर बैठ हुए ही उन्होंने अव्यय मोक्ष पद प्राप्त किया। इस अवसर्पिणी काल में मरुदेवी माता प्रथम सिद्ध हुईं। देवताओं ने उनका सत्कार कर उनकी देह को क्षीर समुद्र में निक्षेप कर दिया। उस दिन से लोक में मृत का सत्कार करना प्रारम्भ हुआ। कहा भी गया है—महापुरुष जो कार्य करते हैं वे ही आचार रूप स्वीकृत हो जाते हैं।

(श्लोक ५१९-५३२)

मरुदेवी माता की मोक्ष प्राप्ति से राजा भरत हर्ष और शोक से इस प्रकार व्याकुल हो गए जैसे मेघ की छाया और सूर्य के आलोक से शरत् का दिन होता है। फिर भरत ने राजचिह्न परित्याग कर परिवार सहित पैदल चलते हुए उत्तर दिशा के द्वार से समवसरण में प्रवेश किया। वहां चार निकायों के देवों से परिवृत्त और दृष्टि रूपी चकोर के लिए चन्द्रमा रूप प्रभु को देखा। भगवान् को प्रदक्षिणा देकर प्रणाम किया और युक्त-कर माथे पर रख इस प्रकार स्तुति करने लगे—'हे अखिलनाथ, आपकी जय हो! हे विश्व को अभयदान देने वाले, आपकी जय हो! हे प्रथम तीर्थंकर, हे जगत्त्राता, आपकी जय हो! आज इस अवसर्पिणी में उत्पन्न लोक-

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

रूप कमल के लिए सूर्य रूप आपके दर्शनों से मेरा अन्धकार दूर हुआ। मेरे लिए यह जैसे सुप्रभात है। हे नाथ, भव्य जीवों के मन रूपी जल को निर्मल करने के लिए निर्मली तुल्य आपकी वाणी की जय हो। हे करुणा के क्षीर समुद्र, जो आपके शासन रूपी महारथ पर आरोहण करता है उनसे मोक्ष दूर नहीं रह सकता। हे देव, हे अकारण जगद्बन्धु, हम आपको साक्षात् देख रहे हैं इसलिए संसार को हम मोक्ष से अधिक मान रहे हैं। हे प्रभो, इस संसार में ही अपलक नेत्रों से आपके दर्शनों के महानन्द रूपी झरने में हमें मोक्ष सुख-स्वाद का अनुभव हो रहा है। हे नाथ, राग-द्वेष-कषाय आदि शत्रु द्वारा बद्धदशा प्राप्त इस संसार के लिए आप अभयदानकारी और बन्धनमुक्तकारी हैं। हे जगत्पति, आप तत्त्व का ज्ञान दीजिए, मार्गदर्शन कराइए और संसार की रक्षा कीजिए। अब इससे अधिक और मैं आपसे क्या प्रार्थना करूँ? जो लोग नानाविध उपद्रव और युद्ध करके एक-दूसरे के ग्राम, नगर आदि छीन लेते हैं वे राजा भी परस्पर मैत्री धारण कर आपकी सभा में बैठे हुए हैं। आपके समवसरण में आगत हस्ती अपनी सूंड से सिंह के पैरों को खींचकर उससे अपने कुम्भस्थल को बार-बार खुजला रहा है। यह भैंसा अपनी स्नेह भरी जीभ से बार-बार अन्य भैंस को चाटने की तरह हुंकारी अश्व को चाट रहा है। क्रीड़ा करता हुआ यह मृग पूँछ हिलाते-हिलाते कान ऊँचा और माथा नीचा कर अपनी नाक से बाघ के मुख को सूंघ रहा है। यह तरुण बिडाल अपने आस-पास आगे-पीछे दौड़ते हुए चूहों का अपने बच्चों की तरह आदर कर रहा है। सर्प कुण्डली मारकर नकुल के पास निर्भय होकर बैठा है। हे देव, ये सब और अन्य प्राणी जो परस्पर वैर-भाव सम्पन्न हैं वे भी यहां निर्वैर बने उपस्थित हैं। इसका कारण आपका अतुल प्रभाव है। (श्लोक ५३३-५४९)

राजा भरत इस प्रकार जगत्पति की स्तुति कर क्रमशः पीछे हटे और स्वर्गपति इन्द्र के पीछे जा बैठे। तीर्थनाथ के प्रभाव से उस योजन परिमित स्थान में ही कोटि-कोटि प्राणी बिना किसी कष्ट का अनुभव किए बैठे हुए थे। (श्लोक ५५०-५५१)

तब समस्त भाषा को स्पर्श करने वाली पैंतीस अतिशय सम्पन्न योजनगामिनी वाणी से प्रभु ने इस प्रकार उपदेश देना

आशीर्वाद :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

प्रारम्भ किया : 'आधि-व्याधि-जरा और मृत्यु रूप हजारों ज्वालाओं से भरा यह संसार समस्त प्राणियों के लिए प्रज्वलित अग्नि जैसा है। अतः ज्ञानी व्यक्ति को जरा भी प्रमाद करना उचित नहीं है। कारण, रात्रि के समय यात्रा करने योग्य मरुस्थल में ऐसा कौन अज्ञानी है जो प्रमाद करेगा अर्थात् यात्रा नहीं करेगा। अनेक योनि रूप आवर्त्त से क्षुब्ध संसार रूपी समुद्र में पतित प्राणियों को उत्तम रत्न की भांति मनुष्य जन्म मिलना दुर्लभ है। दोहदपूर्ण होने पर जैसे वृक्ष फलयुक्त होता है उसी प्रकार परलोक का साधन संग्रह करने से ही मनुष्य जन्म सफल होता है। इस संसार में शठ व्यक्तियों की वाणी आरम्भ में मीठी और परिणाम में कटुफल देने वाली होती है। उसी प्रकार विषय वासना विश्व को ठगती है और दुःख देती है। बहुत ऊँचाई का परिणाम जिस प्रकार गिर पड़ना है उसी प्रकार संसार के समस्त पदार्थ के संयोग का अन्त वियोग में है। संसार के समस्त प्राणियों का धन-वैभव और आयु मानो परस्पर स्पर्द्धा कर रही हो इस प्रकार नष्ट हो जाती है। मरुदेश में जिस प्रकार स्वादिष्ठ जल नहीं पाया जाता उसी प्रकार संसार की चारों गतियों में भी लेशमात्र सुख का अनुभव नहीं होता। क्षेत्र दोष से दुःखसहनकारी और परमाधार्मिकों के द्वारा सन्तप्त जीवों को तो सुख होगा ही कैसे? शीत, ग्रीष्म, वर्षा, तूफान, और अनुरूप वध, बन्धन, क्षुधा-पिपासादि से अनेक प्रकार के कष्ट सहनकारी तिर्यंचों को भी सुख कहां? परस्पर द्वेष, असहिष्णुता, कलह और च्यवन आदि दुःख देवताओं को भी सुख प्राप्त नहीं होने देते। फिर भी जल जैसे नीचे की ओर जाता है उसी प्रकार प्राणी भी अज्ञान के कारण बार-बार संसार की ओर दौड़ता है। इसलिए हे भव्य प्राणी, जिस प्रकार दूध पिलाकर सर्प का पोषण करा जाता है उस प्रकार मनुष्य जन्म के द्वारा संसार का पोषण मत करो।

(श्लोक ५५२-५५६)

'हे विवेकीगण, इस संसार में रहने पर नाना प्रकार के दुःख प्राप्त करने होते हैं—इसका समुचित विचार कर सब प्रकार से मुक्तिलाभ का प्रयत्न करो। संसार में नरक-यन्त्रणा-सा गर्भावास का दुःख है। ऐसा दुःख मोक्ष में कभी नहीं होता। कुम्भी में से खींचने से उत्पन्न नारकी जीवों की पीड़ा-सी प्रसव वेदना मोक्ष में कभी नहीं होती। भीतर और बाहर ठोके हुए कीलों की पीड़ा-सी

आधि-व्याधि पीड़ा मोक्ष में कभी नहीं होती। यमराज की अग्रदूती समस्त प्रकार की शक्ति को अपहरण करने वाली और पराधीन कारिणी जरा वहां नहीं होती और नारक तिर्यंच, मनुष्य एवं देवताओं की तरह संसार भ्रमण करने की कारण रूप मृत्यु भी वहां नहीं होती। मोक्ष तो महानन्द अद्वैत और अव्य सुख शाश्वत रूप और केवल-ज्ञान सूर्य की अखण्ड ज्योति है। सर्वदा ज्ञान-दर्शन और चारित्र रूप तीन उज्ज्वल रत्नधारणकारी पुरुष ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। जीवादि तत्त्वों का संक्षेप व विस्तार में जो यथार्थ ज्ञान होता है उसे सम्यक् ज्ञान कहते हैं। ज्ञान पांच प्रकार के होते हैं। मति, श्रुत, अवधि, मनपर्यव और केवल। अवग्रहादि भी बहुग्रहादि, अबहुग्रहादि भेदयुक्त है। इन्द्रिय, अनिन्द्रिय से उत्पन्न जो ज्ञान है उसे मतिज्ञान कहा जाता है। पूर्व, अङ्ग, उपाङ्ग और प्रकीर्णक सूत्र ग्रन्थ में जो विस्तारित भाव से [illegible] है और [illegible] से [illegible] सुशोभित होता है ऐसे अनेक प्रकार के ज्ञान को श्रुत-ज्ञान कहते हैं। जो ज्ञान नारकी जीवों को जन्म से ही उत्पन्न होता है उसे अवधि-ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान क्षय और उपशम लक्षणयुक्त है। मनुष्य और तिर्यंच के आश्रय से इसके छह भेद होते हैं। जिससे अन्य प्राणी का मनोभाव जाना जाए उसे मनपर्यव-ज्ञान कहते हैं। मनपर्यव ज्ञान के भी ऋजुमति, विपुलमति दो भेद हैं। इनमें विपुलमति विशुद्ध और अप्रतिपात हैं। जो समस्त द्रव्य और पर्यायों के विषय-युक्त विश्वलोचन की भांति अनन्त और इन्द्रिय-विषय हीन है उसे केवल-ज्ञान कहते हैं। (श्लोक ५६७-५८१)

'शास्त्रोक्त तत्त्वों में रुचि सम्यक् श्रद्धा है। यह श्रद्धा स्वभाव या गुरूपदेश से प्राप्त होती है। (श्लोक ५८२)

'सम्यक् श्रद्धा को ही सम्यक्त्व या सम्यक् दर्शन कहते हैं। इस अनादि अनन्त संसार चक्र में भ्रमणशील जीव के ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय नामक कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस करोड़ सागरोपम की है। गोत्र और नाम कर्म की बीस करोड़ सागरोपम और मोहनीय कर्म की स्थिति ७० कोटा-कोटि सागरोपम की है। अनुक्रम से फलों का उपभोग करते हुए समस्त कर्म उसी प्रकार मसृण हो जाते है जिस प्रकार पर्वत से निकलने वाली नदी के आवर्त्त में पाषाण घिसते-घिसते मसृण हो जाता है।

इस प्रकार क्षय प्राप्तकारी कर्म की स्थिति अनुक्रम से २९, १९ और ६९ कोटा-कोटि सागरोपम की और १ कोटि सागरोपम से कुछ कम स्थिति जब बाकी रह जाती है तब जीव को यथाप्रवृत्तिकरण द्वारा ग्रन्थि देश प्राप्त होता है। दुःख में जिसे विद्ध किया जाए ऐसे राग-द्वेष के परिणाम को ग्रन्थि देश कहते हैं। वह ग्रन्थि कठोर ग्रन्थि की तरह खूब मजबूत होती है। किनारे पर आया हुआ जहाज जैसे वायु वेग से समुद्र की ओर प्रवाहित होता है उसी प्रकार रागादि प्रेरित बहुत से जीव ग्रन्थि को विद्ध किए बिना ही ग्रन्थि के निकट से प्रत्यावर्त्तन करते हैं। बहुत से जीव राह में अवरोध प्राप्त कर नदी का जल जैसे रुद्ध हो जाता है उसी प्रकार परिणाम विशेष प्राप्त न होने से वहीं रुद्ध हो जाते हैं। कठिन मार्ग को पथिक जैसे क्रमशः अतिक्रम करता है उसी प्रकार बहुत से जीव जिनका भविष्य में कल्याण होने वाला है अपूर्वकरण द्वारा अपने सामर्थ्य का परिचय देकर दुर्भेद्य ग्रन्थि को भी शीघ्र ही विद्ध करते हैं। चार गति के बहुत से जीव अनिवृत्तिकरण से अन्तरकरण द्वारा मिथ्यात्व को क्षीण कर अन्तर्मुहूर्त्त में क्षायक् दर्शन को प्राप्त कर लेते हैं। इसे नैसर्गिक श्रद्धा कहा जाता है। गुरु उपदेश के अवलम्बन से भव्य जीवों को जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है उसे गुरु अधिगम से प्राप्त सम्यक्त्व कहा जाता है। (श्लोक ५८३-५९५)

'सम्यक्त्व के औपशमिक, सास्वादन, क्षयोपशमिक, वेदक और क्षायिक ये पाँच भेद हैं। कर्म ग्रन्थि विद्ध होकर जिस जीव को अन्तर्मुहूर्त्त के लिए सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। इसी प्रकार उपशम श्रेणी के योग से जिसका मोह शान्त हो गया है ऐसे जीव को मोहक उपशम से जो सम्यक्त्व प्राप्त होता है उसे भी औपशमिक सम्यक्त्व बोला जाता है। सम्यक्त्व भाव का त्याग कर मिथ्यात्व की ओर गतिशील जीव को अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से उत्कृष्ट रूप में छह आवलि एवं जघन्य रूप में एक समय पर्यन्त सम्यक्त्व का जो परिणाम रहता है उसे सास्वादन सम्यक्त्व कहा जाता है। मिथ्यात्व मोहनीय के क्षय और उपशम से जो सम्यक्त्व होता है वह क्षयोपशमिक सम्यक्त्व है। वे सम्यक्त्व मोहनीय परिणाम सम्पन्न जीवों को होता है। जो क्षायक भाव को प्राप्त कर लेते हैं जिनका अनन्तानुबन्धी कषायों का पाश

क्षय हो गया है जिनका मिथ्यात्व मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय अच्छी तरह से क्षय हो गया है जो क्षायक सम्यक्त्व के सम्मुखीन हैं ऐसे और सम्यक्त्व मोहनीय के अन्तिम अंश का भोग कर रहे हैं ऐसे जीवों को वेदक नामक चतुर्थ सम्यक्त्व प्राप्त होता है। सात प्रकृतियाँ (अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय और मिथ्यात्व मोहनीय क्षय करने में तत्पर शुभ भाव-युक्त जीव को क्षायिक नामक पंचम सम्यक्त्व प्राप्त होता है।

(श्लोक ५९६-६०४)

'गुण भेद से भी सम्यक्त्व तीन प्रकार होता है। यथा रोचक, दीपक और कारक। शास्त्रोक्त तत्त्व से हेतु और उदाहरण व्यतिरेक से जो दृढ़ विश्वास उत्पन्न होता है उसे रोचक सम्यक्त्व कहते हैं। जो अन्य के सम्यक्त्व को प्रदीप्त करे उसे दीपक सम्यक्त्व कहते हैं और जो संयम और तपादि उत्पन्न करता है उसे कारक सम्यक्त्व कहते हैं। ये सम्यक्त्व सम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिकता के लक्षणों से युक्त होते हैं। जिससे अनन्तानुबन्धी कषाय उत्पन्न नहीं होता उसे शम कहते हैं। सम्यक् प्रकृति से कषाय को देखने का नाम शम है। कर्म का परिणाम और संसार की असारता का का विचार करते-करते विषयों से जो वैराग्य हो जाता है उसे संवेग कहते हैं। संवेग भावयुक्त जीवों के मन में संसार में रहना कारावास की तरह है। आत्मीय स्वजन बन्धन रूप है, ऐसा जो विचार आता है उसी विचार को निर्वेद कहा जाता है। एकेन्द्रिय आदि समस्त प्राणी को संसार में दुःख भोग करते देखकर मन में जो आर्द्रता आती है उसे दूर करने के लिए जो प्रवृत्ति होती है उसे अनुकम्पा कहते हैं। अन्य तत्त्व सुनने पर भी अर्हत् तत्त्व पर जो गौरव और विश्वास रहता है उसे आस्तिकता कहते हैं। इस प्रकार सम्यक् दर्शन का वर्णन किया गया है। इसकी प्राप्ति अल्प समय के लिए होने पर भी पूर्व का जो मति अज्ञान था वह नष्ट होकर मतिज्ञान में, श्रुत अज्ञान श्रुत-ज्ञान में और विभंग-ज्ञान अवधिज्ञान में रूपान्तरित हो जाता है। (श्लोक ६०५-६१६)

'समस्त प्रकार के सावद्य योग के परित्याग का नाम चारित्र है। यह अहिंसादि व्रतों के भेद से पांच प्रकार का होता है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच व्रत भावनाओं से

युक्त होने पर मोक्ष के कारण होते हैं। प्रमाद योग से त्रस और स्थावर जीवों का प्राण नाश न करना अहिंसा व्रत है। अप्रिय और अहितकारी सत्यवचन भी असत्य तुल्य है। अदत्त वस्तु का ग्रहण न करना अस्तेय व अचौर्य व्रत है। धन मनुष्य के बाह्य प्राण तुल्य है अतः जो अन्य का धन अपहृत करता है वह उसका प्राण हरण करता है। दिव्य (वैक्रिय) और औदारिक शरीर में मन, वचन, काया से अब्रह्मचर्य सेवन करना कराना और अनुमोदन करने से विरत रहना ब्रह्मचर्य व्रत है। ब्रह्मचर्य अठारह प्रकार का होता है। समस्त वस्तुओं से मूर्च्छा व मोह त्याग अपरिग्रह व्रत है। कारण, मोह से जो वस्तु नहीं है उसके लिए भी चित्त व्याकुल हो उठता है। यतिधर्म में अनुरक्त लोगों के लिए यह सर्वतोभाव से पालनीय है। गृहस्थों के लिए देश व आंशिक पालन को चारित्र कहते हैं।

(श्लोक ६१७-६२४)

'पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत गृहस्थों के लिए ये बारह व्रत हैं। ये व्रत सम्यक्त्व के मूल हैं। पंगु होना, कुष्ठ रोग होना और क्रूरता हिंसा के परिणाम हैं। इसलिए बुद्धिमान् व्यक्तियों का निरपराध त्रस जीवों की हत्या से विरत रहना उचित है। वाक् यन्त्रों की न्यूनता, अस्पष्ट उक्ति, मूकत्व, मुख व्याधि आदि झूठ बोलने के परिणाम हैं। जानकर झूठ बोलना, स्त्रियों के सम्बन्ध में मिथ्योक्ति आदि पांच प्रकार के असत्य भाषण का परिहार करना चाहिए। नपुंसकता, इन्द्रियहीनता को अब्रह्मचर्य का फल जानकर बुद्धिमान् व्यक्ति स्वदार सन्तोष और पर स्त्री का त्याग करे। असन्तोष, अविश्वास, आरम्भ और दुःख आदि को परिग्रह मूर्च्छा का परिणाम जानकर परिग्रह परिमाण करना उचित है।'

(श्लोक ६२५-६३१)

'दस दिशाओं में किसी भी दिशा में निर्मित सीमा का अतिक्रम कर न जाना दिग्व्रत नामक प्रथम गुणव्रत है। समर्थ होने पर भी भोग और उपभोग की संख्या निर्धारण भोगोपभोग परिमाण नामक द्वितीय गुणव्रत है। आर्त और रौद्र ध्यान करना, पाप कर्म का उपदेश देना, किसी को ऐसी वस्तु दान करना जिससे हिंसा होती है एवं प्रमादाचरण इन चार को अनर्थदण्ड कहा जाता है। शरीरादि अर्थदण्ड के प्रतिपक्षी अनर्थदण्ड का त्याग करना तृतीय गुणव्रत है।'

(श्लोक ६३२-६३५)

'आर्त्त और रौद्र ध्यान त्याग कर सावद्य कर्म का परिहार कर एक मुहूर्त्त अथवा ४८ मिनट पर्यन्त समभाव धारण करना सामायिक व्रत है। (श्लोक ६३६)

मार्गदर्शक

'दिवस रात्रि सम्बन्धी दिग्व्रत परिणाम को और अधिक सीमित करने को देशावकाशिक व्रत कहते हैं। (श्लोक ६३७)

'चार पर्व दिन (द्वितीया, पंचमी, अष्टमी और एकादशी) और चतुर्दशी के दिन उपवासादि तपस्या करना, संसार सम्बन्धी समस्त कर्मों का परित्याग करना, ब्रह्मचर्य पालन करना और अन्य स्नानादि क्रिया का परित्याग करना पौषध व्रत है।' (श्लोक ६३८)

'अतिथि (साधु) को चतुर्विध आहार, पात्र, वस्त्र और स्थान दान को अतिथिसंविभाग व्रत कहते हैं। चतुर्विध आहार—(१) अशन—अन्नादि भोजन (२) पान—पेय वस्तु (३) खादिम—फल आदि (४) स्वादिम—लवंग, इलायची आदि।

'यति और श्रावकों को मोक्ष प्राप्ति के लिए सम्यक् ऐसे तीन रत्नों की सर्वदा उपासना करनी चाहिए।' (श्लोक ६३९-६४०)

ऐसा उपदेश सुनकर उसी समय भरतपुत्र ऋषभसेन ने प्रभु को नमस्कार कर निवेदन किया—'हे स्वामी, कषायरूपी दावानल में, इस भयंकर संसार रूपी अरण्य में आप नवीन मेघ की भांति अद्वितीय तत्त्वामृत वर्षण कर रहे हैं। समुद्र में निमज्जमान व्यक्ति जैसे समुद्र में पोत प्राप्त करता है, पिपासित जल-सत्र, शीत से व्याकुल अग्नि, आतप-पीड़ित वृक्ष की छाया, अन्धकार-निमग्न द्वीप, दरिद्र धन, विष-पीड़ित अमृत, रोग-ग्रस्त औषध, शत्रु-पीड़ित दुर्ग का आश्रय, उसी प्रकार संसार भय से भयभीत हमने आपको प्राप्त किया है। इसलिए हे दयानिधे, रक्षा करिए! हमारी रक्षा करिए! पिता, भाई, भतीजा और अन्य आत्मीय परिजन संसार भ्रमण के हेतु रूप होने के कारण अहितकारी तुल्य हैं अतः इनसे मुझे क्या प्रयोजन? हे जगत् शरण्य, इस संसार समुद्र को उत्तरण करने में सहायकारी आपकी मैं शरण ग्रहण करता हूं अतः आप मुझ पर प्रसन्न हों और मुझे दीक्षा दें। (श्लोक ६४१-६४७)

इस प्रकार निवेदन कर ऋषभसेन ने भरत के अन्य पांच सौ पुत्र और सात सौ पौत्र सहित व्रत ग्रहण कर लिया। सुरासुर

अभिनन्दित प्रभु के केवल-ज्ञान की महिमा देखकर भरतपुत्र मरीचि ने भी व्रत ग्रहण कर लिया। भरत की आज्ञा मिलने पर ब्राह्मी भी दीक्षित हो गई। कारण, लघुकर्म युक्त जीवों के लिए गुरु का उपदेश प्रायः साक्षीमात्र ही होता है। (श्लोक ६४८-६५०)

बाहुबली की आज्ञा पाकर सुन्दरी भी दीक्षा लेने को उद्यत हो गई; किन्तु भरत के निषेध करने पर वह प्रथम श्राविका बनी। भरत ने भी प्रभु से श्रावक धर्म ग्रहण किए। कारण, योग्य कर्मों को भोगे बिना व्रत प्राप्त नहीं होता। मनुष्य, तिर्यंच और देवताओं की उसी परिषद् में किसी ने साधु व्रत ग्रहण किया तो किसी ने सम्यक्त्व ग्रहण किया। उन राज तपस्वियों के मध्य कच्छ और महाकच्छ को छोड़कर अन्य समस्त तापस प्रभु के निकट आकर सहर्ष पुनः दीक्षित हो गए। उसी समय से चतुर्विध संघ की प्रतिष्ठा का नियम प्रवर्तित हुआ। उसी चतुर्विध संघ में ऋषभसेन (पुण्डरीक) प्रमुख साधु और ब्राह्मी प्रमुख साध्वी बनी। भरत प्रमुख श्रावक और सुन्दरी प्रमुख श्राविका हुई। चतुर्विध संघ की यह व्यवस्था तब से आज तक एक श्रेष्ठ गृहरूप में चलती आ रही है।
(श्लोक ६५१-६५६)

उसी समय प्रभु ने गणधर नाम कर्मयुक्त ऋषभसेन आदि ८४ लोगों को सद्बुद्धि सम्पन्न साधुओं के समस्त शास्त्र जिनमें समाविष्ट हों ऐसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य नाम युक्त पवित्र त्रिपदी का उपदेश दिया। उसी त्रिपदी के अनुसार गणधरों ने अनुक्रम से चतुर्दश पूर्व और द्वादशांगी की रचना की। फिर देवताओं द्वारा परिवृत्त इन्द्र, दिव्य सुगन्ध भरे चूर्ण (वासक्षेप) का एक थाल लेकर प्रभु के चरणों के पास खड़े हो गए। भगवान् ने खड़े होकर गणधरों पर वासक्षेप निक्षेप किया और सूत्र में, अर्थ में, सूत्रार्थ में, द्रव्य में, गुणपर्याय में एवं नय में उन्हें अनुज्ञा देकर गण की आज्ञा भी दी। फिर देवता मनुष्य और उनकी स्त्रियों ने दुन्दुभि ध्वनि के साथ उन पर चारों ओर से वासक्षेप निक्षेप किया। मेघवारि को ग्रहण करने वाले वृक्ष की भांति प्रभु की वाणी ग्रहणकारी समस्त गणधर करबद्ध होकर खड़े हो गए। तत्पश्चात् भगवान् ने पूर्व की तरह पूर्वाभिमुखी सिंहासन पर बैठकर पुनः हितप्रद धर्मोपदेश दिया। इस प्रकार प्रभु रूपी समुद्र से उत्थित होकर उपदेश रूपी ज्वार से उच्छ्वसित

तटरूपी प्रथम प्रहर व्यतीत हुआ। (श्लोक ६५७-६६६)

उस समय छिलके रहित अखण्ड और उज्ज्वल शालि द्वारा प्रस्तुत थाल में रखा हुआ चार प्रस्थ (सेर) बलि समवसरण के पूर्व द्वार से भीतर लाया गया। देवताओं ने उसमें सुगन्ध चूर्ण निक्षेप कर द्विगुण सुगन्धित कर दिया। प्रधान पुरुष उस बलि को वहन कर लाए थे। भरतेश्वर ने उसे तैयार किया था। बलि के आगे दुन्दुभि बज रही थी। दुन्दुभि के घोष से दिशाओं के अग्रभाग प्रतिध्वनित हो रहे थे। बलि के पीछे मंगल गाती हुई पुर-स्त्रियां चल रही थीं मानो प्रभु के प्रभाव से उद्गत पुण्य-समूह इस प्रकार चारों ओर से पुरवासियों के द्वारा परिवृत था। फिर कल्याण रूपी धान बीज की तरह उस बलि को प्रभु के चारों ओर प्रदक्षिणा देकर उछाला गया। मेघ वारि को जिस प्रकार सहस्र करता है उसी प्रकार आकाश से गिरते हुए उस बलि को देवताओं ने अन्तरिक्ष में ही ग्रहण कर लिया। जमीन पर गिरने पर उसका अर्द्ध भाग राजा भरत ने लिया और अवशिष्ट को एक ही परिवार के लोग हों इस प्रकार सबों ने बांट लिया। उस बलि के प्रभाव से पूर्व रोग नष्ट हो जाता है और नवीन रोग छह मास तक नहीं होता। (श्लोक ६६७-६७४)

फिर सिंहासन से उठकर प्रभु उत्तर पथ से बाहर आए। कमल के चारों ओर जिस प्रकार भ्रमर गुञ्जन करता है उसी प्रकार समस्त इन्द्र प्रभु के साथ-साथ चले। रत्नमय और स्वर्णमय वप्र के मध्य भाग में ईशान कोण स्थित देवछन्द पर प्रभु विश्राम लेने के लिए उपवेशित हुए। उसी समय भगवान् के मुख्य गणधर ऋषभसेन ने भगवान् के पादपीठ पर बैठकर धर्मोपदेश देना प्रारम्भ किया। कारण, इससे एक तो प्रभु को क्लान्ति दूर करने का आनन्द मिलता है, दूसरे में शिष्य का गुण प्रकाशित होता है और परस्पर प्रतीति होती है। गणधर उपदेश के ये तीन गुण हैं। जब गणधरों का उपदेश समाप्त हुआ तब सब प्रभु को वन्दना कर अपने-अपने स्थान को लौट गए। (श्लोक ६७५-६७९)

इस प्रकार तीर्थ स्थापित होने के पश्चात् गोमुख नामक जो यक्ष प्रभु के निकट रहता था वह अधिष्ठायक देव बना। उसके चार हाथ थे। दाहिनी ओर के दोनों हाथों में से एक हाथ वरद मुद्रा में

था और दूसरे में अक्षमाला सुशोभित थी। बाईं ओर के दोनों हाथों में बिजोरा और पाश था। उसकी देह का वर्ण स्वर्ण कान्तिमय था और वाहन हस्ती था। इस प्रकार भगवान् ऋषभ के तीर्थ में उनके निकट अवस्थानकारिणी प्रतिचक्रा (चक्रेश्वरी) शासन देवी बनी। उसकी कान्ति स्वर्ण की-सी थी, वाहन था गरुड़। उसके दाहिने हाथों में वरद्-मुद्रा, तीर, चक्र और पाश था और बाएं हाथों में धनुष, वज्र, चक्र और अंकुश था। (श्लोक ६८०-६८२)

फिर नक्षत्रों से घिरे चन्द्र की भांति महर्षियों से परिवृत भगवान् अन्यत्र विहार कर गए। राह में चलते समय मानो वृक्ष भक्तिवश उन्हें प्रणाम करते, कांटे अधोमुख हो जाते, पक्षी उनकी प्रदक्षिणा देते। विहार करने के समय ऋतु और वायु उनके अनुकूल आवर्त्तित और प्रवाहित होते। कम से कम एक करोड़ देवता उनके साथ रहते। जन्मान्तर में उत्पन्न कर्म को नाश करते देख भयभीत होकर प्रभु के केश, दाढ़ी और नाखून बढ़ते नहीं। प्रभु जहां जाते वहां वैर, महामारी, अनावृष्टि, अतिवृष्टि, दुर्भिक्ष और स्वचक्र-परचक्र का भय नहीं रहता। इस प्रकार विश्व को अलौकिक क्षमता से चकित कर संसार अरण्य में भ्रमणकारी जीवों पर अनुग्रह करने की इच्छा से भगवान् नभ में वायु की भांति पृथ्वी पर अप्रतिबद्ध भाव से विचरण करने लगे। (श्लोक ६८३-६८९)

(तृतीय सर्ग समाप्त)

चतुर्थ सर्ग

फिर अतिथि के लिए मनुष्य जिस प्रकार उत्कण्ठित होता है उसी प्रकार उत्कण्ठित भरत विनीता नगरी के मध्य मार्ग से होकर आयुधागार में गए। चक्र को देखते ही प्रणाम किया। कारण, क्षत्रियगण शस्त्र को साक्षात् देवता या परमेश्वर ही समझते हैं। भरत ने रोम हस्तक को हाथ में लेकर चक्र को पोंछा। यद्यपि चक्ररत्न पर धूल नहीं रहती फिर भी भक्तों की यही रीति है। फिर उदित होते सूर्य को जिस प्रकार पूर्व समुद्र स्नान कराता है उसी प्रकार महाराज भरत ने चक्ररत्न को पवित्र जल से स्नान कराया। मुख्य गजपति के पीछे की ओर जिस प्रकार चित्र अंकित रहता है

उसी प्रकार उस पर गो-शीर्ष चन्दन की पूज्यता तीर्थंकर लिखकर अंकित किया। फिर साक्षात् विजय लक्ष्मी की तरह पुष्प, गन्ध, वासचूर्ण, वस्त्र और रत्नालंकार से उसका पूजन किया। इसके सम्मुख रजत अक्षत से अष्ट मंगल चित्रित किया और भिन्न-भिन्न मंगल से आठ दिक्‌लक्ष्मी को आबद्ध कर लिया। उसके निकट पांच वर्ण के फूलों का उपहार रखकर पृथ्वी को विचित्र वर्णमयी बना दिया। शत्रु के यश को भांति यत्नपूर्वक चन्दन कर्पूर मय उत्तम धूप जलाया। तदुपरान्त चक्रधारी भरत ने चक्र की तीन प्रदक्षिणा दी। गुरु भावना से सात-आठ कदम पीछे हटकर स्नेहास्पद जैसे नमस्कार करता है उसी प्रकार बायां गोड़ा मोड़कर दाहिना हाथ जमीन पर रखकर चक्र को नमस्कार किया। फिर हर्ष ही ने मानो रूप धारण किया है इस प्रकार पृथ्वीपति भरत ने वहां अवस्थित होकर चक्र का अष्टाह्निका उत्सव किया। कारण, पूज्य भी जिसकी पूजा करते हैं उसकी पूजा कौन नहीं करेगा?

(श्लोक १-१३)

उसी चक्र को दिग्विजय के लिए नियुक्त करने की इच्छा से राजा मंगल स्नान के लिए स्नानागार में गए। आभरण खोलकर स्नान योग्य वस्त्र परिधान कर भरत पूर्वाभिमुखी होकर स्नान-सिंहासन पर बैठे। फिर कहां मालिश करना कहां नहीं करना के जानकार मालिश कलाभिज्ञ ने देववृक्ष के पुष्प के मकरकन्द तुल्य सुगन्धित सहस्रपाक तेल का महाराज के शरीर पर मालिश किया। मांस में, अस्थि में, चर्म में और रोमकूप को सुखदायी चार प्रकार की मालिश, मृदु, मध्य और दृढ़ इस प्रकार तीन प्रकार के हस्त लाघव से उन्होंने राजा की देह में अच्छी तरह से की। फिर दर्पण की भांति स्वच्छ और कान्तिमान उन महीपति के शरीर में उन लोगों ने सूक्ष्म दिव्य चूर्ण का उबटन लेपन किया। उस समय ऊँचे मृणाल के कमल शोभित सुन्दर वापिका की भांति कुछ पुरांगनाएं कलश लिए खड़ी हुईं तो कुछ जल ही कलश का आधार हुआ हो ऐसे रजत कलश लिए। कुछ स्त्रियों ने सुन्दर हाथों में लीलामय नील कमल की भ्रान्ति उत्पन्नकारी इन्द्रनील मणि के कलश लिए थे तो कुछ शुभ्र बालाओं ने अपने नखरत्नों की कान्तिरूप जल से अधिक शोभा सम्पन्न दिव्य रत्नमय कुम्भ। इन समस्त पुरांगनाओं ने देवतागण जिस प्रकार जिनेन्द्र का स्नान कराते हैं उसी अनुक्रम से सुगन्धित

क्षीर पवित्र जलधारा से धरणीपति को स्नान कराया। स्नान करके राजा ने दिव्य विलेपन किया। दिक् प्रकाशित करने वाले उज्ज्वल वस्त्र पहने। ललाट पर मंगलमय चन्दन का विलेपन धारण किया। वह यशरूपी वृक्ष के नवीन अंकुर की भांति लगने लगा। आकाश जैसे वृहद् तारों के समूह को धारण करता है उसी प्रकार निज यशकुञ्ज के समान उज्ज्वल मुक्ता के आभरण उन्होंने धारण किए। स्वर्ण कलश-से जैसे प्रासाद शोभित होता है ऐसे अपनी किरणों से सूर्य को लज्जित करने वाले मुकुट से वे शोभित हुए। लक्ष्मी के निवास रूप कमल को धारण करने वाले पद्म सरोवर में जैसे चूल हिमवन्त पर्वत शोभित होता है उसी प्रकार स्वर्ण कलश-युक्त श्वेत छत्र से वे सुशोभित हुए। सर्वदा निकट रहने वाले प्रतिहार की भांति सोलह हजार यक्ष भक्त होकर उनके आस-पास एकत्र हुए। फिर इन्द्र जिस प्रकार ऐरावत पर आरोहण करता है उसी प्रकार उच्च कुम्भस्थल के शिखर से दिक्‌रूपी मुख को आवृत कारी रत्नकुंजर नामक हस्ती पर वे आरोहित हुए। उसी समय उत्कट मद धारा से द्वितीय मेघ के सदृश उस उत्तम जातीय हस्ती ने गम्भीर गर्जन किया। मानो आकाश को पल्लवित कर रहे हैं इस प्रकार दोनों हाथ उठाकर चारणगण एक साथ जय-जय ध्वनि करने लगे। जिस प्रकार वाचाल गायक अन्य गाने वालों को गाना गाने के लिए बाध्य करता है उसी प्रकार दुन्दुभि के उच्च स्वर ने दिक्‌समूह को शब्दायमान करने को विवश किया। अन्य सैनिकों को पुकारने वाले दूत रूप अन्य मङ्गलमय श्रेष्ठ वाद्य बजने लगे। घूमायमान पर्वत की भांति सिन्दूरधारणकारी हस्ती यूथ से, विभिन्न रूप धारण किए रेवन्त अश्व सदृश अश्व से, स्व मनोरथ की भांति विशाल-विशाल रथ से और सिंह को वश में करने वाले पराक्रमी पदातिक सैन्य से अलंकृत महाराज भरतेश्वर ने मानो सैनिकों की पदधूलि से दिक् समूह को वस्त्रावृत कर पूर्व दिशा में प्रयाण किया।
(श्लोक १४-३९)

उस समय आकाशचारी सहस्रमाली सूर्यबिम्ब की भांति हजार यक्षों से सेवित चक्ररत्न सेना के अग्रभाग में चलने लगा। दण्डरत्न धारणकारी सुषेण नामक सेनापतिरत्न अश्वरत्न पर आरोहण आगे-आगे चला। शान्ति करने की विधि से शान्तिमन्त्र तुल्य पुरोहितरत्न राजा के साथ-साथ चले। चलती हुई अन्नशाला की भांति सैनिकों

के लिए विश्राम-स्थल में उत्तम भोजन प्रस्तुत करने में समर्थ ऐसे गृहपतिरत्न, विश्वकर्मा की भांति शीघ्र स्कन्धावार बनाने में समर्थ वर्द्धकिरत्न और चक्रवर्त्ती के स्कन्धावार के समान विस्तृत होने में समर्थशाली चर्मरत्न और छत्ररत्न महाराज के संग चले। अपनी ज्योति से सूर्य चन्द्र की भांति अन्धकार नष्ट करने में समर्थ ऐसे मणि और काकणी नामक दो रत्न भी चले। सुरासुरों के श्रेष्ठ अस्त्रों के सार से निर्मित हों ऐसा उज्ज्वल खड्गरत्न नरपति के साथ चला। (श्लोक ४०-४६)

सेना सहित भरतेश्वर प्रतिहार की तरह चक्र के पीछे चलने लगे। उसी समय ज्योतिषियों के मतानुकूल पवन और अनुकूल शकुन सब प्रकार की दिग्विजय की सूचना देने लगे। कृषक जिस प्रकार लांगल से भूमि समतल करता है उसी प्रकार अग्रगामी सुषेण सेनापति दण्डरत्न से पृथ्वी को समान करते हुए चले। सैन्य गमन से उड़ती हुई रज से मलिन बना आकाश रथ और अस्त्रों पर उड्डीयमान पताका रूपी बलाका से सुशोभित हो रहा था। जिसका अन्तिम भाग दिखाई नहीं पड़े ऐसी चक्रवर्त्ती की सेनावाहिनी निरन्तर प्रवाहित गंगा सी लग रही थी। दिग्विजय के उत्सव के लिए रथ चीत्कार शब्द से, अश्व हेषारव से, हाथी बृंहतीनाद से परस्पर शीघ्रता कर रहे थे। यद्यपि सेना चलने के कारण धूल उड़ रही थी फिर भी अश्वारोहियों के बल्लमों के अग्रभाग झलझल कर रहे थे। वे मानो आवृत सूर्य किरणों का उपहास कर रहे हों। सामानिक देवताओं के द्वारा परिवृत इन्द्र की भांति मुकुटधारी और बद्धबद्ध राजन्य परिवृत राजकुंजर भरत मध्य भाग में शोभित हो रहे थे। (श्लोक ४७-५५)

प्रथम दिन एक योजन पथ अतिक्रम कर चक्र रुक गया। उस दिन से योजन का परिमाण हुआ। रोज एक-एक योजन पथ अतिक्रम कर राजा भरत कुछ दिनों पश्चात् गंगा के दक्षिण तट के निकट आ पहुंचे। गंगा की विस्तृत भूमि को भी सेना के लिए पृथक्-पृथक् छावनियों से संकुचित कर वहां विश्राम किया उस समय गंगा की तट भूमि वर्षाकालीन तट भूमि की तरह हस्तियों के झरते हुए मदजल से पंकिल हो गई। मेघ से जैसे समुद्र जल ग्रहण करता है उसी प्रकार गंगा के निर्मल प्रवाह से उत्तम हस्ती इच्छा-

पूर्वक जल ग्रहण करने लगे। अति चंचलतावश बार-बार उल्लम्फनकारी अश्व गंगा तट पर तरंगों का भ्रम उत्पन्न करने लगे। गंगा जल में प्रवेश किए हुए हस्ती, भैंस, ऊँट उस श्रेष्ठ सरिता को जैसे चारों ओर से नवीन जाति के मत्स्य समाकुल कर डाला। अपने तट पर अवस्थित राजा के प्रति अनुकूल भाव व्यक्त करने के लिए गंगा नदी स्वतरंगों के जलकणों से उनके सैनिकों की श्रान्ति शीघ्र दूर करने लगी। महाराज भरत की सेना द्वारा सेवित गंगा नदी शत्रुओं की कीर्त्ति की भांति क्षीण होने लगी। भागीरथी के तट पर अवस्थित देवदारु वृक्ष बिना परिश्रम के हस्तियों के बन्धन स्थल बन गए। (श्लोक ५६-६५)

महावत हस्तियों के लिए पीपल, सल्लकी, कर्णिकार और उदुम्बर के पत्तों को कुल्हाड़ी से काटते थे। उच्चीकृत कर्णपल्लव से पंक्तिबद्ध अश्व मानो तोरण निर्माण कर रहे हों ऐसे शोभित हो रहे थे। अश्वपाल भ्राता की तरह मूंग, मोठ, चना, जौ आदि घोड़ों के सम्मुख रखते थे। महाराज के स्कन्धावार में अयोध्या नगरी की ही भांति अल्प समय में ही तिराहे, चौराहे और दूकानों की पंक्तियां बन गई थीं। एकान्त में बड़े और मोटे कपड़ों के तम्बुओं में रहते समय सैनिकों को अपने गृह भी याद नहीं आते। खेजड़ी, बेर और केर के वृक्षों की तरह कांटे भरे वृक्षों के पत्ते भक्षणकारी ऊँट सैनिकों के कांटे चुनने का कार्य करते। प्रभु के सम्मुख नौकर की तरह खच्चर गंगा के बालुकामय तट पर अपनी चाल चलते और लोट-पोट हो जाते। कोई काठ लाता तो कोई नदी से जल, कोई तृण लाता तो कोई साग-सब्जियां और फल। कोई चूल्हा तैयार करता तो कोई शालि धान कूटता, कोई अग्नि प्रज्वलित करता। कोई चावल बनाता तो कोई घर की भांति एक ओर निर्मल जल से स्नान करता। कोई सुगन्धित धूप से निज को सुगन्धित करता, कोई पैदल सेना को पहले भोजन खिलाकर स्वयं बाद में आराम से भोजन करता। कोई स्त्रियों सहित अपने अंग में विलेपण करता। चक्रवर्ती की छावनी में सभी वस्तुएँ सहज उपलब्ध थीं। अतः कोई भी ऐसा नहीं सोचता था कि वह सेना में सम्मिलित हुआ है। (श्लोक ६६-७७)

भरत ने वहां एक दिन और एक रात्रि रहकर प्रस्थान

किया। उस दिन भी एक योजन गमनकारी चक्र के पीछे एक योजन पथ अतिक्रम किया। इस प्रकार सदैव एक योजन चलते हुए चक्र के पीछे-पीछे भरत मगध तीर्थ पर आए। वहां पूर्व समुद्र के तट पर छावनी डाली। वह स्थान बारह योजन दीर्घ और नौ योजन चौड़ा था। वर्द्धकिरत्न ने वहां सैनिकों के लिए आवास निर्मित किए। धर्मरूप हस्ती की शालारूप पौषध शालाएं भी बनाईं। सिंह जैसे पर्वत से उतरता है उसी प्रकार महाराज भरत पौषधशाला में रहने की इच्छा से हस्ती पृष्ठ से नीचे उतरे। संयम रूपी साम्राज्य लक्ष्मी के सिंहासन जैसा दर्भ का नवीन संथारा वहां बिछवाया। उन्होंने हृदय में मागध तीर्थ कुमार देव को धारण कर सिद्धि के आदि द्वार रूप अष्टम भक्त (तेला) तप किया। फिर निर्मल वस्त्र धारण कर अन्य वस्त्र, पुष्पमाला और विलेपनादि एवं शस्त्र-शस्त्रादि परित्याग कर पुण्य पोषण के लिए औषध तुल्य पौषधव्रत ग्रहण किया। अव्यय पद मोक्ष में जैसे सिद्धगण रहते हैं उसी प्रकार दर्भासन पर औषधव्रती महाराज भरत ने जागृत और क्रिया रहित होकर अवस्थान किया। अष्टम तप के अन्त में पौषधव्रत परिपूर्ण कर शरद्कालीन मेघ के भीतर से सूर्य जैसे बाहर निकलता है उसी प्रकार अधिक कान्तिवान् भरत पौषधशाला से बाहर आए और सर्व सिद्धि प्राप्त उन्होंने स्नान कर बलि कर्म किया। कारण, विधिज्ञाता पुरुष कभी नहीं भूलते। (श्लोक ७८-८८)

फिर उत्तम रथी राजा भरत पवन की भांति वेग सम्पन्न और सिंह की भांति तेजस्वी अश्ववाहित सुन्दर रथ पर चढ़े। वह रथ चलने के समय प्रासाद की तरह लगता था। उसमें पताका समन्वित उच्च ध्वज-स्तम्भ था। अस्त्रागार की तरह वह अनेक अस्त्रों से सुसज्जित था। उस रथ के चारों दिशाओं में चार घण्टे लगे थे। उसके शब्द मानो चारों ओर की विजय लक्ष्मी को पुकार रहे थे। तभी इन्द्र के सारथी मातलि की तरह राजा के मनोभावों के ज्ञाता सारथी ने वल्गा आकृष्ट कर अश्वों को दौड़ाया। राजा भरत द्वितीय समुद्र की भांति समुद्र के किनारे आए। इस समुद्र में हस्तीरूप पर्वत थे। वृहद्-वृहद् शकट रूपी मकर थे। चपलगति अश्वरूपी तरंग थी। विचित्र अस्त्ररूपी भयंकर सर्प थे। पथ से उठती रज रूपी वेला भूमि थी और रथ का घर्घर समुद्र गर्जन तुल्य था। फिर मत्स्यों के शब्दों से जिसका गर्जन और बढ़

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर

रहा है ऐसे समुद्र में चक्रवर्ती भरत ने रथ को नाभि पर्यन्त उतारा। एक हाथ धनुष के मध्य भाग में और दूसरा हाथ प्रत्यंचा पर रख उसको खींचा। धनुष का आकार पंचमी के चांद का अनुकरणकारी बनाया एवं प्रत्यंचा को कुछ और खींचकर धनुष में टंकार दी। यह टंकार धनुर्वेद की ओंकार ध्वनि-सी लगी। उन्होंने तूणीर से अपना नामांकित एक तीर निकाला जो कि पाताल से निर्गत सर्प-सा लगा। सिंह के कर्ण की तरह उन्होंने मुष्टि में शत्रु के लिए वज्रदण्ड रूप उस तीर को पकड़ा तथा उसका पिछला हिस्सा प्रत्यंचा पर चढ़ाया। कर्ण के स्वर्णालंकार रूप मृणाल सदृश उस तीर को उन्होंने कानों तक खींचा। राजा के नखरत्न से प्रसारित किरणों में वह तीर अपने सहोदरों से घिरा हुआ हो ऐसा मालूम होता था। खिंचे हुए धनुष के अन्तिम भाग में रहा वह चमकता तीर मृत्यु के खुले मुख में झिलमिलाती जिह्वा की लीला को धारण कर रहा था। उस धनुष के मण्डल में स्थित लोकपाल राजा भरत अपने मण्डल में अवस्थित सूर्य के समान भयंकर प्रतीत हो रहे थे।

(श्लोक ८९-१०३)

उस समय लवण समुद्र यह सोचकर क्षुब्ध हो गया कि यह राजा या तो मुझे स्थान भ्रष्ट करेगा या दण्ड देगा। भरत चक्रवर्ती ने तब बाहर, मध्य, आगे और अन्त में नागकुमार, असुरकुमार एवं सुवर्णकुमारादि देवताओं द्वारा रक्षित दूत की भांति आज्ञा पालनकारी और दण्ड की तरह भयंकर उस तीर को मगधतीर्थाधिपति पर निक्षेप किया। डैनों की फड़फड़ाहट की तरह शब्द से आकाश को गुंजित कर वह तीर गरुड़ की भांति खूब वेग से दौड़ा। राजा के धनुष से निक्षिप्त वह तीर इस प्रकार सुशोभित हुआ जैसे मेघ से उत्पन्न विद्युत, आकाश से गिरता तारा, अग्नि से उत्क्षिप्त स्फुलिंग, तापस से निकली तेजोलेश्या, सूर्यकान्त मणि से बहिर्गत अग्नि, इन्द्र के हस्त से निक्षिप्त वज्र शोभित होता है। मुहूर्त मात्र में बारह योजन समुद्र को अतिक्रम कर वह तीर मगधपति की सभा में जाकर इस प्रकार गिरा जैसे वक्ष में आकर तीर पतित होता है। मगधपति अतर्मय में सभा के मध्य तीर को आकर गिरते देख इस प्रकार क्रुद्ध हुए जिस प्रकार लगुड़ प्रहार से घायल सर्प क्रुद्ध होता है। उनकी दोनों भृकुटि प्रत्यंचा खींचे धनुष की तरह भयंकर और गोलाकार हो गयीं। उनके नेत्र प्रदीप्त अग्नि की तरह लाल हो गए। नाक

धौंकनी की तरह फूलने लगी और ओष्ठ सर्प की तरह फुफकार उठे। ललाट को आकाश के धूमकेतु की तरह रेखांकित कर सपेरा जैसे सर्प को उठाता है उसी प्रकार दाहिने हाथ से अस्त्र उठाकर बायां हाथ शत्रु के ललाट रूपी आसन पर पटक व विषज्वाला-सी वाणी में वे बोले : (श्लोक १०४-११५)

'स्वयं को वीर मानने वाले और अप्रार्थित वस्तु की प्रार्थना करने वाले किस कुबुद्धि ने मेरी सभा में तीर फेंका है ? वह कौन है जो एरावत हाथी के दांतों को तोड़कर उससे कर्ण कुण्डल बनाना चाहता है ? वह कौन है जो गरुड़ के पंखों का मुकुट धारण करना चाहता है ? वह कौन है जो नाग मस्तक स्थित मणि को उखाड़ना चाहता है ? सूर्यरथ को हरण करने का इच्छुक वह कौन है ? उसका अहंकार मैं उसी भांति चूर-चूर करूंगा जैसे गरुड़ सर्प के प्राण लेता है।' ऐसा कहकर मगधपति उठ खड़े हुए। बिवर से निकलते सर्प की भांति उन्होंने म्यान से तलवार निकाली और धूमकेतु की भ्रम सृष्टि करते हुए वे तलवार घुमाने लगे। क्रोध की अधिकता से उनका सारा परिवार इस प्रकार उठ खड़ा हुआ जिस प्रकार हवा के वेग से समुद्र में तरंगें उठती हैं। कोई अपने पौरुष से आकाश को कृष्ण विद्युन्मय तो कोई चमकते अस्त्र-शस्त्र से आकाश को अनेक चन्द्रमय करने लगा। कोई मृत्यु दन्त द्वारा निर्मित हुई हो ऐसी बरछी को चारों ओर उत्क्षिप्त करने लगा तो कोई अग्नि जिह्वा तुल्य फरसे को घुमाने लगा। किसी ने राहु की तरफ भयंकर भाग्य-से मुद्गर को ग्रहण किया। कोई वज्र तीक्ष्ण त्रिशूल और यमराज के दण्ड से प्रचण्ड दण्ड को उठाने लगा। कोई शत्रु विनाश के कारण रूप स्व हाथों को ठोकने लगा तो कोई मेघनाद की तरह उच्च स्वर से सिंहनाद करने लगा। कोई 'मारो-मारो' चिल्लाने लगा तो कोई 'पकड़ो-पकड़ो' बोलने लगा। कोई 'खड़े रहो-खड़े रहो' कहने लगा। तो कोई 'चलो-चलो' बोलने लगा। इस प्रकार मगधपति का समस्त परिवार कोपवश नाना प्रकार के विकृत प्रदर्शन करने लगा। तब अमात्य ने भरत महाराज के उस तीर को उठाकर भली-भांति देखा। उस पर मन्त्राक्षर से उदार सार सम्पन्न निम्न अक्षर लिखे थे :

'सुरासुर और मनुष्यों के साक्षात् ईश्वर श्री ऋषभदेव स्वामी का पुत्र भरत चक्रवर्ती तुम्हें आदेश देता है कि यदि तुम स्वराज्य,

स्वजीवन सुरक्षित रखना चाहते हो तो तुम्हारा सर्वस्व हमें देकर हमारी सेवा करो।' (श्लोक ११६-१३१)

उस लिपि को पढ़कर मन्त्री बुद्धिनिधान ने विचार कर शीर जानकर उस तीर को मगधाधिपति को और सबको दिखाकर उच्च स्वर में बोला—'हे मिथ्या साहसकारी, अर्थ बुद्धि से निज स्वामी के अहितकारी और इस प्रकार अपनी स्वामिभक्ति को प्रमाणित करने वाले राजगण, तुम्हें धिक्कार है! इस भरत क्षेत्र के प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव स्वामी के पुत्र भरत प्रथम चक्रवर्ती हुए हैं। वे हमसे उपहार चाहते हैं और इन्द्र की भांति प्रचण्ड शासनकारी हम लोगों को अधीन करना चाहते हैं। इस पृथ्वी पर समुद्र का शोषण किया जा सकता है, मेरु पर्वत को उखाड़ा जा सकता है, यमराज को विनष्ट किया जा सकता है, पृथ्वी को उलटाया जा सकता है, वज्र को चूर्ण किया जा सकता है, बड़वाग्नि निर्वापित की जा सकती है किन्तु चक्रवर्ती को जय नहीं किया जा सकता। इसलिए हे राजन्, अल्प बुद्धि वाले इन लोगों की उपेक्षा कर चक्रवर्ती को प्रणाम करने चलिए।' (श्लोक १३२-१३८)

गन्ध हस्ती के मद को सूँघकर जैसे अन्य हस्ती शान्त हो जाते हैं वैसे ही मन्त्री की बात सुनकर और तीर की लिपि पढ़कर मगधपति शांत हो गए। वे उसी समय उस तीर को और उपहार लेकर राजा भरत के पास गए एवं उन्हें प्रणाम कर बोले—'हे पृथ्वीपति, पूर्णिमा के चन्द्र की भांति भाग्यवश ही आज आपके दर्शन मिले हैं। भगवान् ऋषभदेव ने जैसे तीर्थंकर होकर पृथ्वी पर विजय प्राप्त है उसी प्रकार आप भी चक्रवर्ती बनकर पृथ्वी विजय कीजिए। जिस प्रकार ऐरावत हस्ती-सा अन्य हस्ती नहीं होता, वायु की तरह कोई बलवान नहीं होता, आकाश से अधिक कोई माननीय नहीं होता, उसी प्रकार आप जैसा भी कोई नहीं है। कान पर्यन्त खींच कर लाई हुई प्रत्यंचा से निकले आपके तीर को सहन करने में कौन समर्थ है? हम प्रमादियों पर दया कर आपने हमें कर्त्तव्य स्मरण करवाने दूत-से इस तीर को भेजा इसलिए हे नृप शिरोमणि, आज से आपकी आज्ञा को शिरोमणि की तरह हम धारण करेंगे। आपके द्वारा नियुक्त मैं पूर्व दिशा में आपके जयस्तम्भ की तरह निष्कपट भक्ति से इस मगध तीर्थ में वास करूँगा। यह राज्य, मेरा समस्त

परिवार, मैं स्वयं और जो कुछ भी है सब आपका है। आप मुझे अपना सेवक मानकर आज्ञा दीजिए।' (श्लोक १३९-१४८)

ऐसा कहकर उसने वह तीर, तीर्थ का जल, मुकुट और कुण्डल उपहार में दिए। राजा भरत ने उन्हें ग्रहणकर मगधपति का सत्कार किया। कहा भी गया है, महान् व्यक्ति सेवा में तत्पर मनुष्य पर कृपा ही करते हैं। फिर इन जैसे [illegible] उसी प्रकार से चक्रवर्ती भरत रथ को घुमाकर जिस पथ से आए थे उसी पथ से होते हुए छावनी लौट गए। रथ से उतर कर स्नान कर परिवार सहित उन्होंने अष्टम तप का पारना किया। तदुपरान्त मगधपति पर विजय प्राप्ति के लिए चक्रवर्ती भरत ने चक्र प्राप्ति के उपलक्ष्य में जैसे अष्टाह्निका उत्सव किया था उसी प्रकार का उत्सव खूब धूमधाम से किया। उत्सव समाप्ति पर वह तीक्ष्ण चक्र मानो सूर्य रथ से ही निकला हो इस प्रकार तेजी से आकाश पथ पर चला और दक्षिण दिशा में वरदाम तीर्थ की ओर अग्रसर हुआ। व्याकरण में प्र-आदि उपसर्ग जैसे धातु के पीछे-पीछे चलते हैं चक्रवर्ती भरत भी उसी प्रकार चक्र के पीछे-पीछे चले। (श्लोक १४९-१५५)

एक योजन पथ प्रतिदिन अतिक्रम कर चक्रवर्ती भरत दक्षिण समुद्र तट पर इस प्रकार पहुंचे जैसे राजहंस मानसरोवर पर पहुंचता है। इलायची, लवंग, चिरौंजी और कक्कोल वृक्ष बहुल दक्षिण समुद्र के तट पर सैनिकों के स्कन्धावार स्थापित किए गए। महाराज की आज्ञा से वर्द्धकिरत्न ने पूर्व समुद्र तट की भाँति यहां भी निवास स्थान और पौषधशाला का निर्माण किया। राजा भरत ने वरदाम तीर्थ के देवों को हृदय में धारण कर अष्टम तप किया। पौषध पूर्ण होने पर पौषधशाला से निकल कर धनुर्धारियों के अग्रणी चक्रवर्ती ने कालपृष्ठ नामक धनुष धारण कर स्वर्ण निर्मित रत्नजड़ित एवं जल लक्ष्मी के निवासगृह तुल्य रथ पर आरोहण किया। देव से जैसे मन्दिर शोभित होता है उसी प्रकार सुन्दराकृति महाराज भरत के उपवेशन से रथ सुशोभित हुआ। अनुकूल पवन से पताकाएं आकाश को जिस प्रकार मण्डित करती हैं उसी प्रकार उस उत्तम रथ ने जहाज की तरह समुद्र जल में प्रवेश किया। रथ को नाभि पर्यन्त समुद्र जल में ले जाकर सारथी ने लगाम खींची। घोड़े खड़े हो गए, रथ रुक गया। फिर आचार्य जैसे शिष्य को नम्र करते हैं

उसी प्रकार पृथ्वीपति ने धनुष को नम्र कर प्रत्यंचा चढ़ाई। संग्राम रूपी नाटक के प्रारम्भ के सूत्राधार की भांति और मृत्यु आह्वान मन्त्र की भांति धनुष टंकार किया। ललाटकृत तिलक लक्ष्मी अपहरणकारी तीर, तूणीर से बाहर निकाला और प्रत्यंचा पर लगाया। चक्र भ्रम उत्पन्नकारी उस धनुष के मध्य भाग में नाभि का भ्रम उत्पन्न करने वाले उस तीर को महाराज ने कान तक खींचा। कर्ण पर्यन्त खींचा तीर जैसे महाराज को पूछ रहा था—'बोलिए, अब मैं क्या करूं ?' फिर महाराज ने इस तीर को वरदामपति की ओर निक्षेप किया। आकाश को उज्ज्वल कर जाते हुए उस तीर को देखकर पर्वत वज्र के भ्रम से, सर्प गरुड़ के भ्रम से और समुद्र वड़वानल के भ्रम से भयभीत हो गया। बारह योजन पथ अतिक्रम कर वह तीर बिद्युत की भांति जाकर वरदामपति की सभा में गिरा। शत्रु प्रेरित घातक की तरह उस तीर को गिरते देखकर वरदामपति क्षुब्ध हो गए और उच्छ्वसित समुद्र की तरह उद्भ्रान्त भृकुटि से तरंगित होकर उत्कट शब्दों में बोल उठे :

(श्लोक १५६-१७३)

'अरे, यह कौन है जिसने ठोकर मारकर सोते हुए सिंह को जगाया है ? मृत्यु ने किसका आह्वान किया है ? कुष्ठ ग्रस्त की तरह आज किसके जीवन में वैराग्य जागा है जिसने साहस कर मेरी सभा में तीर निक्षेप किया है ? इसी तीर से मैं तीर निक्षेप करने वाले का प्राण हरण करूंगा। (श्लोक १७४-१७६)

उसने क्रोधपूर्वक उस तीर को उठाया। मगधाधिपति की भांति वरदामपति ने भी उस तीर पर लिखी लिपि पढ़ी। उस लिपि को पढ़कर वह उसी प्रकार शान्त हो गया जैसे सर्प-दमन औषधि से सर्प। वह बोला—भेड़क जिस भांति काले सांप को चपेट में लेने को प्रस्तुत होता है, बकरी अपने सींगों से हाथी पर प्रहार करने की इच्छा करती है, हस्ती जैसे दन्ताघात से पर्वत उखाड़ने का प्रयास करता है उसी प्रकार मन्दगति मैं भी भरत चक्रवर्ती से युद्ध करने की इच्छा करता हूं।' (श्लोक १७६-१८०)

फिर वह सोचकर कि कुछ अनर्थ न हो जाए उसने सेवकों को उपहार लाने का आदेश दिया। अनेक उपहारों को लेकर वह भरत चक्रवर्ती के पास जाने को उसी भांति निकला जैसे इन्द्र ऋषभध्वज

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

के पास जाता है। वहां जाकर चक्रवर्ती को नमस्कार करने के पश्चात् वह बोला—'हे पृथ्वी के इन्द्र, आपका दूत-सा आगत तीर पाकर मैं यहां आया हूं। आप स्वयं यहां आए फिर भी स्वतः प्रवृत्त होकर मैं आपके सम्मुख उपस्थित नहीं हुआ। मुझ ऐसे मूर्ख को आप क्षमा प्रदान करें। कारण, अज्ञानता दोष को आवृत्त कर देती है। हे स्वामी, क्लान्त जिस प्रकार विश्राम स्थान पाए, पिपासार्त्त जलपूर्ण सरोवर पाए मुझ ऐसे स्वामीहीन ने भी उसी प्रकार आप-सा स्वामी प्राप्त किया है। हे पृथ्वीपति, समुद्र तट पर जिस तरह वेलाधर पर्वत रहता है उसी प्रकार मैं भी आप द्वारा रक्षित होकर आपका आज्ञानुवर्ती बना रहूंगा।' (श्लोक १८१-१८६)

ऐसा कहकर वरदामपति ने उस तीर को इस प्रकार महाराज भरत के सम्मुख रखा मानो उसके पास सुरक्षापूर्वक रखा हुआ था। जैसे सूर्य कान्ति से ही गुंथा हुआ है ऐसा एक स्वकान्ति से दिक्-समूह को प्रकाशकारी रत्नमय कटि सूत्र, यश समूह-सा चिरकाल से संचित मुक्ता समूह उसने राजा भरत को उपहार में दिया। जिसकी उज्ज्वल कान्ति प्रकाशित हो रही है ऐसे रत्नकार का सर्वस्व रत्न समूह भी उसने महाराज भरत को उपहार स्वरूप प्रदान किया। उन सभी वस्तुओं को ग्रहण कर महाराज भरत ने वरदामपति को अनुगृहीत किया और वह कीर्तिमान् बने इस प्रकार से उसे वहां नियुक्त कर दिया। फिर कृपापूर्वक वरदामपति को विदा देकर भरत स्व स्कन्धावार में लौट आए। (श्लोक १८७-१९२)

रथ से उतर कर उस राजचन्द्र ने परिजनों सहित अष्टम तप का पारना किया और वहीं वरदामपति के लिए अष्टाह्निका महोत्सव किया। कारण, स्वामी, लोगों के मध्य प्रतिष्ठित करने के लिए अपने आत्मीयजनों का सत्कार करते हैं। (श्लोक १९३-१९४)

तदुपरान्त पराक्रम में द्वितीय इन्द्र-से भरत चक्रवर्ती ने चक्र का अनुसरण करते हुए पश्चिम प्रभास तीर्थ की ओर गमन किया। सैनिकों की पदोत्थित धूल से आकाश और पृथ्वी को आपूरित करते हुए बहुत दिनों पश्चात् उन्होंने पश्चिम समुद्र तट पर अपना स्कन्धावार स्थापित किया। वह तटभूमि सुपारी, ताम्बूल और नारियलों के वृक्षों से पूर्ण थी। वहां भी प्रभासपति के उद्देश्य से अष्टम तप कर पूर्वानुसार पौषधशाला में जाकर पौषधव्रत ग्रहण किया। पौषध

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुनीलसागर

के अन्त में द्वितीय वरुण की भांति रथ पर बैठ कर समुद्र में प्रवेश किया। चक्र को नाभि पर्यन्त रथ को जल में ले जाकर रथ स्थापित कर धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ायी फिर जयलक्ष्मी के क्रीड़ा करने की वीणा रूप धनुष की लकड़ी की तन्त्री के समान प्रत्यंचा को अपने हाथों से उच्च स्वर से शब्दायमान किया। समुद्र तट स्थित बेंत वृक्ष तुल्य तूणीर से तीर बाहर कर छिला पर इस प्रकार स्थापित किया मानो अतिथि को आसन पर बैठा रहे हों। सूर्य बिम्ब से खींचकर बाहर लायी किरणों की भांति वह तीर उन्होंने प्रभासपति की ओर निक्षेप किया। वायु की भांति तीव्र वेग से बारह योजन समुद्र अतिक्रम कर आकाश को उज्ज्वल करता हुआ वह तीर प्रभासपति की सभा में जाकर गिरा। तीर देखकर प्रभासपति क्षुब्ध हो उठे; किन्तु उस पर लिखित लिपि को पढ़कर विभिन्न रसों को प्रकट करने वाले नट की भांति शीघ्र ही शान्त हो गए। फिर वह तीर और उपहार लेकर प्रभासपति चक्रवर्ती के निकट आए एवं उन्हें नमस्कार कर बोले—'हे देव, आप जैसे स्वामी से भासित होकर मैं आज ही वास्तविक रूप में प्रभास बना हूं। कारण, सूर्य किरण से ही कमल कमल बनता है। हे प्रभु, मैं पश्चिम दिशा में सामन्त राजा की भांति आज से सर्वदा पूर्वो शासनकारी आपकी आज्ञा में रहूंगा।'

(श्लोक १९५-२०८)

ऐसा कहकर प्रभासपति ने उस तीर को उसी प्रकार महाराज भरत को दिया जैसे युद्ध विद्या अभ्यासकारी का तीर भृत्य उठाकर लाता है और दे देता है। उसी के साथ मूर्तिमान् तेज-सा वलय, बाजूबन्द, मुकुट, हार एवं अन्य वस्तुएं और धन-सम्पत्ति उपहार में प्रदान किए। उसे आश्वस्त करने के लिए भरत ने वे सभी वस्तुएं स्वीकार कर लीं। कारण, भृत्य का उपहार स्वीकार करना प्रभु की प्रसन्नता का सूचक होता है। फिर आलवाल में जिस प्रकार वृक्ष रोपित किया जाता है उसी प्रकार प्रभासपति को वहां स्थापित कर शत्रुनाशक वे नृपति स्व-स्कन्धावार को लौट आए। कल्पवृक्ष-से गृही रत्न द्वारा प्रस्तुत आहार से उन्होंने अष्टम तप का पारना किया। फिर प्रभासपति के लिए अष्टाह्निका उत्सव किया। क्योंकि आरम्भ में अपने सामन्त का भी आदर करना उचित होता है।

(श्लोक २०९-२१७)

जिस प्रकार प्रदीप के पीछे आलोक जाता है उसी प्रकार चक्र

के पीछे-पीछे चलते हुए भरत चक्रवर्ती समुद्र के दक्षिणी तट स्थित सिन्धु नदी के कूल पर आ पहुंचे। उसके किनारे-किनारे पूर्व की ओर जाकर सिन्धु देवी के प्रासाद के पास स्कन्धावार डाला। वहां सिन्धु देवी को स्मरण कर अष्टम तप किया। उससे पवन वेग से जैसे लहरें उठती हैं उसी प्रकार सिन्धु देवी का आसन कम्पित हुआ। अवधि ज्ञान से यह जानकर कि चक्रवर्ती आए हैं अनेक दिव्य उपहार लेकर उनकी पूजा और सम्मान करने के लिए वह सम्मुख उपस्थित हुई। वह आकाश से जय-जय शब्द से आशीर्वाद देती हुई बोली—'हे चक्री, मैं आपकी सेविका बनकर यहां रहती है। आप आज्ञा दीजिए, मैं उसका पालन करूंगी।' फिर उसने लक्ष्मी देवी के सर्वस्व सम्पद स्वरूप रत्न भरे एक हजार आठ कलश, कीर्ति और लक्ष्मी जिस पर एक साथ बैठाई जा सके ऐसे दो रत्न भद्रासन, अनन्तनाग के मस्तक स्थित मणियों द्वारा निर्मित ऐसे देदीप्यमान रत्नमय भुजबन्ध, मध्य भाग में सूर्य की कान्ति को ही मात [illegible] ऐसे वलय और मुट्ठी में समा जाने वाले ऐसे दिव्य सुकोमल वस्त्र चक्रवर्ती को उपहार में दिए। सिन्धु-राज की भांति महाराज भरत ने समस्त द्रव्य ग्रहण कर लिए और मधुर वाक्यालाप से देवी को विदा किया। फिर पूर्णिमा के चांद जैसे सुवर्ण पात्रों में अष्टम तप का पारना किया और वहां देवी का अष्टाह्निका महोत्सव कर चक्र प्रदर्शित पथ पर प्रयाण किया। (श्लोक २१५-२२६)

उत्तर और पूर्व दिशा के मध्य (ईशान कोण) चलते-चलते अनुक्रम से वे दोनों भारतार्द्ध की मध्य सीमा रूप वैताढ्य पर्वत के निकट जा पहुंचे। उस पर्वत के दक्षिणी भाग में जैसे कोई नवीन द्वीप हो ऐसा लम्बाई-चौड़ाई से सुशोभित स्कन्धावार सन्निवेशित किया गया। पृथ्वीपति ने वहां अष्टम तप किया। इससे वैताढ्य दिक्कुमार का आसन कम्पित हुआ। अवधिज्ञान से वे जान गए कि भरत क्षेत्र में प्रथम चक्रवर्ती उत्पन्न हुए है। तब वे आकाश में स्थित होकर बोले—'हे प्रभु, आपकी जय हो। मैं आपका सेवक हूं अतः जो आज्ञा देनी हो दीजिए।' तत्पश्चात् मानो वृहद् भण्डार ही खोल दिया हो इस प्रकार बहुमूल्य रत्न, रत्नों के अलंकार, दिव्य वस्त्र और प्रताप सम्पत्ति के क्रीड़ा-स्थल तुल्य भद्रासन उन्होंने चक्रवर्ती को उपहार में दिए। पृथ्वीपति ने उनकी समस्त वस्तुओं को

स्वीकार कर लिया। तदुपरान्त महाराज ने उन्हें बुलवाकर परिपूर्ण रूप से आदर सत्कार कर विदा किया। कहा भी गया है—महापुरुष अपने आश्रित सामान्य व्यक्तियों की भी अवज्ञा नहीं करते। अष्टम तप का पारना कर महाराज भरत ने वैताढ्य देव के लिए अष्टाह्निका महोत्सव किया। (श्लोक २२७-२३६)

वहाँ से चक्ररत्न तमिस्रा गुहा की ओर अग्रसर हुआ। राजा भी पदान्वेषी की तरह उसके पीछे-पीछे चलने लगे। अनुक्रम से वह तमिस्रा गुहा के समीप पहुँचा। वहाँ सैन्य के लिए स्कन्धावार स्थापित किया गया। स्कन्धावार ऐसा लग रहा था मानो विद्याधर नगर ही वैताढ्य पर्वत से नीचे उतर आया हो। उस गुहा के अधिष्ठायक कृतमाल देव को स्मरण कर भरत ने अष्टम तप किया। देव का आसन कम्पित हुआ। अवधि ज्ञान से उन्होंने चक्रवर्ती का आगमन जाना। बहुत दिनों पश्चात् आगत गुरु की तरह चक्रवर्ती [illegible] अतिथि की पूजा करने के बाद और बोले—'हे स्वामी, इस तमिस्रा गुहा के द्वार पर मैं आपके द्वारपाल की तरह अवस्थान करता हूँ। ऐसा कहकर उसने भरत का सेवकत्व अंगीकार कर स्त्रीरत्न के योग्य चौदह तिलक और दिव्य अलंकार समूह चक्रवर्ती को उपहार में दिए। साथ ही मानो पहले से ही महाराज के लिए रखे हों ऐसी उनके योग्य दिव्य माल्य और दिव्य वस्त्र दिए। चक्री ने भी वे समस्त स्वीकार कर लिए; कारण कृतार्थ राजा भी दिग्विजय लक्ष्मी के चिह्न रूप दिक्पतियों से प्राप्त उपहारों का परित्याग नहीं करते। अध्ययन के अन्त में उपाध्याय जिस प्रकार शिष्य को छुट्टी देते हैं उसी प्रकार भरतेश्वर ने उसे बुलवाकर उसके साथ शिष्ट व्यवहार कर विदा दी। फिर राजा भरत ने मानो उनके अंश ही हों व सर्वदा साथ में बैठकर भोजन करने वाले, ऐसे राजकुमारों के साथ नीचे पात्र रखकर पारना किया। फिर कृतमाल देवों के लिए अष्टाह्निका महोत्सव किया। बोला भी गया है—नम्रता से जिसे अपना बनाया गया है उसके लिए प्रभु क्या नहीं करते?

(श्लोक २३७-२४७)

द्वितीय दिन महाराज ने सुषेण नामक सेनापति को बुलवाया। तत्पश्चात् इन्द्र जिस प्रकार नैगमेषी देव को आदेश देता है उसी प्रकार उन्हें आदेश देते हुए बोले—'तुम चर्म रत्न द्वारा

सिन्धु नदी में उतर कर सिन्धु समुद्र और वैताढ्य पर्वत के मध्य स्थित दक्षिण सिन्धु नदी निष्कुट (सिन्धु नदी के दक्षिण तटवर्ती उद्यान-सा प्रदेश) को जय करो और बदरी फल की तरह वहाँ के अधिवासी म्लेच्छों को आयुध रूपी लकड़ी से झाड़ कर चर्म रत्न का पूर्ण फल प्राप्त करो।' (श्लोक २४८-२५०)

सुषेण सेनापति ने चक्रवर्ती की आज्ञा स्वीकार कर ली। उन्होंने जैसे वहीं जन्म ग्रहण किया हो इस प्रकार वहाँ के ऊँचे-नीचे समस्त भागों के दुर्गम स्थानों में जाने के समस्त पथों से वे परिचित थे। वे म्लेच्छ भाषा के ज्ञाता, सिंह के समान पराक्रमी, सूर्य-से तेजस्वी, बृहस्पति-से बुद्धिमान और सर्वलक्षण युक्त थे। वे तत्काल अपने स्थान पर आए। मानो उन्हीं का प्रतिबिम्ब हो ऐसे समस्त राजाओं को चलने का आदेश दिया। फिर स्नान-पूजा कर पर्वत से उच्च गजरत्न पर आरूढ़ हुए। उस समय उन्होंने स्वल्प किन्तु बहुमूल्य अलंकार पहने। कवच धारण किया। प्रायश्चित और कौतुक मंगल किया। उनके कण्ठ स्थित अन्य रत्नों के दिव्य हार ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो जयलक्ष्मी ने उनके गले में अपनी बाहु-लता अर्पण कर दी है। पट्ट हस्ती की तरह वे पट्ट चिह्नों से सुशोभित थे। उनकी कमर में मूर्तिमान शक्ति की तरह एक कटार थी। उनकी पीठ पर सरलाकृति स्वर्ण निर्मित दो तूणीर थे। वे दोनों ऐसे लगते थे। मानो पीछे से युद्ध करने के लिए दो वैक्रिय हाथ हों। वे गणनायक दण्डनायक श्रेष्ठी सार्थवाह सन्धिपाल और अनुचरों से युवराज की तरह परिवृत थे। उनका अश्वासन इस प्रकार निश्चल था मानो उस आसन के साथ ही उन्होंने जन्म ग्रहण किया हो। श्वेत छत्र और चँवर शोभित देवोपम वे सेनापति स्व पदांगुष्ठ द्वारा हस्ती को चला रहे थे। चक्रवर्ती की अर्द्ध सैन्य सहित वे सिन्धु तट पर आए। सैनिकों की पदचाप से उड़ने वाली धूल से वह तट ऐसा प्रतीत होता था मानो वहाँ सेतुबन्ध किया गया हो। सेनापति ने अपने हाथ से चर्म रत्न को जो कि बारह योजन तक विस्तृत हो सकता है, जिसमें सुबह बोया हुआ बीज सन्ध्या को उग जाता है, जो नदी, झील, समुद्र को अतिक्रम करने में समर्थ है उसे स्पर्श किया। स्वाभाविक रूप से उसके दोनों प्रान्त विस्तृत हो गए। सेनापति ने उसे उठाकर जल पर तेल की भाँति तैरा दिया।

फिर उस पर वे सैन्य सहित नदी के उस पार गए।

(श्लोक २५१-२६६)

सिन्धु नदी के समस्त दक्षिणी प्रदेश को जय करने के लिए वे प्रलयकालीन समुद्र की तरह वहां फैल गए। धनुष के निर्घोष से और युद्ध के कौतुहल में ही लीला करते हुए उन्होंने सिंह की तरह सिंहल देश को जीत लिया। बर्बरों को क्रीतदासों की तरह अपने अधीन कर टंकनों के अश्वों को तरह राजचिह्न से अंकित कर दिया। जल रहित रत्नाकर की भांति मणिक्य पूर्ण यवन द्वीप को उस नरकेशरी ने खेल ही खेल में जय कर लिया। उन्होंने कालेमुख जाति के म्लेच्छों को भी जीत लिया। यह देखकर भोजन के बाद भी उनकी अंगुलियां मुंह में ही रहने लगीं। इस प्रकार सेनापति सर्वत्र फैल जाने के कारण जोनक नामक म्लेच्छगण वायु से जैसे वृक्ष पराङ्मुख हो जाते हैं उसी प्रकार पराङ्मुख हो गए। सपेरा जिस प्रकार सभी प्रकार के सर्पों को वश में कर लेता है उसी प्रकार उन्होंने वैताढ्य पर्वत के निकटस्थ प्रदेशों में रहने वाले म्लेच्छों की समस्त जातियों को वश में कर लिया। प्रौढ़ प्रताप को अनिवार्य रूप से प्रसारित करने वाला वह सेनापति वहां से आगे बढ़कर सूर्य जिस प्रकार समस्त आकाश में फैल जाता है उसी प्रकार उसने कच्छ देश के समस्त भू-भाग को आक्रान्त कर लिया अर्थात् जय कर लिया। सिंह जिस प्रकार समस्त जंगल को पदानत रखता है उसी प्रकार वह भी समस्त निष्कूट प्रदेश को पदानत कर समतल भूमि पर स्वस्थतापूर्वक रहने लगा। पति के पास जिस प्रकार पत्नी जाती है उसी प्रकार म्लेच्छ देश के राजागण उपहार लेकर बड़े भक्ति भाव से सेनापति के पास जाने लगे। किसी ने स्वर्णगिरि के शिखर परिमाण रत्नराशि दी तो किसी ने चलमान विन्ध्यपर्वत तुल्य हस्ती दिए। किसी ने सूर्याश्व को भी परास्तकारी अश्व दिए, किसी ने अर्जुन निर्मित देवताओं के रथ तुल्य रथ दिए। इसके अतिरिक्त अन्य भी जो सारभूत वस्तुएं थीं वे सभी उन्होंने उपहार स्वरूप दीं। कहा भी गया है कि पर्वत से लेकर नदी के पथ पर निर्मित सभी रत्न भी रत्नाकर में ही चले जाते हैं। इस भांति उपहार देकर वे सेनापति से बोले—'आज से हम आपके आज्ञा-पालक बनकर भृत्य की तरह यहां रहेंगे।' सेनापति ने सब का यथोचित सत्कार कर विदा

किया। फिर जिस प्रकार वे आए थे उसी प्रकार सुखपूर्वक सिन्धु के उस पार लौट गए। कीर्ति रूपी लता के दोहद तुल्य म्लेच्छों से प्राप्त समस्त उपहार सेनापति ने चक्रवर्ती को समर्पित किए। कृतार्थ चक्री ने भी सेनापति का बहुमान कर विदा दी। वे सहर्ष अपने स्थान को लौट गए। (श्लोक २८३-२८३)

राजा भरत वहां अयोध्या की भांति ही सुखपूर्वक रहने लगे। कारण, सिंह जहां भी जाता है वहीं उसका निवास बन जाता है। एक दिन उन्होंने सेनापति को बुलाकर आदेश दिया—'गुफा का दरवाजा खोलो।' सेनापति ने उनकी आज्ञा को माला की भांति मस्तक पर धारण किया और तमिस्रा गुफा के द्वार पर आकर उपस्थित हुए। तमिस्रा के अधिष्ठाता कृतमाल देव को स्मरण कर उन्होंने अट्ठम तप किया। क्योंकि समस्त सिद्धियों की मूल तपस्या ही होती है। तदुपरान्त स्नान कर श्वेत वस्त्र रूपी पंख धारण कर इस प्रकार स्नानागार से निकले जैसे राजहंस स्नान कर सरोवर से बाहर निकलते हैं। फिर सुन्दर नील कमल-सा स्वर्ण धूपदान हाथ में लेकर तमिस्रा के द्वार पर आए। प्रथम उन्होंने द्वार को प्रणाम किया। कारण, शक्तिवान महान् पुरुष पहले सामनीति प्रयोग में लाते हैं। वहां वैताढ्य पर्वत पर विचरने वाली विद्याधर पत्नियों को स्तम्भन करने के लिए औषध रूप महार्द्धिक अष्टाह्निका महोत्सव किया एवं मान्त्रिक जैसे मण्डल तैयार करता है उसी प्रकार सेनापति ने वहां अखण्ड अक्षतों से अष्ट मांगलिकों की रचना की फिर इन्द्र के वज्र की भांति शत्रुनाशकारी चक्रवर्ती का दण्डरत्न हाथ में लेकर दरवाजे पर आघात करने के लिए सात-आठ कदम पीछे हटे। कारण, हाथी भी प्रहार करने के लिए पीछे हटता है। फिर सेनापति ने उसी दण्डरत्न से दरवाजे पर चोट की। उससे समस्त गुफा वज्र की भांति ध्वनित हुई और उसी मुहूर्त्त में वैताढ्य पर्वत के मुद्रित नेत्र की भांति मजबूती से बन्द वे वज्र निर्मित किवाड़ खुल गए। दण्ड के आघात से खुलते हुए वे किवाड़ इस प्रकार आवाज कर रहे थे मानो वे क्रन्दन कर रहे हों। उत्तर दिशा के भरत खण्ड को जय करने जाने में मंगल रूप उन किवाड़ों के खुल जाने की बात सेनापति ने जाकर चक्रवर्ती से कही। यह सुनकर हस्तीरत्न पर आरूढ़ होकर महापराक्रमी महाराज भरत ने चन्द्रमा की भांति तमिस्रा गुफा में प्रवेश किया। (श्लोक २८४-२९९)

प्रवेश करने के समय नरपति ने चार अंगुल प्रमाण और

सूर्य-सा प्रकाशवान् मणिरत्न ग्रहण किया। वह एक हजार यक्षों द्वारा अधिष्ठित था अर्थात् एक हजार देव उसकी रक्षा करते थे। उस रत्न को मस्तक की चूड़ा पर बांध लेने से पशु-पक्षी, मनुष्य और देवताकृत उपसर्ग नहीं होते। इसके अतिरिक्त उस रत्न के प्रभाव से सूर्य द्वारा जिस प्रकार अन्धकार दूर हो जाता है उसी प्रकार समस्त दुःख नष्ट हो जाते हैं और शस्त्र के आघात की भांति समस्त रोग भी दूर भाग जाते हैं। सुवर्ण कलश पर जिस प्रकार सुवर्ण ढक्कन लगाया जाता है उसी प्रकार उन रिपुनाशक राजा ने उस रत्न को हस्ती के दाहिने कुम्भ स्थल पर रखा। पीछे चलमान सेना सहित चक्र का अनुसरण करते हुए सिंह की भांति उस गुफा में प्रवेश करते हुए नरकेशरी ने चार अंगुल प्रमाण अन्य काकिणी रत्न भी ग्रहण किया। वह रत्न सूर्य, चन्द्र और अग्नि-सा कान्ति सम्पन्न था। उसका आकार अधिकरणी-सा था। एक हजार यक्ष उसके रक्षक थे। आठ सुवर्ण मुद्राओं-सा उसका प्रमाण था। उसमें छह पत्र थे, बाहर कोण थे और नीचे का भाग समतल था। वह मान, उन्मान और प्रमाण युक्त था। उसकी आठ कर्णिकाएं थीं। बारह योजन पर्यन्त अन्धकार दूर करने में वह समर्थ था। गुफा के मध्य दोनों ओर एक-एक योजन के बाद गो-मूत्र के आकार में अर्थात् एक दाहिनी ओर, दूसरा बायीं ओर, इस प्रकार काकिणी रत्न के द्वारा मण्डल तैयार करते-करते चक्रवर्ती अग्रसर हुए। प्रत्येक मण्डल पांच सौ धनुष विस्तृत और एक योजन तक प्रकाश करने में समर्थ था। इन मण्डलों की संख्या ४९ थी। जब तक कल्याणकारी चक्रवर्ती पृथ्वी पर वर्त्तमान रहते हैं तब तक गुफा का दरवाजा खुला रहता है।

(श्लोक ३००-३१०)

चक्र के पीछे गमन करते हुए चक्रवर्ती और चक्रवर्ती के पीछे गमन करती हुई चक्रवर्ती की सेना मण्डल के आलोक में उस गुफा में अग्रसर होती गई। चक्रवर्ती की चलमान सेना उस गुफा में उसी प्रकार शोभा पाने लगी जिस प्रकार असुरादि सैन्य से रत्नप्रभा का मध्य भाग शोभित होता है। मन्थन दण्ड से मन्थन पात्र में जिस प्रकार शब्द होता है। उसी प्रकार चलमान चक्र और सेना से वह गुंजित होने लगी। जहां कोई नहीं चलता ऐसा गुफा पथ रथ चक्रों से लीकवाला और घोड़ों के खुरों से उखड़ा कंकरों के नगर पथों

 मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जैसा ही बन गया। सैन्य द्वारा वह गुफा लोक नालिका की भांति टेढ़ी-मेढ़ी हो गई। क्रमशः चक्रवर्ती उस गुफा के मध्य भाग में निम्नांग के वस्त्र पर पहनी हुई कटि मेखला-सी उन्मग्ना और निमग्ना नामक दो नदियों के निकट पहुँचे। उन दोनों नदियों को देखकर लगता मानो दक्षिण और उत्तर भरतार्द्ध से आए लोगों के लिए वैताढ्य पर्वत ने नदी रूप दो आज्ञा रेखा खींच दी है। उन दोनों नदियों के मध्य उन्मग्ना में पाषाण शिलाएँ तूम्बे के खोल की तरह प्रवाहित होती और निमग्ना में तूम्बे के खोल भी पाषाण शिलाओं की भांति डूब जाते। वे दोनों नदियां तमिस्रा गुफा की पूर्व प्राचीर से निर्गत होकर पश्चिम प्राचीर से होती हुई सिन्धु नदी में मिल जाती है। उस नदी पर वर्द्धकिरत्न ने एक अच्छा पुल तैयार किया। वह पुल वैताढ्य कुमार देवों की एकान्त स्थित विशाल शय्या-सा लगता था। वर्द्धकिरत्न ने क्षण भर में वह पुल तैयार कर दिया। कारण, गेहाकार कल्पवृक्ष को गृह निर्माण में जितना समय लगता है वर्द्धकिरत्न को उतना भी नहीं लगता। उस पुल पर पत्थर इस प्रकार जड़ित किए गए थे लगता जैसे पूरा पुल एक ही पत्थर से बना हो। उसकी भूमि हाथ-सी समतल और वज्र-सी कठोर होने के कारण वह गुफा के द्वार के दरवाजों द्वारा निर्मित लगती थी। उस दुस्तर नदी को चक्रवर्ती ने सैन्य सहित इस प्रकार स्वच्छन्द रूप से पार किया जैसे पथचारी सामान्य पथ का अतिक्रम करते हैं। महाराज सैन्य सहित अनुक्रम से उत्तर दिशा के मुख की भांति गुफा के उत्तर द्वार के निकट उपस्थित हुए। उत्तर द्वार के दरवाजे के दोनों किवाड़ दक्षिण द्वार की आवाज सुनकर भयभीत हो गए हों इस प्रकार तत्काल खुल गए। दरवाजा खुलने के समय जो सर-सर शब्द हुआ वह जैसे सेना को अग्रसर होने के लिए कह रहा था। दोनों किवाड़ दीवारों से टकराकर इस प्रकार खड़े हो गए मानो पहले वे कभी यहां थे ही नहीं। अचानक आ गए हैं। फिर सूर्य जिस प्रकार मेघ से बाहर निकलता है उसी प्रकार चक्रवर्ती के आगे चलता हुआ चक्र गुफा के बाहर निकला। उसके पीछे पृथ्वी-पति भरत इस भांति निकले जिस प्रकार पाताल के विवर से बलीन्द्र निकलता है। तदुपरान्त विन्ध्याचल की गुफा से निःशंक लीलायुक्त हस्ती जैसे बाहर निकलता है वैसे ही हस्तीयूथ निकला। समुद्र से निकलते हुए सूर्याश्वों का अनुसरण करते हुए सुन्दर घोड़े

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महा

स्वच्छन्दता से बाहर निकले। धनाढ्य व्यक्ति की रथशाला से जैसे रथ निकलता है उसी प्रकार की ध्वनि से आकाश गुंजित करते रथ समूह निकले और स्फटिक मणि के बिवर से जैसे सर्प निकलता है वैसे ही वैताढ्य पर्वत की उस गुफा से बलवान् पद-सेना बाहर निकली। (श्लोक ३११-३३४)

इस प्रकार पचास योजन दीर्घ गुफा अतिक्रम कर महाराज भरत ने भरतार्द्ध जय करने के लिए उत्तर खण्ड में प्रवेश किया। उस खण्ड में आपात जाति के मतवाले भील निवास करते थे। वे पृथ्वी पर दानवों की भांति धनवान, बलवान और तेजस्वी थे। उनके पास अपरिमित बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएँ थीं। शय्या, आसन और वाहन थे, सोना-चांदी था। अतः लगता जैसे वे कुबेर के सगोत्रिय हों। उनके कुटुम्बी भी धनी थे। उनके पास दास-दासियां भी बहुत थे। देवताओं के उपवन वृक्षों की भांति कोई उन्हें नाश नहीं कर सकता था। वृहद् शकटों के भारवहनकारी बैलों की भांति वे सर्वदा अनेक युद्धों में अपने बल का प्रदर्शन किया करते थे। जब भरतपति जबर्दस्ती यमराज की भांति उन पर आ पड़े तब उनके अनिष्ट सूचनाकारी अनेक उत्पात घटित होने लगे। चक्रवर्ती की चलमान सैन्य के भार से दुःखी हो गई हो इस प्रकार गृह और उद्यानों को कम्पित करती पृथ्वी कांपने लगी। चक्रवर्ती का दिगन्त विस्तृत महाप्रताप दिगन्तों में दावानल-सा प्रज्वलित होने लगा। सैन्य द्वारा उत्थित पथ धूल से सभी दिशाएँ पुष्पिनी रमणियों की भांति देखने लायक नहीं रहीं। क्रूर और कर्णकटुशब्दकारी मकर जिस प्रकार समुद्र में कलह करता है उसी प्रकार दुष्ट पवन परस्पर कलह करता प्रवाहित होने लगा। जलती हुई मशालों की भांति म्लेच्छ शिकारियों के लिए भयउत्पन्नकारी उल्का आकाश में पतित होने लगी। क्रोध से उद्धत बनी जमीन पर हाथों को पछाड़ रही हों ऐसी भयंकरशब्दकारी विद्युत आकाश में चमकने लगी और मृत्यु लक्ष्मी के छत्र की तरह चील और कौए यहां-वहां उड़ने लगे। (श्लोक ३३५-३४७)

उधर सुवर्ण कवच, कुठार और बरछी की किरण माला से आकाश स्थित सहस्र किरण सूर्य की कोटि किरणकारी, उद्दण्ड, दण्ड, धनुष और मुद्गर से आकाश को बड़े-बड़े दन्त विशिष्टकारी,

ध्वजा से चित्रित व्याघ्र, सिंह और सर्प के द्वारा आकाश में विचरण करती खेचरी रमणियों को भयप्रदर्शनकारी और वृहद-वृहद हस्ती रूप मेघ में दिक्समूह के अग्र भाग को अन्धकारमयकारी राजा भरत अग्रसर होने लगे। उनके अग्रभाग में अंकित मकर मुख यमराज के मुख से स्पर्द्धा कर रहा था। वे अश्व खुरों के आघात से जैसे धरती को तोड़ रहे हैं और जय वाद्यों पर पतित आघात से जैसे आकाश को टुकड़े-टुकड़े कर रहे हैं ऐसा लगता था। अग्रगामी मंगल तारा में जैसे सूर्य भयंकर लगता है उसी प्रकार अग्रगामी चक्र से भरत भयंकर प्रतीत हो रहे थे। (श्लोक १४८-१५२)

उन्हें आते देख भीलगण अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे और क्रूर ग्रहों की भाँति वे सभी एकत्र होकर मानो चक्रवर्ती को हरण करने की अभिलाषा से इस प्रकार रोष में बोले—'साधारण मनुष्य की भाँति लक्ष्मी, लज्जा, धैर्य और कीर्तिरहित यह कौन व्यक्ति अल्प बुद्धि बालकों की तरह मृत्यु की इच्छा कर रहा है। जिसकी पुण्य चतुर्दशी क्षीण हो गई है अर्थात् जो कृष्ण चतुर्दशी की भाँति क्षीण पुण्य हो गया है ऐसा लक्षणहीन यह व्यक्ति मानो मृग ने सिंह की गुफा में प्रवेश किया हो इस प्रकार हमारे देश में आया है। महापवन जिस प्रकार मेघ को छिन्न-भिन्न कर देता है उसी प्रकार इस उद्धत आकृति विशिष्ट विस्तीर्यमान व्यक्ति को हम भी छिन्न-भिन्न कर दसों दिशाओं में फेंक देंगे।' (श्लोक १५२-१५६)

इस प्रकार जोर से बोलते-बोलते शरभ जैसे मेघ के सम्मुख गर्जन करता है, दौड़ता है, उसी प्रकार वे राजा भरत से युद्ध करने के लिए प्रस्तुत होने लगे। किरातपतियों ने महिषों की पीठ की हड्डियों द्वारा निर्मित अभेद्य कवच धारण किए। मस्तक पर खड़े केश वाला निशाचरों की सिर लक्ष्मी तुल्य बन्दरों के केश युक्त शिरस्त्राण पहने। युद्ध करने का अवसर पाने के आनन्द में उनके शरीर इस प्रकार फूलने लगे कि उनके कवचों के तार टूटने लगे। उनके खड़े केश वाले मस्तक से शिरस्त्राण खिसक-खिसक कर गिर रहे थे। मानो मस्तक कह रहा था हमारी रक्षा करने वाला कोई नहीं है। कुछ किरात क्रोधावेश में यमराज की भृकुटि की तरह वक्र और शृंग द्वारा निर्मित धनुष को सहज ही प्रत्यंचा पर रोपण करने लगे। कुछ किरात जय लक्ष्मी की लीला-शय्या तुल्य रण में

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

दुर्वार और भयंकर तलवारें म्यान से बाहर निकालने लगे। कुछ किरात यमराज के लघु भ्राता तुल्य दण्ड को उठाने लगे। कोई-कोई धूमकेतु की भांति भालों को आकाश में घुमाने लगे। कोई-कोई रणोत्सव में आमन्त्रित प्रेत राजाओं को प्रसन्न करने के लिए मानो शत्रुओं को शूली पर चढ़ाएंगे इस प्रकार त्रिशूल धारण करने लगे। कोई शत्रुरूपी पक्षियों का प्राण हनन करने के लिए बाज पक्षियों-सा लौह शैल्य हाथों में लेने लगे। कोई-कोई मानो आकाश को तोड़ना चाहते हैं इस प्रकार अपने-अपने उद्यत हाथों से मुद्गर घुमाने लगे। इस प्रकार युद्ध करने की इच्छा से सभी ने नाना प्रकार के अस्त्रों को धारण किया। कोई भी आदमी अस्त्ररहित नहीं था। युद्ध करने की इच्छा से जैसे वे एक आत्मा वाले हों ऐसे उन्होंने एक साथ भरत की सेना पर आक्रमण किया। शिलावृष्टि-कारी प्रलयकालीन मेघों की भांति शस्त्र-वर्षा करते-करते म्लेच्छ गण महाराज भरत की सेना के अग्रभाग के साथ तीव्र युद्ध करने लगे। लगता था पृथ्वी से, दिङ्मुख से, आकाश एवं चारों दिशाओं से धा-धाकर अस्त्र गिरने लगे हैं। दुर्जनों की युक्ति जिस प्रकार सभी को विद्ध करती है इसी प्रकार राजा भरत की सेना में ऐसा कोई नहीं था जो उन भीलों के तीरों से विद्ध न हुआ हो। म्लेच्छों के आक्रमणों से चक्रवर्ती के अश्वारोही समुद्र की उत्ताल तरंग से नदी के अग्रभाग की तरंगें जिस प्रकार पीछे हट जाती हैं उसी प्रकार पीछे हटने लगी। म्लेच्छ रूपी सिंह के तीर रूपी श्वेत नखों से क्षत-विक्षत होकर चक्रवर्ती के हस्ती आर्त्त स्वर में भयंकर रूप से चिंघाड़ने लगे। म्लेच्छ वीरों के प्रचण्ड दण्ड युद्ध द्वारा बार-बार किए गए आघात से भरत की पदातिक सैन्य कन्दुक की भांति उछल-उछल कर उत्पतित होने लगी। वज्राघात से पर्वत जैसे भग्न हो जाते हैं यवन सेना की गदा के प्रहार से चक्रवर्ती सैन्य के अग्रभाग के रथ भी उसी प्रकार भग्न हो गए। संग्राम रूप सागर में तिमिंगल जाति के मकर से मछलियाँ जिस प्रकार पीड़ित और त्रस्त होती हैं उसी प्रकार वे त्रस्त व पीड़ित होने लगीं। (श्लोक ३५७-३७७)

अनाथों की भांति पराजित अपनी सेना को देखकर राज्याज्ञा जैसे क्रोध ने सेनापति सुषेण को उत्तेजित कर दिया। उसके नेत्र और मुख लाल हो गए और क्षण मात्र में वे मनुष्य के रूप में साक्षात्

अग्नि की भांति ऐसे जाज्वल्यमान हो गए कि उनकी ओर देखा नहीं जा सका। राक्षसपति की भांति वे विपक्ष की समस्त सैन्य को ग्रास करने के लिए उद्यत हो गए। देह में उत्पन्न उत्साह के कारण सुवर्ण कवच वे बड़ी कठिनता से धारण कर सके और इस भांति वे बैठे कि जैसे कोई दूसरी ही त्वचा हो। कवच धारण कर साक्षात् जय रूपी सुषेण सेनापति कमलापीड़ घोड़े पर सवार हुए। उस घोड़े की उच्चता ८० अंगुल और प्रशस्तता ९९ अंगुल और दैर्घ १०८ अंगुल था। उसका माथा हमेशा ३२ अंगुल से ऊपर रहता था। उसके बाहु अर्थात् सामने के पैर ४ अंगुल, जंघा १६ अंगुल और घुटनों तक ४ अंगुल था और उसका खुर भी था ४ अंगुल का। उसका मध्य भाग गोलाकार और आनत था। पीठ थी विशाल, आनत और आनन्द-दायक। उसके रोएं रेशम के सूते की तरह कोमल थे और देह पर श्रेष्ठ द्वादशावर्त्त था। उस घोड़े के समस्त लक्षण अच्छे थे और कान्ति थी यौवन प्राप्त शुक पक्षी के पंखों-सी मरकत। उसके शरीर ने कभी चाबुक का स्पर्श नहीं किया। कारण, वह आरोही की इच्छानुसार चलता था। रत्न और स्वर्णमय वल्गा में मानो लक्ष्मी ने ही अपने दोनों हाथ उसके गले को अर्पण किए हैं ऐसा लगता था। उस पर लटकते स्वर्ण घुंघरू छम-छम आवाज कर रहे थे। इससे लगता कि मधुर ध्वनिकारी मधुकर सेवित कमल माल से वह पूजित हुआ है। उसका मुख ऐसा लगता था जैसे पांच रंगों की मणियों से जड़ित स्वर्णालंकार की किरण द्वारा पताका चिह्न में अंकित हुआ है। मंगल तारिका में मण्डित आकाश की भांति सुवर्ण कमल उसके ललाट देश पर तिलक रूप में सुशोभित थे। चामर के अलंकार से शोभित उसे देखकर लगता मानो उसने द्वितीय कर्ण धारण किए हैं। वह चक्रवर्ती के पुण्य प्रभाव से आकृष्ट सूर्य के उच्चैःश्रवा अश्व की तरह सुशोभित था। उसके पैर वक्र-भाव से पड़ते जिससे लगता मानो वह क्रीड़ा कर रहा हो। उसमें एक लक्ष योजन अतिक्रम करने की शक्ति थी। उससे वह साक्षात् गरुड़ व पवन-सा लगता था। वह कर्दम जल, पत्थर, कंकर और धूल भरा विषम स्थान एवं पहाड़ गुफा आदि दुर्गम स्थान को अतिक्रम करने की शक्ति रखता था। चलने के समय उसके पैर जमीन पर बहुत कम पड़ते थे जिससे लगता मानो वह आकाश में उड़ रहा है। वह बुद्धिवान् और नम्र था। पांच प्रकार की गति से उसने श्रम को जय कर लिया था।

उसकी श्वास कमल-सी सुगन्धयुक्त थी। (श्लोक ३७८-३९५)

इस प्रकार के घोड़े पर चढ़कर सेनापति ने यमराज की तरह खड्ग ग्रहण किया। वह खड्ग शत्रु के लिए मृत्यु-पत्र की तरह थी। वह खड्ग ५० अंगुल लम्बी, १६ अंगुल विस्तृत और डेढ़ अंगुल मोटी थी। उसकी मूठ म्यान रत्नजड़ित थी। वह म्यान बाहर थी इसलिए कंचुक मुक्त सर्प-सी लगती थी। वह अत्यन्त तीक्ष्ण थी। द्वितीय वज्र की भांति वह शक्त थी—और विचित्र कमल श्रेणी की तरह दिखने वाले रंगों से शोभित थी। उस खड्ग को धारण कर सेनापति ऐसे लग रहे थे मानो वे पंखयुक्त शेषनाग या कवचधारी केशरी सिंह हों। आकाश में चमकती विद्युत् की भांति चपलता से खड्ग घुमाते हुए उन्होंने अपना अश्व रणभूमि की ओर धावित किया। जलकान्त मणि की तरह शत्रु रूप जल को चीरता हुआ वह अश्व रण क्षेत्र के मध्य जा उपस्थित हुआ।

(श्लोक ३९६-४०१)

सुषेण के आक्रमण से कुछ शत्रु मृग की भांति व्याकुल हो गए। कुछ जमीन पर शशक की भांति आंखें बन्द कर बैठ गए। कुछ रोहित मृग की भांति थके हुए से वहीं खड़े रहे। कुछ बन्दरों की तरह दुर्गम स्थान पर जा बैठे। कइयों के हाथ के अस्त्र वृक्ष के पत्रों की तरह जमीन पर खिसक कर गिर गए। कइयों के छत्र उनके यश की तरह धूलिसात् हो गए। कुछ के घोड़े मन्त्र द्वारा चित्रांकित सर्प से स्थिर हो गए। कुछ के रथ इस प्रकार टूट गए मानो वे मिट्टी द्वारा निर्मित हों। कुछ अपरिचितों की भांति इधर-उधर भाग गए। उन्होंने अपने लोगों की अपेक्षा भी नहीं की। समस्त म्लेच्छगण प्राण लेकर दसों दिशाओं में भाग छूटे। जल के प्रवाह से आकृष्ट होकर वृक्ष जैसे बह जाते हैं उसी भांति सुषेण रूपी जल के प्रवाह में म्लेच्छगण प्रवाहित हो गए। फिर वे काम की भांति एक स्थान पर एकत्र होकर कुछ क्षण विचार-विमर्श कर आतुर बालक जैसे मां के पास जाता है उसी प्रकार महानदी सिन्धु के निकट गए और मानो मृत्यु स्नान करने को तैयार हो रहे हैं इस प्रकार बालू की शय्या पर बैठ गए। वहां बैठकर आकाश की ओर मुख किए मेघ-मुख आदि नागकुमार जातीय स्वकुल के देवताओं को मन ही मन स्मरण करते हुए अष्टम तप किया। अष्टम तप के अन्त में मानो

चक्री के चक्र भय से नागकुमार देवताओं का आसन कम्पित हुआ। अवधि-ज्ञान से म्लेच्छों को दुःखी देख पिता जैसे सन्तान के दुःख से दुःखी होते हैं उसी प्रकार दुःखी हो वे उनके सम्मुख आकर प्रकट हुए और आकाश में स्थित होकर बोले—'तुम लोग मन में उत्पन्न किस इच्छा को सफलता चाहते हो ?' (श्लोक ४०२-४१३)

आकाश स्थित मेघमुख नागकुमारों को देखकर मानो वे अत्यन्त पिपासित हों इस प्रकार करबद्ध होकर मस्तक टेकते हुए बोले—'हमारे देश में आज तक किसी ने भी कभी आक्रमण नहीं किया; किन्तु इस समय कोई आ पहुँचा है। आप कुछ ऐसा करिए जिससे वे यहां से चले जाएं।' देवगण बोले—'हे किरातगण, ये [illegible] राजा हैं। वे [illegible] हैं। देव, असुर या मनुष्य कोई इन को पराजित नहीं कर सकता। छेनी द्वारा जिस प्रकार पर्वत के पाषाण को विद्ध नहीं किया जा सकता उसी प्रकार पृथ्वी पर चक्रवर्ती राजा मन्त्र, तन्त्र, विष, शस्त्र एवं विद्याओं के लिए अभेद्य हैं। उनके पास कोई नहीं पहुंच सकता। फिर भी तुम्हारी इच्छा से हम उनको क्षति पहुंचाने की चेष्टा करेंगे।' ऐसा कहकर वे चले गए। (श्लोक ४१४-४१८)

क्षण मात्र में पृथ्वी से कूदकर समुद्र जैसे आकाश में आ गया हो इस प्रकार काजल से मेघ आकाश में छा गए। विद्युत रूप तर्जनी अंगुली से जैसे चक्रवर्ती सैन्य का तिरस्कार कर रहे हों एवं मेघ-निनाद द्वारा क्रुद्ध होकर बार-बार उनका अपमान कर रहे हों ऐसे वे दिखाई देने लगे। सैन्य को चूर्ण करने के लिए वह सेना जहां तक विस्तृत थी वहां तक संचारित वज्र शिला से मेघ महाराज की छावनी पर छा गए और लौह खण्ड-से तीक्ष्ण अग्रभाग-विशिष्ट तीर और दण्ड रूप पानी बरसाने लगे। सारी धरती वर्षा के जल में डूब गई। रथ नौका की भांति, हस्ती आदि मकर की भांति प्रतीत होने लगे। सूर्य मानो किसी दिशा में चला गया। पर्वत जैसे कहीं खो गए हों इस प्रकार मेघों का अन्धकार काल-रात्रि-सा दिखाई देने लगा। ऐसा लगा मानो पृथ्वी पर पुनः युग्म धर्म प्रवर्तित होने वाला हो। (श्लोक ४१९-४२५)

ऐसी अनिष्टकारी दुःखदायी वृष्टि देखकर चक्रवर्ती ने कृपा-पात्र भृत्य की तरह अपने हाथों से चर्मरत्न को स्पर्श किया। उत्तरी

पवन से जैसे मेघ विस्तृत हो जाते हैं उसी प्रकार चक्रवर्ती के हस्त स्पर्श से चर्मरत्न बारह योजन पर्यन्त विस्तृत हो गया। समुद्र जल के मध्य द्वीप में जिस प्रकार मनुष्य रहते हैं उसी प्रकार चर्मरत्न पर समस्त सैन्य सहित महाराज भरत अवस्थित हो गए। तदुपरान्त विद्रुम से जैसे क्षीर समुद्र शोभित होता है उसी प्रकार सुन्दर कान्ति सम्पन्न ९९वें हजार शलाकाओं से सुशोभित वज्र और ग्रन्थि रहित कमल नाल से सीधे सुवर्ण दण्ड युक्त जल, धूप, हवा और धूल से बचाने में समर्थ छत्र-रत्न को राजा ने स्पर्श किया जिससे चर्मरत्न की तरह वह भी विस्तृत हो गया। इस छत्र दण्ड पर अन्धकार विनाश करने के लिए राजा ने सूर्य-सा मणिरत्न रखा। छत्ररत्न और चर्मरत्न का वह सम्पुट प्रवहमान अण्डे-सा लगने लगा। उससे लोक में ब्रह्माण्ड की कल्पना उत्पन्न हुई। मणि रत्न के प्रभाव से उस चर्मरत्न पर उत्कृष्ट खेत-सा कुम्हड़ा बोया [illegible] होने लगा। चन्द्र के प्रसाद की तरह उससे सुबह बोया कुम्हड़ा, पालक, मूली आदि दोपहर में फलने लगे। सुबह बोए आम, केला आदि फलों के वृक्ष भी दोपहर में महापुरुषों द्वारा आरम्भ किए कार्य जिस तरह सफल होते हैं उसी प्रकार सफल होने लगे। उस सम्पुट में निवास करने वाले मनुष्यगण उपर्युक्त धान-शाक और फलादि का भोजन कर प्रसन्न थे। उन्हें लगता जैसे वे उद्यान में घूम रहे हैं। अतः इस प्रकार उनको सैनिक जीवन का श्रम भी अनुभूत नहीं हो रहा था। मानो राजमहल में ही निवास कर रहे हों इस प्रकार मध्य लोक के अधिपति राजा भरत चर्मरत्न और छत्ररत्न के मध्य परिवार सहित रहने लगे। उधर कल्पान्त काल की भांति वारि वर्षण करते-करते सात दिन, सात रात व्यतीत हो गई।

(श्लोक ४२६-४३९)

तब राजा के मन में विचार उत्पन्न हुआ—कौन पापी हमें इस प्रकार कष्ट दे रहा है? राजा के विचार को ज्ञात कर उनके निकट अवस्थानकारी और महापराक्रमी सोलह हजार यक्ष उनके कष्टों को दूर करने के लिए प्रस्तुत हुए। उन्होंने तूणीर बांधे धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाई और मानो अपनी क्रोधरूपी अग्नि से शत्रुओं को जलाकर मार देना चाहते हों इस प्रकार नागकुमार देवताओं के सम्मुखीन होकर बोले—'अरे, ओ दुष्ट मूर्खों के दल, तुम क्या पृथ्वीपति भरत चक्रवर्ती को नहीं जानते? ये समस्त संसार में अजेय

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

हैं। इन्हें कष्ट देने का प्रयास तुम्हें उस प्रकार कष्ट देगा जैसे पर्वत पर दन्त द्वारा प्रहार करने वाले हस्तियों को होता है। अभी भी तुम कीट-पतंगों की तरह यहां से दूर चले जाओ नहीं तो तुम्हें इस प्रकार मरना होगा जिस प्रकार आज तक कोई नहीं मरा।

(श्लोक ४४०-४४५)

यह सुनकर मेघमुख नागकुमार देवगण भयभीत हो गए और वर्षा को इस प्रकार समेट लिया जिस प्रकार ऐन्द्रजालिक इन्द्रजाल को। फिर वे किरातों से बोले—'तुम लोग महाराज भरत की शरण ग्रहण करो।' ऐसा कहकर स्व-आवास को चले गए।

(श्लोक ४४६-४४७)

देवताओं के वाक्य से निराश होकर म्लेच्छगणों ने कोई आश्रय-स्थल न पाकर राजा भरत की शरण ग्रहण की। उन्होंने मेरु पर्वत के सार से स्वर्ण का ढेर, अश्वरत्न के प्रतिबिम्ब से लक्ष-लक्ष घोड़े राजा भरत को उपहार में दिए। फिर करबद्ध होकर माथा झुकाए सुन्दर वाक्यगर्भित वाणी से जैसे बन्दीजनों के सहोदर हों, बोले—'हे जगत्पति, अखण्ड, प्रचण्ड पराक्रमी आपकी जय हो। छह खण्ड पृथ्वी पर आप इन्द्र तुल्य हैं। महाराज, हमारे प्रदेश के दुर्ग-तुल्य वैताढ्य पर्वत के द्वार को आपके अतिरिक्त और कौन खोल सकता है? हे विजयी, आकाश के ज्योतिष चक्र की तरह जल पर समस्त सेना की छावनी रखने की शक्ति और किसमें है। हे स्वामी, अद्भुत शक्ति के लिए आप अजेय हैं यह अब हम समझ गए हैं। अतः हम अज्ञानियों के समस्त अपराध आप क्षमा करें। हे नाथ, नवीन जीवन देने वाले आप हमारे रक्षक बनें। आज से हम आपके आज्ञानुवर्ती रहेंगे।' कृतविद् भरत ने उन्हें अपने अधीन कर लिया और सत्कारपूर्वक विदा किया। कहा भी गया है—उत्तम पुरुष का क्रोध प्रणाम की अवधि तक ही रहता है अर्थात् विरोधी जब तक नत नहीं होता तब तक ही उसका क्रोध रहता है। चक्रवर्ती की आज्ञा से सेनापति सुषेण ने समुद्र और पर्वत की मर्यादा रूप समुद्र के उत्तर निष्कुट तक अर्थात् द्वार पर्यन्त सबको जय कर लिया। चक्रवर्ती भरत ने दीर्घकाल तक वहां सुखपूर्वक अवस्थान किया मानो वे अपने साहचर्य से अनार्यों को भी आर्य बनाना चाहते हों।

(श्लोक ४४८-४५९)

एक दिन दिग्विजय के न्यास रूप में रक्षित तेजस्वी विशाल चक्ररत्न राजा की आयुधशाला से बाहर निकला और क्षुद्र हिमवन्त पर्वत की ओर पूर्व दिशा के पथ पर चलने लगा। जिस प्रकार जल का प्रवाह नाली पथ से ही जाता है उसी प्रकार चक्रवर्ती चक्र के पीछे-पीछे चलने लगे। गजेन्द्र की तरह लीलामय प्रयाणकारी महाराज भरत कई दिन प्रयाण के पश्चात् क्षुद्र हिमवन्त के दक्षिण भाग की ओर आए। भोजपत्र, टगर और देवदारु वृक्ष पूर्ण उस प्रदेश के पाण्डुक वन में महाराज भरत ने इन्द्र की भांति छावनी डाली। वहां क्षुद्र हिमाद्रिकुमार देवों के उद्देश्य से ऋषभात्मज ने अष्टम तप किया। कारण, कार्यसिद्धि के लिए तपस्या प्रारम्भिक मंगल है। रात्रि व्यतीत होने पर सूर्य जैसे पूर्व समुद्र से निकलता है उसी प्रकार अष्टम तप पूर्ण होने पर सुबह ही तेजस्वी महाराज रथ पर आरूढ़ होकर छावनी रूपी समुद्र से बाहर निकले और अभिमान सहित शीघ्र गमन कर महाराजों के मध्य अग्रणी उन्होंने अपने रथ के अग्रभाग द्वारा क्षुद्र हिमालय पर्वत पर तीन बार आक्रमण किए। धनुर्धरों की तीर चलाते समय जो आकृति होती है उसी आकृति में अवस्थित होकर महाराज ने निज नामांकित तीर हिमाचल कुमार देवताओं की ओर निक्षेप किया। पक्षी की तरह बहत्तर योजन पर्यन्त आकाश में उठकर वह तीर हिमाचल कुमार देवता के सम्मुख जाकर गिरा। अंकुश देखकर जैसे उन्मत्त हस्ती क्रुद्ध हो जाता है उसी प्रकार शत्रु-तीर देखकर हिमाचलकुमार देव के नेत्र भी क्रोधारक्त हो गए; किन्तु जब उन्होंने तीर को उठाकर देखा और उस पर अंकित नाम पढ़ा तब उनका क्रोध इस प्रकार शान्त हो गया जैसे दीपक देखकर सर्प शान्त हो जाता है। तब वे प्रधान पुरुष की भांति उस तीर को भी साथ लेकर उपहारों सहित भरतेश्वर के निकट आए। आकाश में स्थित रहकर जय-जय शब्द उच्चारित कर तीर प्रस्तुतकारक की तरह तीर भरत को दिया और फिर देववृक्षों के पुष्पों से ग्रथित माला, गोशीर्ष चन्दन, सर्वौषधि और ह्रद जल आदि चक्रवर्ती को उपहार में दिए। कारण, ये ही सब द्रव्य उनके लिए सार रूप थे। पांवों के कड़े, बाजूबन्द और दिव्य वस्त्र उन्होंने महाराज को दण्ड के रूप में दिए और बोले—हे प्रभो, उत्तर दिशा के प्रान्त भाग में मैं आपके अनुचर की भांति अवस्थान करूंगा।' ऐसा कहकर जब वे चुप हो गए तब भरत ने

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
सत्कारपूर्वक उन्हें विदा किया। फिर वे मानो हिमालय के शिखर हों या शत्रु के मनोरथ हों ऐसे अपने रथ को प्रत्यावर्तित किया।

(श्लोक ४६०-४७६)

वहां से ऋषभपुत्र ऋषभकूट गए। हस्ती जैसे दन्त द्वारा पर्वत पर आघात करता है उसी प्रकार उन्होंने अपने रथ के अग्रिम भाग द्वारा तीन बार ऋषभकूट पर्वत पर आघात किया। फिर सूर्य जैसे किरण-कोष को ग्रहण करते हैं उसी प्रकार चक्रवर्ती ने रथ वहीं ठहरा कर काकिणी रत्न ग्रहण किया और काकिणी रत्न द्वारा पर्वत के शिखर पर लिखा—अवसर्पिणी काल के तृतीय आरे के शेष भाग में मैं भरत नामक चक्रवर्ती हुआ हूं। ऐसा लिखकर वे अपनी छावनी में लौट आए और इसके लिए जो अष्टम तप किया था उसका पारना किया। फिर हिमालयकुमार की तरह ऋषभकूट पति के लिए भी चक्रवर्ती के वैभवानुरूप अष्टाह्निका महोत्सव किया। (श्लोक ४७७-४८१)

गंगा और सिन्धु नदी का भू-भाग में जैसे समा नहीं रहा है ऐसे आकाश में उछलने वाले अश्वों से, सैन्य भार से प्रपीड़ित धरती को मद जल से सिंचित करने की इच्छा रखता है ऐसे मदजल प्रवाही हस्तियों से, कठोर रथ चक्र की रेखाओं से, पृथ्वी को अलंकृत करता हो ऐसे उत्तम रथों से और नराद्वैत (मनुष्य के सिवाय और कुछ नहीं) ऐसी स्थिति प्रतिपलकारी अद्वितीय पराक्रमशाली पृथ्वी व्याप्त कोटि-कोटि पदातिकों से परिवृत चक्रवर्ती महाव्रत की इच्छानुसार गमनकारी हाथी की तरह चक्र के पीछे वैताढ्य पर्वत पर आए और उस पर्वत के उत्तर भाग में जहां शबर रमणियां आदीश्वर का अनिन्दित गीत गाती है वहां छावनी डाली। वहां अवस्थान कर उन्होंने नमि और विनमि नामक विद्याधर के पास दंडयाचनाकारी तीर निक्षेप किया। तीर देखकर वे दोनों विद्याधरपति क्रुद्ध हुए और परस्पर विचार करने लगे। एक बोला—'जम्बूद्वीप के भरत खण्ड में ये भरत राजा प्रथम चक्रवर्ती हुए हैं। ये ऋषभकूट पर्वत पर चन्द्र बिम्ब की भांति अपना नाम अंकित कर लौटते समय हमारे यहां आए हैं। हस्ती के आरोहक की तरह इन्होंने वैताढ्य पर्वत के पार्श्व में छावनी डाली है। इन्होंने सर्वत्र जय लाभ किया है। इन्हें अपने बाहुबल पर अभिमान हो गया है। ये हमलोगों को भी जीतना

चाहते हैं और इसीलिए इन्होंने उद्दण्ड तीर हमारे पास भेजा है।'
(श्लोक ४८२-४९३)

इस प्रकार विचार विमर्श कर दोनों युद्ध के लिए तैयार होकर अपनी-अपनी सेना से पर्वत शिखर आच्छादित करने लगे। सौधर्म और ईशानपति की देव सेना की तरह दोनों की आज्ञा से विद्याधरों की सेना ने आना आरम्भ किया। उनके किल-किल शब्दों से लगता मानो वैताढ्य पर्वत हंस रहा है, गरज रहा है, फट रहा है। विद्याधरेन्द्रों के सेवकगण वैताढ्य पर्वत की गुहा की भाँति सोने के वृहद्-वृहद् ढोल बजाने लगे। उत्तर और दक्षिण के नगर जनपद और ग्राम के नायक मानो रत्नाकर के पुत्र हों इस प्रकार विभिन्न प्रकार के रत्न, अलंकार धारण कर गरुड़ की भाँति अस्खलित गति से आकाश में विचरण करने लगे। एक साथ जाते हुए नमि विनमि दोनों एक दूसरे के प्रतिबिम्ब से लगते थे। अनेक विचित्र माणिक्यों की प्रभा से दिक् समूहों को प्रकाश करने वाले विमान में बैठकर वे वैमानिक देव नहीं हैं यह प्रतिपन्न न हो इस प्रकार चलने लगे। अनेक पुष्करावर्त मेघों की भाँति मद बिन्दु बरसाने वाले एवं गरजने वाले गन्ध हस्ती पर आरूढ़ होकर चलने लगे। अनेक सूर्य और चन्द्र के तेज से परिपूर्ण स्वर्ण और रत्न निर्मित रथ में बैठकर चलने लगे। अनेक आकाशपथ पर उत्तम गति के द्रुतधावनकारी अश्वों पर चढ़कर वायुकुमार देवों की भाँति चलने लगे। अनेक हाथों में अस्त्र लेकर वज्र कवच धारण कर मर्कट की भाँति उल्लास में उछलते हुए चलने लगे। इस प्रकार विद्याधर सैन्य से परिवृत होकर युद्ध के लिए प्रस्तुत नमि विनमि वैताढ्य पर्वत से नीचे उतर कर भरतपति के सम्मुख उपस्थित हुए।
(श्लोक ४९४-५०५)

आकाश से उतरती हुई विद्याधर सेना ऐसी लग रही थी मानो अपने मणिमय विमानों के द्वारा वह आकाश को अनेक सूर्यमय कर रही थी। चमकित हस्ती यूथों से विद्युतमय कर रही थी। वृहद्-वृहद् भेरियों के शब्दों से शब्दायमान कर रही थी। अरे ओ दण्ड प्रत्याशी! तू मुझसे क्या दण्ड लेगा?' ऐसा कहते-कहते विद्या के मद में उन्मत्त उन दोनों विद्याधरों ने युद्ध के लिए भरतपति का आह्वान किया। तदुपरान्त दोनों पक्षों की सेना विविध अस्त्रों के

प्रहार से युद्ध करने लगी। कारण जय-लक्ष्मी युद्ध के द्वारा ही प्राप्त होती है। बारह वर्षों तक युद्ध चला। अन्ततः विद्याधर पराजित हुए। भरत ने विजय प्राप्त की। तब उन्होंने करबद्ध होकर भरत को प्रणाम किया और बोले—'हे कुल स्वामी! जैसे सूर्य से अधिक तेजस्वी कोई नहीं है, वायु से अधिक वेगगामी कोई नहीं है, मोक्ष से अधिक सुखदायी कुछ नहीं है उसी भाँति आपसे अधिक शूरवीर भी कोई नहीं है। हे ऋषभ स्वामी के पुत्र, आपको देखकर हम अनुभव करते हैं कि हम साक्षात् ऋषभ स्वामी को ही देख रहे हैं। अज्ञानवश हमने आपको जो कष्ट दिया उसके लिए आप हमें क्षमा प्रदान करें। कारण आज आपने ही हमें अज्ञान से मुक्त किया है। पहले हम जैसे ऋषभदेव के भृत्य थे वैसे ही अब आपके भृत्य हो गए हैं। क्योंकि स्वामी की भाँति ही स्वामी पुत्रों की सेवा भी लज्जाजनक नहीं होती। हे महाराज, उत्तर और दक्षिण भरत के मध्य अवस्थित वैताढ्य के दो भागों में हम दुर्ग रक्षकों की तरह आपकी आज्ञा का पालन करेंगे।'

(श्लोक ५०६-५१४)

फिर राजा विनमि यद्यपि राजा को कुछ उपहार देना चाहते हों तब भी मानो कुछ प्रार्थना भी कर रहे हों इस प्रकार उन्हें नमस्कार कर करबद्ध होकर लक्ष्मी स्वरूपा स्त्रियों में रत्न स्वरूपा अपनी सुभद्रा नामक कन्या चक्री को उपहार में दी। (श्लोक ५१५)

सुभद्रा की आकृति इस प्रकार समचतुरस्र थी मानो उसे परिमाप कर ही निर्मित किया हो। उसकी कान्ति इतनी प्रदीप्त थी मानो त्रिलोक माणिक्य की पुंज हो। यौवन भार से एवं चिरकाल सुन्दर केश, नखों से वह इस प्रकार शोभित हो रही थी मानो वह कुलज्ञ सेवकों से परिवृत हो। दिव्य औषधि की भाँति वह समस्त रोग शान्त कर सकती थी। दिव्य जल की भाँति वह इच्छानुकूल शीत और ऊष्ण स्पर्शयुक्त हो सकती थी। वह तीन स्थानों पर कृष्ण, तीन स्थानों पर श्वेत और तीन स्थानों पर ताम्रवर्णा थी। तीन स्थान पर उन्नत, तीन स्थान पर गम्भीर, तीन स्थान पर विस्तीर्ण और तीन स्थान पर कृश थी। अपने केश-कलाप से वह मयूर के कलाप को भी निन्दित कर रही थी और ललाट से अष्टमी के चन्द्र को पराजित। उनके नेत्र रति और प्रीति के क्रीड़ा-सरोवर-से थे। उसके सुन्दर गण्डदेश नवीन दर्पण-से थे। स्कन्ध-स्पर्शी

उसके दोनों कर्ण मानो दो हिंडोले थे। उसके होंठ एक साथ पके बिम्बफल तुल्य थे। दांत हीरक कणिका की शोभा को भी पराभव करने योग्य थे। उसकी ग्रीवा उदर की भांति तीन रेखाओं युक्त थी। उसके दोनों बाहु मृणालनाल की तरह सीधे कमल-से कोमल थे। उसके दोनों स्तन कामदेव के कल्याण-कलश से थे। स्तनों ने समस्त स्फीतता को हरण कर लिया था अतः उसका उदर कोमल और कृश था। उसका नाभि-मण्डल भ्रमर के आवर्त्त-सा था। उसके लोम-समूह नाभि रूप सरोवर के तट पर अंकुरित दूर्वा-तुल्य थे। उसके वृहदाकार नितम्ब युगल मानो कामदेव के शय्या रूप थे। उसकी दोनों जांघें हिण्डोले के स्वर्णदण्ड-सी सुन्दर थीं। उसके पैर हरिणी के पैरों को भी तिरस्कृत करते थे। उसकी पदांगुलियां करतल-सा कमल का तिरस्कार कर रही थी। ऐसा लगता था मानो वह हाथ-पांव के अंगुलियों रूपी पत्र से शोभित लता या प्रकाशित नख रूपी रत्न से रत्नाचल की धार या विस्तृत स्वच्छ कोमल और सुन्दर वस्त्र से मृदु-पवन-सी तरंगित सरिता हो। स्वच्छ कान्ति से झलमल करते सुन्दर अवयव में वह अपने स्वर्ण और रत्नमय अलंकारों को सुशोभित कर रही थी। छाया-सी अनुगामिनी छत्र-धारिणी उसकी सेवा कर रही थी। दो हंसों से शोभित कमलिनी की तरह आन्दोलित दो चँवरों से वह सुशोभित थी। लक्ष्मी जिस प्रकार अनेक अप्सराओं द्वारा, गंगा अनेक नदियों द्वारा शोभित होती है उसी प्रकार वह सुन्दरी कन्या समवयस्क हजार-हजार सखियों द्वारा शोभित थी। (श्लोक ५१६-५३४)

नमि राजा ने भी महा मूल्यवान रत्न उन्हें उपहार में दिए। कारण, प्रभु जब गृह आते हैं तब महान् लोग उन्हें सर्व प्रकार का उपहार देते हैं। उनके लिए अदेय कुछ नहीं रहता। तदुपरान्त भरतपति ने उन्हें विदा दी। वे घर लौटकर अपने-अपने पुत्रों को राज्य देकर वैराग्यवान बने भगवान् ऋषभदेव के चरणों में उपस्थित हुए। वहां उन्होंने व्रत ग्रहण किया। (श्लोक ५३५-५३६)

महातेजस्वी भरत चक्रवर्ती वहां से चक्ररत्न के पीछे-पीछे गंगा तट पर आए। गंगा तट से बहुत दूर भी नहीं, समीप भी नहीं हो ऐसे स्थान पर उन्होंने छावनी डाली। महाराज की आज्ञा से सुषेण ने सिन्धु नदी की तरह ही गंगा अतिक्रम कर उसका उत्तरी

निष्कुट प्रदेश जय कर लिया। फिर भरत चक्रवर्ती ने अष्टम तप कर गंगा की आराधना की। (श्लोक ५३७-५४०)

समर्थ पुरुषों की प्रचेष्टा उसी समय सिद्धिदानकारी होती है। अतः गंगादेवी ने प्रसन्न होकर दो रत्नमय सिंहासन और एक हजार आठ रत्नमय कुम्भ भरत को प्रदान किए। रूप लावण्य में कामदेव को भी किंकर के समान बनाने वाले राजा भरत को देखकर गंगा देवी का मन विचलित हो गया। उसने समस्त शरीर में मुखरूपी चन्द्रिका का अनुसरणकारी मनोहर तारका-सी मुक्ता के अलङ्कार और केले के भीतर की त्वचा-सा वस्त्र धारण कर रखा था। देख कर लगता था जैसे उसका जलप्रवाह ही वस्त्र रूप में परिणत हो गया है। रोमांच रूपी कण्टकों से उसके उरोजों की कंचुकी खुलने लगी। मानो स्तनरूपी [illegible] बार-बार भरत पर निक्षेप करने लगी। उसी अवस्था को प्राप्त गङ्गा लीला-विलास के लिए प्रेम भरे गद्‌गद् वाक्यों से राजा भरत को विनती कर अपने शयन कक्ष में ले गई। वहां राजा भरत ने विविध भोग-उपभोग करते हुए एक हजार वर्ष एक रात्रि की भांति व्यतीत किए। फिर किसी भांति गङ्गा को बोध देकर उसकी आज्ञा से वहां से निकले और अपनी प्रबल सैन्य लिए खण्ड प्रपाता गुहा की ओर गमन किया। (श्लोक ५४०-५४८)

केशरी सिंह जैसे एक वन से दूसरे वन में जाता है उसी प्रकार अखण्ड पराक्रमी राजा भरतने खण्ड प्रपाता गुफा की ओर गमन किया गुहा से कुछ दूरी पर उस बलशाली राजा ने छावनी डाली। वहां उस गुहा के अधिष्ठायक नाट्यमाल देव को मन में धारण कर अष्टम तप किया। उससे उस देवता का आसन कम्पित हुआ। अवधि-ज्ञान से राजा भरत का आगमन अवगत कर जैसे ऋणी ऋणदाता के पास जाता है उसी प्रकार उपहार द्रव्य लेकर वह भरत राजा के निकट गया। महाभक्ति सम्पन्न उस देव ने छह खण्ड भूमि के अलङ्कार तुल्य महाराज भरत को अलङ्कार उपहार में दिए और उनकी सेवा करना स्वीकार किया। नाटक करने वाले नट की तरह नाट्यमाल देव को विवेकी चक्रवर्ती ने प्रसन्न होकर विदा दी और पारना कर उस देवता के लिए अष्टाह्निका महोत्सव किया।

(श्लोक ५४९-५५६)

फिर चक्री ने सुषेण को 'खण्ड प्रपाता गुहा के द्वार खोलो' आदेश दिया। सेनापति ने मन्त्र की तरह नाटयमाल देव का मन ही मन ध्यान किया। तदुपरान्त अष्टम तप कर पौषधशाला में जाकर पौषधव्रत ग्रहण किया। अष्टम तप के अनन्तर उन्होंने पौषधशाला से निर्गत होकर प्रतिष्ठा कार्य में श्रेष्ठ आचार्य जैसे बलि-विधान करते है उसी प्रकार बलि-विधान किया। फिर प्रायश्चित और कौतुकमंगल कर बहुमूल्यवान् स्वल्प वस्त्र धारण कर हाथ में धूपदान लिए उस गुहा के निकट आए। गुहा को देखते ही पहले तो उसे नमस्कार किया फिर उसका द्वार खोलने के लिए सात-आठ कदम पीछे जाकर मानो दरवाजे की कुंजी हो ऐसे सुवर्ण दण्ड को हाथ में लेकर दरवाजे पर प्रहार किया। सूर्य किरण से जैसे कमल विकसित होता है वैसे ही दण्डरत्न के आघात से दोनों दरवाजे खुल गए। (श्लोक ५५७-५६१)

गुहाद्वार खुलने की सूचना सेनापति ने चक्रवर्ती को दी। तब भरत चक्रवर्ती हस्तीपृष्ठ पर आरूढ़ होकर दाहिने स्कन्ध पर मणि-रत्न रख गुहा में प्रविष्ट हुए। राजा भरत अन्धकार विनष्ट करने के लिए तमिस्रा गुहा की भांति इस गुहा में भी कांकिणी रत्न से मण्डल रचना कर अग्रसर हो रहे थे और सैन्य-दल उनके पीछे-पीछे बढ़ रहा था। जिस प्रकार दो सखियां तीसरी सखी से मिलती हैं उसी प्रकार गुहा की पश्चिमी दीवार से बहिर्गत होकर पूर्व दिशा की दीवार के नीचे से प्रवाहित उन्मग्ना और निमग्ना नामक दो नदियां गङ्गा में मिलती थीं। वहां उपस्थित होकर तमिस्रा गुहा की तरह ही इन दोनों नदियों पर सेतु निर्माण कर चक्रवर्ती भरत ने सैन्य सहित उन नदियों को पार किया। सैन्य के स्थूल प्रहार से या वैताढ्य पर्वत की प्रेरणा से मानो गुहा के दक्षिण द्वार उसी मुहूर्त में स्वतः ही खुल गए। केशरी सिंह की भांति उन नर केशरी भरत ने गुहा से निकल कर गङ्गा के पश्चिम तट पर छावनी डाली। (श्लोक ५६२-५६७)

वहां नव निधि के उद्देश्य से पृथ्वीपति ने पूर्व कृत तप के द्वारा प्राप्त लब्धि से प्राप्तव्य लाभ के मार्ग को निर्देश करने वाला अष्टम तप किया। अष्टम तप के अवसान में नवनिधि प्रकट हुई और महाराज के समीप पहुंची। एक-एक लब्धि एक-एक हजार यक्षों

द्वारा अधिष्ठित थी। उनके नाम थे—नैसर्प, पण्डुक, पींगल, सर्व-रत्नक, महापद्म, काल, महाकाल, मानव और शंख। ये नवनिधियां चक्र पर रक्षित थीं। इनकी उच्चता आठ योजन, विस्तार नौ योजन और दैर्घ दस योजन था। वैदूर्य मणि के दरवाजों से उनके मुख ढके हुए थे। उनकी आकृति समान थी एवं वे स्वर्ण व रौप्य से भरे हुए थे। उनकी देह पर चन्द्र-सूर्य अंकित थे। निधि के नामानुसार ही उनके नाम थे। पल्योपम आयु सम्पन्न नागकुमार जाति के देवता अधिष्ठायक थे। (श्लोक ५६८-५७६)

इनमें नैसर्प निधि के द्वारा छावनी, गढ़, खान, द्रोणमुख, मण्डप, पत्तन आदि निर्मित होते हैं। पाण्डुक नामक निधि के द्वारा मान-उन्मान और प्रमाण आदि का परिमाप और धान्य बीज आदि उत्पन्न होते हैं। पींगल नामक निधि के द्वारा नर-नारी, हस्ती-अश्व आदि के समस्त प्रकार की लक्षण विधि ज्ञात होती है। सर्वरत्नक निधि के द्वारा चक्ररत्न आदि सात एकेन्द्रिय और सात पंचेन्द्रिय रत्न उत्पन्न होते हैं। महापद्म नामक निधि के द्वारा सर्व प्रकार के शुद्ध और रंगीन वस्त्र उत्पन्न होते हैं। काल नामक निधि के द्वारा भूत, भविष्य, वर्तमान त्रिकाल की कृषि आदि कर्म और अन्य शिल्पादि का ज्ञान होता है। महाकाल नामक निधि के द्वारा प्रवाल, चांदी, सोना, मोती, लौहादिक की खानें उत्पन्न होती हैं। माणव नामक निधि से योद्धा, आयुध, कवच आदि सम्पत्ति, युद्ध-नीति एवं दण्ड-नीति उत्पन्न होती है। नवम शंख नामक महानिधि द्वारा चार प्रकार के काव्यों की सिद्धि, नाटच एवं नाटक की विधि एवं समस्त प्रकार के वाद्य उत्पन्न होते हैं। ये सभी गुण सम्पन्न नवनिधियां आकर बोलने लगीं—'हम गङ्गा के मुहाने पर मगध नामक तीर्थ में अवस्थान करती हैं। आपके भाग्य से हम आपके निकट आई हैं। आप अपनी इच्छानुसार हमारा व्यवहार करें और कराएं। समुद्र क्षय हो सकता है; किन्तु हमारी शक्ति कभी क्षय नहीं होती।' ऐसा कहकर सभी निधियां आज्ञापालक की तरह खड़ी हो गयीं।
(श्लोक ५७४-५८४)

तब निर्विकारी राजा ने पारणा कर नवनिधियों के लिए अष्टाह्निका उत्सव किया। सुषेण ने भी गङ्गा के दक्षिण प्रान्त को छोटे ग्राम की तरह खेल ही खेल में जय कर लिया। पूर्वापर समुद्र

को उसी प्रकार आक्रान्त करने वाले महाराज भरत जैसे द्वितीय वैताढ्य पर्वत हों ऐसे वहां बहुत दिनों तक रहे। (श्लोक ५८५-५८७)

एक दिन समस्त भरत क्षेत्र के विजेता भरतपति के चक्र ने अयोध्या की ओर चलना प्रारम्भ कर दिया। महाराज भरत भी स्नान, वस्त्र-परिधान, बलिकर्म, प्रायश्चित और कौतुक मंगल कर इन्द्र की भांति गजेन्द्र पर आरूढ़ हो गए। मानो कल्पवृक्ष हों ऐसी नव-निधि से पूर्ण भण्डारयुक्त, मानो सुनन्दा के चौदह स्वप्नों के पृथक्-पृथक् फल हों ऐसे चौदह रत्नों से परिवृत, राजन्यों की कुल-लक्ष्मी से असूर्यम्पश्या बत्तीस हजार विवाहित पत्नीयुक्त और बत्तीस हजार देश की बत्तीस हजार अप्सरा तुल्य विवाहित रमणियों से शोभित, सेवकों-से बत्तीस हजार आश्रित राजाओं द्वारा सेवित, विन्ध्य पर्वत तुल्य चौरासी लक्ष हस्तियों से सुशोभित, मानो समस्त देशों से चुनकर लाए गए हों ऐसे चौरासी लक्ष रथ, चौरासी लक्ष [illegible] और पृथ्वी आच्छादनकारी पैदल सैन्य से परिवृत चक्रवर्ती ने अयोध्या छोड़ने के साठ हजार वर्षों पश्चात् चक्रपथ का अनुसरण करते हुए पुनः अयोध्या की ओर प्रयाण किया। पथ अतिक्रान्तकारी चक्रवर्ती की सैन्य द्वारा उत्क्षिप्त धूल से मलिन पक्षीगण ऐसे लगते थे मानो वे मिट्टी द्वारा निर्मित हों। पृथ्वी के मध्य भाग में निवास करने वाले भुवनपति और व्यन्तर देव इस भय से भीत हो गए कि चक्रवर्ती के सैन्य भार से पृथ्वी कहीं विदीर्ण न हो जाए। प्रत्येक गोकुल में आयतनयना गोपांगनाओं द्वारा प्रदत्त मक्खन रूपी अर्घ्य को अमूल्य समझकर चक्री सम्मान सहित स्वीकार कर रहे थे। अन्य हस्तियों के कुम्भ स्थल से प्राप्त मुक्तादि उपहार ले लेकर किरातगण आ रहे थे। महाराज वे सब ग्रहण कर रहे थे। पर्वत पर के पर्वतराजों द्वारा लाए हुए और स्वर्णखान का स्वर्ण सार भी वे ग्रहण कर रहे थे। ग्राम-ग्राम में उत्कण्ठित बन्धुओं की तरह वृद्धगण उपहार लिए आ रहे थे, चक्री प्रसन्नभाव से वे सब ग्रहण कर उन्हें अनुगृहीत कर रहे थे। वे खेत में प्रविष्टकारी गायों की तरह ग्राम में सर्वत्र विस्तृत सैनिकों को निज आज्ञा रूपी उसदण्ड से निवारित कर रहे थे। बन्दरों की तरह वृक्ष पर चढ़े हुए ग्राम्य बालकों को अपनी ओर सप्रसन्न नयनों से देखते हुए देखकर पिता की तरह उनका वात्सल्य दृष्टि से अवलोकन कर रहे थे। वे धन-धान्यपूर्ण निरुपद्रव ग्राम्य सम्पत्ति को अपनी नीति रूपी लता के फल रूप देख

रहे थे। वे नदियों को तर्कित, सरोवर को शुष्क एवं दुर्ग खाइयों को पाताल छिद्र की तरह शून्य करते हुए अग्रसर हो रहे थे। इस प्रकार अविनयी शत्रु को दण्ड देने वाले महाराज मलयानिल की तरह प्रजा-पुंज को आनन्द देते हुए धीरे-धीरे अयोध्या के निकट पहुंचे। वहां उन्होंने छावनी डालने का आदेश दिया। वह छावनी जैसे अयोध्या के अतिथि रूप में आगत सहोदर-सी लग रही थी। तदुपरान्त राज-शिरोमणि भरत ने मन ही मन अयोध्या का ध्यान कर निरुपद्रव की प्रतीति दिलाने वाला अष्टम तप किया। तप के पश्चात् पौषधशाला से निकलकर चक्रवर्ती ने अन्य राजाओं के साथ दिव्य भोजन से पारणा किया। (श्लोक ५८८-६१०)

उधर अयोध्या में स्थान-स्थान पर दिगन्तों से आगत लक्ष्मी के हिंडोलों से ऊंचे-ऊंचे तोरण निर्मित होने लगे। तीर्थंकर के जन्म समय देवता जिस प्रकार सुगन्धित जल बरसाते हैं उसी प्रकार नगरवासी प्रत्येक पथ पर केशर जल की वर्षा करने लगे। मानो निधि स्वयं अनेक रूप धारण कर पूर्व ही आ गई हो ऐसे मंच स्वर्ण स्तम्भों पर निर्मित होने लगे। उत्तर कुरु के पांच सरोवरों के दोनों ओर अवस्थित दस स्वर्ण पर्वत जैसे शोभा पाते हैं उसी प्रकार पथ के दोनों ओर आमने-सामने निर्मित रत्नमय तोरण इन्द्रधनुष की शोभा को भी पराजित कर रहे थे। गन्धर्व सेना जिस प्रकार विमान में उपवेशित होती है उसी प्रकार गीत गाने वाली रमणियां, मृदंग और वीणा बजाने वाले गन्धर्वों के साथ उस मंच पर बैठने लगीं। उस मंच पर चन्द्रातप से लटकती हुई मुक्तामालाएं लक्ष्मी के निवास गृह-सी कान्ति से दसों दिशाओं को प्रकाशित करने लगीं। जैसे प्रमोद प्राप्त नगर देवी का हास्य हो इस प्रकार चमर से, स्वर्गमण्डनकारी चित्र से, कौतुकागत नक्षत्र रूप दर्पण से, खेचरों के हस्तवस्त्रों की भांति सुन्दर-सुन्दर वस्त्रों से और लक्ष्मी देवी की मेखला के समान विचित्र मणिमालाओं से और उच्च निर्मित स्तम्भों से नगरवासी दूकानों की शोभा वर्द्धित करने लगे। लोगों द्वारा विलम्बित घुंघरूयुक्त पताकाएं सारस पक्षी की मधुर ध्वनि से गुंजरित शरद् ऋतु के आगमन की सूचना देने लगीं। व्यवसायीगण गृह और दुकानों में यज्ञ कर्दम लेपन कर गृहांगन में मुक्ता के स्वस्तिक रचने लगे। जगह-जगह रक्षित अगुरु चन्दन के चूर्ण से भरे धूपदानों से निर्गत जो धुआं ऊपर की ओर जा रहा था देखकर

लगता था मानो वे स्वर्ग को भी चूर्णित करना चाह रहे हैं।
(श्लोक ६११-६२३)

ऐसी सुसज्जित नगरी में प्रवेश करने की इच्छा से पृथ्वी के इन्द्र भरत चक्रवर्ती शुभ मुहूर्त में मेघ के समान गर्जन करने वाले हस्ती पर आरूढ़ हुए। आकाश जिस प्रकार चन्द्रमण्डल से शोभा पाता है उसी प्रकार कर्पूर चूर्ण-से श्वेत छत्र से वे शोभित होने लगे। दोनों चँवर इस प्रकार डुलाए जा रहे थे मानो गंगा और सिन्धु भक्तिवश अपने शरीर को छोटाकर चँवर रूप में उनकी सेवा कर रही हों। स्फटिक पर्वतों की शिला का निष्कर्ष लेकर बुने हुए हों ऐसे उज्ज्वल, अति सूक्ष्म कोमल और घन-सन्नद्ध वस्त्रों से वे सुशोभित होने लगे। मानो रत्नप्रभा पृथ्वी ने प्रेमावेश में निजसार अर्पण कर दिया हो ऐसे विचित्र रत्नालंकारों से उनका सारा शरीर अलंकृत हो रहा था। फणों पर मणिधारक नागकुमार देवताओं द्वारा परिवृत नागराज की तरह माणिक्यमय मुकुटधारी राजाओं द्वारा वे सेवित हो रहे थे। चारण देवता जैसे इन्द्र का गुणगान करते हैं उसी प्रकार चारण और भाट जय-जय शब्दों से सबको आनन्दित करते हुए भरत के अद्भुत गुणों का कीर्तन कर रहे थे। ऐसा लगता था मानो मांगलिक वाद्यों के शब्दों से प्रतिध्वनियों के बहाने आकाश भी उनका मंगल-गान कर रहा हो। तेज में इन्द्र तुल्य और पराक्रम के आगार महाराज भरत ने रवाना होने को सी इच्छा से हस्ती को आगे बढ़ाया। अनेक दिनों पश्चात् आए अपने राजा के लिए ग्राम और नगरों से इतने लोग आए थे मानो वे स्वर्ग से उतर आए हों या धरती फटकर निकले हों। महाराज की समस्त सैन्य और उन्हें देखने के लिए समवेत जनता को देखकर लगा मानो पूरा मृत्युलोक ही एक जगह एकत्र हो गया हो। उस समय चारों ओर केवल नरमुण्ड ही दिखाई दे रहे थे। तिल धरने की भी वहाँ जगह नहीं थी। कई हर्ष से उत्साहित होकर भाट की तरह महाराज भरत की स्तुति कर रहे थे, कई वस्त्रांचल से हवा कर रहे थे, मानो वस्त्रांचल ही उनका चँवर हो। कई युक्तकर ललाट पर रखकर सूर्य को जिस प्रकार नमस्कार किया जाता है उसी प्रकार नमस्कार कर रहे थे। कई माली की भाँति उन्हें पुष्प-फल अर्पण कर रहे थे, कई कुल देवता समझकर उन्हें वंदन कर रहे थे तो कई गोत्र-वृद्ध की तरह उन्हें आशीर्वाद दे रहे थे। (श्लोक ६२४-३८)

प्रजावत्सल भरत ने चार द्वार विशिष्ट निज नगर के पूर्वद्वार से इस प्रकार प्रवेश किया जिस प्रकार भगवान् ऋषभदेव समवसरण में प्रवेश करते हैं। [illegible] जैसे एक साथ महा-घोष वाद्य बजते हैं उसी प्रकार नगर में निर्मित प्रत्येक मञ्च पर संगीत प्रारम्भ होने लगा। महाराज जैसे-जैसे अग्रसर हो रहे थे वैसे-वैसे राजपथ के दोनों पार्श्व स्थित अट्टालिकाओं से नर-नारीगण आनन्द से उपहार देने की तरह खीलों का वर्षण कर उनका स्वागत करने लगे। पुरजनों ने चारों ओर से पुष्प वर्षण कर हस्ती को चारों ओर से आच्छादित कर दिया। उससे हस्ती पुष्पमय रथ-सा प्रतीत होने लगा। उत्कण्ठित लोगों के अकुण्ठ उत्साह सहित चक्रवर्ती धीरे-धीरे राजपथ पर आगे बढ़ने लगे। हस्ती का भय न कर जन-समूह उनके निकट आने लगा और उन्हें फलादि उपहार देने लगा। कारण, आनन्द ही बलवान होता है। भरत हाथी को अंकुश द्वारा विद्ध कर प्रत्येक मंच के निकट खड़े रखते थे। उस समय दोनों ओर अवस्थित मंच की अग्रवर्त्तिनी रूपसियां एक साथ कर्पूर द्वारा चक्रवर्ती की आरती उतारती थीं। इससे महाराज दोनों ओर चन्द्र-सूर्य सह मेरुपर्वत से लग रहे थे। अक्षत की तरह मुक्ता भरे थाल ऊँचे कर चक्रवर्ती का स्वागत करने के लिए दूकानों के अग्रभाग में में खड़े वणिकगण दृष्टि के द्वारा उन्हें आलिंगन कर रहे थे। राज-पथ के दोनों ओर की अट्टालिकाओं के द्वारदेश पर खड़ी कुलीन सुन्दरियों के मांगलिक महाराज अपनी बहिनों द्वारा कृत मांगलिकों की भांति स्वीकार कर रहे थे। उन्हें देखने की इच्छा से भीड़ में पिसे लोगों को देखकर महाराज अपना अभयदानकारी हस्त उत्तोलित कर छड़ीदारों द्वारा उनकी रक्षा करवाते थे। इस प्रकार अनुक्रम से चलते हुए महाराज भरत ने पिता के सात मंजिलों वाले महल में प्रवेश किया। (श्लोक ६३९-६५७)

उस राज-प्रासाद के सम्मुख प्रांगण के दोनों ओर दो हाथी बँधे थे। वे राजलक्ष्मी के क्रीड़ा पर्वत से लगते थे। सुवर्ण कलश-सा उसका मुख्य द्वार इस प्रकार शोभा पा रहा था जैसे चक्रवाकों की पंक्तियों से नदी शोभा पाती है। आम्रपल्लवों से सुशोभित वह प्रासाद इस प्रकार सुशोभित था जैसे इन्द्र नीलमणि के कण्ठहार से ग्रीवा सुशोभित होती है। उस प्रासाद में कहीं मुक्ता के, कहीं कर्पूर चूर्ण के, कहीं चन्द्रकान्त मणि के मङ्गल स्वस्तिक रचित थे।

कहीं चीनांशुक की, कहीं रेशम की, कहीं देवदूष्य वस्त्र की पताका श्रेणियों से वह सुशोभित था। उसके आंगन में कहीं कर्पूर जल, कहीं पुष्प रस तो कहीं हस्तियों का मदजल छिड़का हुआ था। उसके शिखर पर रक्षित कलश ऐसा लगता मानो कलशों के बहाने सूर्य ही जैसे वहां आकर निवास कर रहा है। इस प्रकार सुसज्जित उस राजमहल के आंगन में निर्मित अग्रवेदी पर पैर रख छड़ीदारों के हाथों का सहारा लिए महाराज भरत हस्ती से नीचे उतरे। फिर जिस प्रकार प्रथम आचार्य की पूजा की जाती है उसी प्रकार अपने अंगरक्षक सोलह हजार देवताओं की पूजा कर उन्हें विदा किया। इस प्रकार बत्तीस हजार राजा, सेनापति, पुरोहित, गृहपति और बढ़ईकियों को विदा किया। हस्तियों को जिस प्रकार आलान स्तम्भ से बांधने की आज्ञा दी जाती है उसी प्रकार तीन सौ त्रेसठ रसोइयों को अपने-अपने घर लौटने की आज्ञा दी। उत्सव के अन्त में अतिथियों की तरह श्रेष्ठियों को, नौ प्रकार के कारीगरों को, नव शायक को, दुर्गपालक और सार्थवाहों को विदा दी। फिर इन्द्राणी के साथ जैसे इन्द्र गमन करता है उसी प्रकार स्त्री-रत्न सुभद्रा, बत्तीस हजार राजकुल उत्पन्न रानियां और बत्तीस हजार देश के नेताओं की कन्याओं के साथ बत्तीस हजार पत्रयुक्त, बत्तीस हजार अभिनय सह मणिमय शिलाओं की पंक्ति पर दृष्टि रख यक्षपति कुबेर जैसे कैलाश जाता है उसी प्रकार उत्सव सह महाराज भरत ने राजमहल में प्रवेश किया। वहां कुछ क्षण के लिए पूर्वाभिमुखी राजसिंहासन पर बैठे, सत्कथा सुनी फिर स्नानागार में गए। हस्ती जैसे सरोवर में स्नान करता है उसी प्रकार स्नान कर परिवार सहित अनेकों रसयुक्त आहार ग्रहण किए। फिर योगी जैसे योग में समय व्यतीत करता है उसी प्रकार उन्होंने नव रस के नाटक देखते हुए, मनोहर संगीत सुनते हुए कुछ काल बिताया। (श्लोक ६५८-६६८)

एक दिन देवताओं और मनुष्यों ने आकर निवेदन किया—हे महाराज, आपने विद्याधरों सहित छह खण्ड पृथ्वी पर विजय प्राप्त की है। अतः आज्ञा दीजिए इन्द्र के समान पराक्रमी आपका हम राज्याभिषेक करें। महाराज भरत के सम्मति देने पर देवताओं ने नगर के बाहर ईशान कोण में सुधर्मासभा के एक खण्ड जैसा एक मण्डप निर्मित किया। वे ह्रद नदी समुद्र और अन्य तीर्थों से जल, औषधि और मिट्टी लाए। (श्लोक ६६९-६७२)

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महा

महाराज ने पौषधशाला में जाकर अष्टम तप किया। कारण तपस्या द्वारा प्राप्त राज्य तपस्या द्वारा ही सुखमय होता है। अष्टम तप पूर्ण होने पर वे अन्तःपुर और परिवार सहित हस्तीपृष्ठ पर आरूढ होकर उस दिव्य मण्डप में गए। फिर अन्तःपुर और हजार नाटक सहित वे उत्तम प्रकार के निर्मित उस अभिषेक मण्डप में प्रविष्ट हुए। वहां वे सिंहयुक्त स्नानपीठ पर बैठे। देखकर लगा जैसे हस्ती ने पर्वत शिखर पर आरोहण किया हो। इन्द्र से प्रीति के कारण ही मानो वे पूर्व दिशा की ओर मुख कर बैठे थे। थोड़े से हों इस प्रकार बत्तीस हजार राजा उत्तर दिशा की ओर सीढ़ी से स्नानपीठ पर आरोहण कर चक्रवर्ती से दूर जमीन पर भद्रासन पर बैठ गए। वे विनयी राजा इस प्रकार युक्त कर बैठे जैसे देवतागण इन्द्र के सम्मुख बैठते हैं। सेनापति, सह-सेनापति, वर्द्धकि, पुरोहित, श्रेष्ठी आदि दाहिनी ओर की सीढ़ियों से स्नानपीठ पर चढ़े और स्वयोग्य आसनों पर इस प्रकार करबद्ध होकर बैठ गए मानो वे चक्री से कुछ निवेदन करेंगे। (श्लोक ६७१-६८३)

फिर आदिदेव का अभिषेक करने के लिए जिस प्रकार इन्द्र आए थे उसी प्रकार नरदेव भरत का अभिषेक करने के लिए इन्द्र के अभियोगिक देवगण आए। जल से पूर्ण होने के कारण मेघ से, मुख भाग में कमल रहने के कारण चक्रवाक पक्षी-से, भीतर से बाहर जल आने के समय शब्द होने के कारण वाद्य ध्वनि को अनुसरण करने वाली शब्दावली-से, स्वाभाविक रत्नकलशों से अभियोगिक देवगण महाराज भरत का अभिषेक करने लगे। तदुपरान्त स्वनेत्र हों ऐसे जलपूर्ण ३२ हजार राजाओं ने शुभ मुहूर्त्त में उनका अभिषेक किया और अपने ललाट पर कमल-कलियों से हाथों को युक्त कर 'आपकी जय हो, आपकी जय हो' बोलकर चक्री को साधुवाद देने लगे। फिर श्रेष्ठी आदियों ने जल से उनका अभिषेक कर उसी जल के समान उज्ज्वल वाणी से उनकी स्तुति करने लगे। तत्पश्चात् वे पवित्र लोमयुक्त कोमल गन्ध कषायी वस्त्रों से चक्री की देह को माणिक्य की भांति पोंछने लगे। गेरू जिस प्रकार स्वर्ण को उज्ज्वल करती है उसी प्रकार महाराज की देह को उज्ज्वल करने के लिए गोशीर्ष चन्दन का लेपन करने लगे। देवों ने इन्द्र द्वारा प्रदत्त ऋषभदेव के मुकुट को अभिषिक्त एवं राजाओं में अग्रणी चक्रवर्ती के मस्तक पर रखा। उनके दोनों कानों में रत्न-कुण्डल

मार्गदर्शक : आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
पहनाए। वे दोनों चन्द्रमा के निकटस्थ चित्रा और स्वाति नक्षत्र से लगने लगे। सूत्रमें बिना पिरोया हुआ हार रूपमें एक ही मुक्ता उत्पन्न हो गया हो ऐसी मुक्तामाला उनके गले में पहनायी। मानो समस्त अलंकारों के हार रूप राजा का युवराज हो ऐसा सुन्दर अर्द्धहार उनके वक्ष पर सुशोभित किया। उज्ज्वल और कान्ति-शोभित दो देवदूष्य वस्त्र राजा को पहनाए। उधर देखकर लगता मानो वह उज्ज्वल अभ्रक सम्पुट हो। एक सुन्दर पुष्पहार उनके कण्ठ में लटकाया जो लक्ष्मी के वक्षःस्थल रूपी मन्दिर को अर्गला-सा लगता था। इस प्रकार कल्पवृक्ष-सा अमूल्य वस्त्र और माणिक्य के अलंकारों को धारण कर महाराज ने स्वर्गखण्ड-से उस मण्डप को मण्डित किया। तदुपरान्त पुरुषाग्रणी एवं महान् बुद्धिमान् महाराज ने छड़ीदारों द्वारा राज्य पुरुषों को बुलवाकर आदेश दिया—'हे अधिकारी पुरुष, आप लोग हस्तीपृष्ठ पर आरोहण कर समस्त नगर में घोषणा करें कि बारह वर्षों के लिए विनीता नगरी को भूमिकर, प्रवेश शुल्क, दण्ड, कुदण्ड और भय से मुक्त कर आनन्दमय किया जाता है।' अधिकारीगण ने उसी मुहूर्त्त में वाद्यध्वनि कर समस्त राजाज्ञा प्रचारित कर दी। कहा भी गया है—कार्य सफल करने के लिए चक्रवर्ती का आदेश पन्द्रह संसयक रत्न के समान है।

(श्लोक ६८३-७०१)

तत्पश्चात् महाराज सिंहासन से उठे। साथ ही साथ, मानो उनके प्रतिबिम्ब ही हों, अन्य भी उठकर खड़े हो गए। जैसे पर्वत शिखर से उतरते हों उसी प्रकार भरतेश्वर स्नानपीठ से उसी पथ से उतरे जिस पथ से चढ़े थे। तदुपरान्त मानो उनका असह्य प्रताप ही हो ऐसे हाथी पर चढ़कर चक्री अपने प्रासाद को लौट गए। वहां जाकर उत्तम जल से स्नान कर अष्टम तप का पारना किया। इसी प्रकार बारह वर्ष अभिषेकोत्सव में व्यतीत हो गए। तब चक्रवर्ती ने स्नान, पूजा, प्रायश्चित और कौतुक-मंगल कर बाहरी सभा स्थान में आकर सोलह हजार आत्मरक्षक देवताओं का सत्कार कर विदा किया। फिर विमानवासी इन्द्र की तरह महाराज स्व-प्रासाद में अवस्थान करते हुए विषयसुख भोग करने लगे।

(श्लोक ७०२-७०८)

महाराज की आयुधशाला में चक्र, खड्ग, छत्र और दण्ड-से चार एकेन्द्रिय रत्न थे। रोहिणाचल के माणिक्य की भांति उनके

लक्ष्मीगृह में काकिणी रत्न, चर्मरत्न, मणिरत्न और नव निधियां थीं। अपने नगर में उत्पन्न सेनापति, गृहपति, पुरोहित और वर्द्धकि ये चार नर-रत्न थे। वैताढ्य पर्वत के मूल देश में उत्पन्न गजरत्न और अश्वरत्न थे। विद्याधर श्रेणी में उत्पन्न एक स्त्री-रत्न था। नेत्रों को आनन्दप्रदानकारी आकृति में वे चन्द्रमा-से सुशोभित होते और दुःसह प्रताप से सूर्य के समान प्रतिभासित होते। पुरुष रूप में उत्पन्न समुद्र हों वैसे उनका अन्तःस्थल दुरवगम्य था। कुबेर की भांति उन्हें मनुष्यों का प्रभुत्व प्राप्त हुआ था। जम्बूद्वीप जिस प्रकार गङ्गा, सिन्धु आदि नदियों से सुशोभित होता है उसी प्रकार वे पूर्वोक्त चौदह रत्नों से सुशोभित होते थे। विहार करते समय जिस प्रकार ऋषभदेव के पैरों तले नौ स्वर्ण कमल रहते थे उसी प्रकार उनके पैरों तले नौ निधियां रहती थीं। बहुमूल्य क्रीत आत्मरक्षकों की भांति सोलह हजार पारिपार्श्विक देवताओं द्वारा वे परिवृत रहते थे। बत्तीस हजार राजकन्याओं की तरह बत्तीस हजार राजा परिपूर्ण भक्ति से उनकी उपासना करते। बत्तीस हजार नाटकों की तरह बत्तीस हजार देशों की बत्तीस हजार कन्याओं के साथ वे रमण करते थे। संसार में श्रेष्ठ राजा तीन सौ बेसठ रसोइयों से उसी प्रकार शोभित थे जैसे तीन सौ बेसठ दिन से वत्सर शोभित होता है। अठारह लिपि प्रवर्त्तक भगवान् ऋषभ की तरह अठारह श्रेणियों-उपश्रेणियों द्वारा पृथ्वी पर उन्होंने लोक-व्यवहार प्रचलित किया था। वे चौरासी लक्ष हस्ती, चौरासी लक्ष घोड़े, चौरासी लक्ष रथ और छियानवे कोटि ग्राम और इतनी ही संख्या के पदातिकों से शोभित होते थे। वे बत्तीस हजार देश और बत्तीस हजार वृहद् नगरों के अधीश्वर थे। निन्यानवे हजार द्रोणमुख और अड़तालीस हजार दुर्ग के वे अधिपति थे। वे आडम्बरयुक्त श्रीसम्पन्न चौबीस हजार खर्वट, चौबीस हजार मण्डप और बीस हजार आकरों के स्वामी थे। सोलह हजार खेटक पर वे शासन करते थे। वे प्रभु चौदह हजार संवाह और छप्पन हजार द्वीपों के एवं उनचालीस कुराज्यों के नायक थे। इस प्रकार वे समस्त भरत क्षेत्र के शासन-कर्त्ता अधीश्वर थे। (श्लोक ७०९-७२८)

अयोध्या नगरी में निवास करते समय अखण्ड अधिकारी भरत महाराज अभिषेक उत्सव समाप्त होने पर एक दिन जब निज आत्मियों की याद करने लगे तब अधिकारी पुरुषों ने साठ हजार

वर्षों से जिन्होंने महाराज को नहीं देखा ऐसे उनके दर्शनों को उत्सुक समस्त आत्मियों को उनके सम्मुख उपस्थित किया। उनमें सबसे प्रथम बाहुबली की सहजात, गुणों में सुन्दर सुन्दरी को उपस्थित किया गया। वह सुन्दरी ग्रीष्माक्रान्त नदी की तरह दुर्बल लग रही थी। हिम सम्पर्क से जैसे कमलिनी मलिन हो जाती है उसी प्रकार वह मलिन हो गई थी। हिम ऋतु के चन्द्रमा की कला की तरह उसका रूप लावण्य नष्ट हो गया था व शुष्कपत्र कदली की तरह उसके कपोल पीले और रूक्ष दिख रहे थे। (श्लोक ७२९-७३२)

सुन्दरी की अवस्था देखकर महाराज क्रोध से भरकर अपने अधिकारी पुरुषों से बोले—'क्या हमारे घर पर पर्याप्त खाद्य नहीं है? क्या लवण समुद्र का लवण शेष हो गया था या पुष्टिकर खाद्य प्रस्तुतकारक सूपकार नहीं है या वे स्वेच्छाचारी और कार्यों में शिथिल हो गए हैं? द्राक्षा एवं खजूर आदि शुष्क फल भी क्या हमारे यहां नहीं हैं? सुवर्ण पर्वतों पर क्या सोना नहीं है? उद्यान के वृक्ष क्या अब फल नहीं देते? नन्दन वन के वृक्षों में क्या अब फल नहीं लगते? घट से स्तन विशिष्ट गायें क्या अब दूध नहीं देतीं? कामधेनु के स्तनप्रवाह क्या शुष्क हो गए हैं अथवा समस्त वस्तुओं के रहते हुए भी रोगाक्रान्त होने के कारण सुन्दरी ने आहार परित्याग कर दिया? इसके शरीर में क्या सौन्दर्य नाशकारी रोग हुआ है? या उसे दूर करने में सक्षम वैद्यगण अब कहने भर को रह गए हैं? हमारे घर की औषधियां यदि शेष भी हो गईं तो क्या हिमाद्रि पर्वत भी औषधियों से रहित हो गया? हे अधिकारीगण, दरिद्र कन्या की तरह सुन्दरी को दुर्बल देखकर मेरे मन में अत्यन्त कष्ट हो रहा है। तुम लोगों ने शत्रु की तरह मुझे प्रतारित किया है।' (श्लोक ७३३-७४३)

भरतपति की ऐसी क्रोध भरी बातें सुनकर अधिकारीगण उन्हें प्रणाम कर बोले—'महाराज, स्वर्गपति की तरह आपके घर में सभी वस्तुएं वर्तमान हैं; किन्तु जिस दिन आप दिग्विजय के लिए निकले उसी दिन से सुन्दरी आयंबिल तपस्या कर रही हैं। केवल प्राण धारण के लिए सामान्य-सा आहार लेती है। आपने इन्हें दीक्षा लेने से रोक दिया था इसी से ये भाव दीक्षा लेकर समय व्यतीत कर रही हैं।' (श्लोक ७४४-७४६)

यह सुनकर कल्याणकारी महाराज भरत सुन्दरी से बोले—'कल्याणी, तुम क्या दीक्षा लेना चाहती हो ?' सुन्दरी ने प्रत्युत्तर दिया—'हां महाराज।' (श्लोक ७४७)

सुनते ही महाराज भरत बोले—'हाय, प्रमाद व सरलता के कारण मैं आज पर्यन्त इसके व्रत में विघ्नकारी बना रहा। यह कन्या तो अपने पिता की तरह है और उनका पुत्र होकर भी मैं सर्वदा विषय में आसक्त और राज्य में अतृप्त रहा। आयु जलतरंग-सी नाशवान है। फिर भी विषयासक्त व्यक्ति यह समझना नहीं चाहता। अन्धकार में चलने के समय जिस प्रकार क्षण-स्थायी विद्युत् के आलोक में पथ दिखाई पड़ता है उसी प्रकार नश्वर आयु में साधु व्यक्ति की तरह मोक्ष साधना करना ही उचित है। मांस, विष्ठा, मूत्र, रक्त, स्वेद और घृणापूर्ण इस देह का त्याग करना घर के नालों को सज्जित करना है। हे भगिनी, तुम धन्य हो जो इस शरीर में मोक्ष रूप फल प्रदानकारी व्रत ग्रहण करना चाहती हो। जो चतुर होते हैं वे लवण समुद्र से भी रत्न आहरण करते हैं।' प्रसन्नचित्त महाराज ने ऐसा कहकर सुन्दरी को दीक्षा ग्रहण करने का आदेश दिया। तदनुसार सुन्दरी यह सुनकर आनन्दित हुई मानो पुष्ट हो गई हो ऐसी उत्साहपूर्ण हो गयी। (श्लोक ७४८-७५४)

उसी समय जगत् रूपी मयूर के लिए मेघतुल्य भगवान् ऋषभ विहार करते हुए अष्टापद पर्वत पर आए। वहां उनका समवसरण लगा। रत्न सुवर्ण और रौप्य के द्वितीय पर्वत तुल्य उस पर्वत पर देवताओं ने समवसरण की रचना की। वहां बैठकर प्रभु उपदेश देने लगे। गिरिपालकगण ने उसी समय आकर भरतपति को सूचना दी। इस संवाद को सुनकर मेदिनीपति भरत को जितना आनन्द हुआ उतना आनन्द उन्हें छह खण्ड पृथ्वी को जय कर भी नहीं हुआ। प्रभु के आगमन का संवाद लाने वाले अनुचर को बारह कोटि स्वर्ण-मुद्राएं पुरस्कार में दी और सुन्दरी को बोले—'तुम्हारे मनोरथ के मूर्त्तिमान सिद्धितुल्य जगद्गुरु विहार करते हुए यहां आए हैं।' फिर दासियों की तरह अन्तःपुरिकाओं द्वारा सुन्दरी का निष्क्रमणाभिषेक करवाया। सुन्दरी ने स्नान कर पवित्र विलेपण किया। द्वितीय विलेपण की तरह अञ्चल युक्त उज्ज्वल वस्त्र और उत्तम रत्नालङ्कार धारण किए। यद्यपि उसने शोल रूप अलङ्कार

धारण कर रखे थे फिर भी व्यवहार रक्षा के लिए अन्य अलङ्कार स्वीकार किए। उस समय रूप सम्पत्ति से सुशोभित सुन्दरी के सम्मुख स्त्रीरत्न सुभद्रा दासी-सी लगने लगी। शील सम्पन्ना वह सुन्दरी बाला संचरमान कल्पलता-सी याचकों को प्रार्थित ऐश्वर्य दान करने लगी। हंसिनी जिस प्रकार कमलिनी पर बैठती है उसी प्रकार कपूर रज-से श्वेत वस्त्रों से सुशोभित होकर वह एक शिविका में बैठ गई। हस्ती, अश्वारोही, पदातिक और रथों ने पृथ्वी को आवृत कर महाराज भरत मरुदेवी की तरह सुन्दरी के पीछे-पीछे चलने लगे। उनके दोनों ओर चँवर डुलाए जा रहे थे। मस्तक पर श्वेत छत्र शोभा पा रहा था। चारण और भाट उनके संयम की दृढ़ता की प्रशंसा कर रहे थे। भ्रातृ-वधुएँ दीक्षा उत्सव का मांगलिक गीत गा रही थीं एवं उत्तम स्त्रियां पद-पद पर निछावर कर रही थीं। इस प्रकार साथ चलने वाले अनेक पूर्ण पात्रों से शोभायमान सुन्दरी प्रभु चरणों से पवित्र अष्टापद पर्वत की अधित्यका में पहुंच गई। चन्द्र सहित उदयाचल की भांति प्रभु सहित उस पर्वत को देखकर भरत और सुन्दरी आनन्दित हुए। स्वर्ग और मोक्ष जाने के सोपानरूप विशाल शिलायुक्त उस पर्वत पर दोनों ने आरोहण किया और संसार भय से भीत जनों के शरणतुल्य चार द्वार विशिष्ट और क्षुद्रकृत जम्बूद्वीप के प्राकारों के से समवसरण के निकट गए। उन्होंने उत्तर द्वार से विधिवत् समवसरण में प्रवेश किया। फिर हर्ष और विनय से स्व-शरीर को उच्छ्वसित और संकुचित कर प्रभु की तीन प्रदक्षिणा दीं। पंचांगों से भूमि स्पर्श कर प्रणाम किया। उस समय ऐसा लग रहा था कि वे भूतलगत रत्न या प्रभु बिम्ब को देखने का प्रयास कर रहे हैं। फिर चक्रवर्ती भक्ति-पूत वाणी से प्रथम धर्म चक्रवर्ती की स्तुति करने लगे :

(श्लोक ७५५-७७७)

'हे प्रभो, असत् कथनकारी लोग अन्य की स्तुति कर सकते हैं; किन्तु मैं आपमें जो गुण हैं उनका वर्णन करने में असमर्थ हूं। अतः मैं आपकी स्तुति कैसे करूं? फिर भी दरिद्र जब लक्ष्मीवान् के पास जाता है तब कुछ न कुछ उपहार अवश्य देता है। हे जगन्नाथ, मैं भी इसी भाव से आपकी स्तुति करूंगा। हे प्रभो, सन्निपात रोग असाध्य है; किन्तु आपकी अमृत रस तुल्य औषधरूपी वाणी महामोहरूपी सन्निपात ज्वर को दूर करने में समर्थ है। हे नाथ,

चक्रवर्ती और दरिद्र वर्षा के जल की तरह आपकी समदृष्टि, प्रीति, सम्पत्ति के एक से ही कारण होते हैं। हे स्वामी, क्रूर कर्मरूपी हिम-खण्ड को विचलित करने वाले सूर्यरूप आप हमारे पुण्योदय से पृथ्वी पर विचरण कर रहे हैं। हे प्रभो, व्याकरण में व्याप्त संज्ञा सूत्र की तरह उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यमय त्रिपदी आप द्वारा जयवन्त है। हे भगवन्, जो आपकी स्तुति करता है उसका यह जन्म ही शेष जन्म जब है तब जो आपकी सेवा भक्ति करते हैं, आपका ध्यान करते हैं उनके विषय में तो कहूं ही क्या ?' (श्लोक ७७८-७८५)

इस प्रकार भगवान् की स्तुति एवं उन्हें नमस्कार कर भरतेश्वर ने ईशान कोण में अपने योग्य स्थान ग्रहण किया। तदुपरान्त सुन्दरी भगवान् ऋषभ को वन्दन कर करबद्ध होकर गद्गद् कण्ठ से बोली—'हे जगत्पति, इतने दिनों तक मैं मन ही मन आपके दर्शन करती थी; किन्तु आज बहु पुण्य और भाग्योदय से साक्षात् देख रही हूं। मृगतृष्णा से मिथ्या सुखपूर्ण संसार रूपी मरु-देश में अमृत सरोवर तुल्य आपको बड़े पुण्य से ही प्राप्त किया है। हे जगन्नाथ, आप ममतारहित हैं फिर भी सबके प्रति आपका वात्सल्य भाव है। यदि वह नहीं होता तब इस महा दुःखसमुद्र से उनका उद्धार क्यों करते ! हे प्रभो, मेरी बहन ब्राह्मी और मेरे भतीजे एवं उनके पुत्र भी आपके पथ का अनुसरण कर कृतार्थ हो गए हैं। भरत के आग्रह से मैंने इतने दिनों तक व्रत ग्रहण नहीं किया उससे मैं स्वयं ही वंचित रही। हे विश्वत्राता, अब मुझ-सी दीन का त्राण कीजिए, निस्तार करिए। समस्त गृह को प्रकाशित करने वाला प्रदीप क्या घट को प्रकाशित नहीं करता ? करता ही है। अतः हे विश्व-वत्सल, आप मुझ पर प्रसन्न हों और संसार समुद्र को उत्तीर्ण करने के लिए पोतरूपी दीक्षा दें। (श्लोक ७८६-७९४)

सुन्दरी के ऐसे वाक्य सुनकर 'वत्से, तुम धन्य हो' कहकर सामायिक सूत्र उच्चारित कर उसे दीक्षा दे दी। फिर उसे महाव्रत रूपी अटवी के अमृत धारावत् शिक्षामय उपदेश दिया। उसे सुनकर सुन्दरी को लगा जैसे उसने मोक्ष प्राप्त कर लिया है। तत्पश्चात् वह महामना साध्वी, सकल साध्वी के पीछे जा बैठी। प्रभु का उपदेश सुनकर उनके चरण-कमलों में वन्दन कर महाराज भरत आनन्दमना अयोध्या को लौट गए। (श्लोक ७९५-७९८)

वहां अधिकारियों ने समस्त भरतियों को देखने की इच्छा वाले महाराज भरत के साथ उन सबका परिचय कराया। जो नहीं आ सके उनके नाम भी बताए। फिर अपने भाइयों में जो उत्सव में भी नहीं आए, उन्हें बुलाने के लिए भरत ने दूत भेजे। दूत जाकर बोला—'यदि राज्य की इच्छा है तो महाराज भरत की सेवा करो।'
(श्लोक ७९९-८०१)

दूत की बात सुनकर उन्होंने विचार विवेचन कर उत्तर दिया—'पिताजी ने भरत को और हम सब को राज्य बांट दिया है। अब भरत की सेवा करने पर वे हमें और अधिक क्या देंगे? मृत्यु आने पर क्या वे उसका निवारण कर सकेंगे? वे क्या देह आक्रमणकारी जरा राक्षसी को दण्ड देने में सक्षम होंगे? क्या वे दुःखदायी व्याधि-रूप व्याघ्र को निहत कर सकेंगे? वे क्या उत्तरोत्तर वर्द्धित तृष्णा को नष्ट कर सकेंगे? यदि सेवा का यह सब फल देने में भरत असमर्थ हैं तब सामान्य मनुष्य रूप में कौन किसकी सेवा के योग्य है? उनके पास अनेक राज्य हैं। उससे भी उनको सन्तोष नहीं है। अतः अपने बल से हमारा राज्य लेना चाहते हैं तो हम भी तो उसी पिता के पुत्र हैं। फिर भी हे दूत, पिताजी की अनुमति के बिना तुम्हारे प्रभु के साथ, जो हमारे अग्रज हैं, युद्ध भी करना नहीं चाहते।'
(श्लोक ८०२-८०७)

दूत को ऐसा कहकर ऋषभदेव के वे ९८ पुत्र अष्टापद पर्वत पर समवसरण में अवस्थित भगवान् ऋषभ के पास गए। वहां तीन प्रदक्षिणा देकर उन्हें प्रणाम कर दोनों हाथ मस्तक पर रखकर इस प्रकार स्तुति करने लगे :
(श्लोक ८०८-८०९)

'हे प्रभो! जबकि देव भी आपकी स्तुति करने में असमर्थ हैं तब और कौन आपकी स्तुति करने में समर्थ हो सकता है? फिर भी बाल-सुलभ चपलतावश हम आपकी स्तुति करते हैं। जो सर्वदा आपको नमस्कार करते हैं वे तपस्वियों से भी बढ़कर हैं। जो आपकी सेवा करते हैं वे योगियों से भी अधिक बड़े हैं। हे विश्व प्रकाशितकारी सूर्य! प्रतिदिन नमस्कार करने वालों के मस्तक में आपके चरण-नखों के किरण-जाल अलङ्कार की भांति शोभा पाते हैं। वे ही धन्य हैं। हे जगत्पति! आप साम या बल से किसी से भी कुछ ग्रहण नहीं करते, फिर भी आप त्रिलोक चक्रवर्ती हैं। स्वामी!

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी

जिस प्रकार समस्त जलाशयों के जल में चन्द्र का प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी प्रकार आप एक होकर भी समस्त जगवासियों के हृदय में निवास करते हैं। हे देव! जो आपकी स्तुति करते हैं वे जगत् में सभी के स्तुत्य हो जाते हैं। जो आपकी पूजा करते हैं वे सभी के पूज्य हो जाते हैं एवं जो आपको नमस्कार करते हैं वे सभी के नमस्कार योग्य हो जाते हैं। इसीलिए आपकी भक्ति को महान् फलदायी बताया गया है। दुःख रूपी दावानल में दग्ध पुरुषों के लिए आप मेघतुल्य हैं और महामोहान्धकारी मूढ़ मनुष्यों के लिए दीपक तुल्य हैं। पथ के छाया प्रदानकारी वृक्षों की तरह आप धनी, दरिद्र, गुणी, मूर्ख सभी के समान उपकारी हैं।' (श्लोक ८१०-८१७)

इस भांति स्तुति कर सभी एकत्र होकर प्रभु के चरण-कमलों में भ्रमर-सी दृष्टि निबद्ध कर विनीत कण्ठ से बोले—'हे प्रभो! आपने भरत और हम लोगों में योग्यतानुसार पृथक्-पृथक् राज्य विभाजित कर दिया था। हमको जो राज्य मिला था हम उसी में सन्तुष्ट हैं। कारण, प्रभु द्वारा की गई निर्दिष्ट मर्यादा विनयवानों के लिए अलंघ्य है; किन्तु हे भगवन्! हमारे अग्रज भरत अपने और अन्य लोगों से छीनकर लिए हुए राज्य से भी जल में बडवानल की तरह सन्तुष्ट नहीं हैं। उन्होंने जैसे अन्य लोगों के राज्य छीन लिए हैं उसी प्रकार हमारे राज्य भी छीन लेना चाहते हैं। भरत ने अन्य लोगों की भांति ही हम लोगों को भी दूत द्वारा कहला भेजा है 'या मेरी सेवा करो नहीं तो राज्य का परित्याग कर चले जाओ।' हे प्रभु! अपने को बलशाली समझने वाले भरत के कथन मात्र से भीत की भांति हम पिता प्रदत्त राज्य किस प्रकार त्याग कर सकते हैं? फिर अधिक समृद्धि की कामना नहीं करने पर भी हम भरत की सेवा क्यों करेंगे? जो अतृप्त होते हैं वे ही स्व मान विनाशकारी अन्य की सेवा स्वीकृत करते हैं। हम न राज्य परित्याग करना चाहते हैं न उनकी सेवा। अतः हमारे लिए युद्ध के अतिरिक्त दूसरा कोई पथ नहीं है। फिर भी आपको पूछे बिना हम कुछ करना नहीं चाहते।' (श्लोक ८१८-८२६)

पुत्रों की बात सुनकर निर्मल केवल-ज्ञान से जो समस्त जगत् को देख सकते हैं, दयालु भगवान् आदीश्वरनाथ उनसे बोले—'हे वत्सगण, पुरुष-व्रतधारी और पुरुष को तो अत्यन्त द्रोहकारी शत्रु से

ही युद्ध करना उचित है। राग-द्वेष और मोह-कषाय शत-शत जन्मों से जीव को शक्ति पहुँचाने वाले और महाशत्रु हैं। राग सद्गति बाधक लौह शृङ्खला की तरह बन्धनकारी है। द्वेष नरक निवास के बलवान न्यास की तरह है। मोह संसार-समुद्र के आवर्त्त में निक्षेपकारी और कषाय अग्नि-तुल्य स्व-आश्रित व्यक्तियों के लिए दग्धकारी है। इसलिए मनुष्यों के लिए उचित है कि वे अविनाशी उन उन अस्त्रों की सहायता से निरन्तर युद्ध कर शत्रुओं पर विजयलाभ करें और सत्यशरणभूत धर्म की सेवा करें ताकि शाश्वत आनन्दमय पद की प्राप्ति सुलभ हो सके। यह राज्यलक्ष्मी अनेक योनियों में निक्षेपकारी, अत्यन्त दुःखदायक, अभिमानरूप फलप्रदानकारी और नाशवान है। वत्सगण, पूर्वजन्म के स्वर्ग सुखों से भी तुम्हारी तृष्णा तृप्त नहीं हुई तो कोयला बनाने वाले की भांति मनुष्य सम्बन्धी भोगों से वह कैसे पूर्ण होगी? (श्लोक ८२७-८३५)

'कोयला बनाने वाले की कहानी इस प्रकार है—कोयला बनाने वाला कोयला बनाने के लिए जल की मशक लेकर अरण्य में जाता है। वह दोपहर की धूप में और अग्नि के उत्ताप से पिपासार्त्त होकर साथ लाया हुआ मशक का समस्त जल पी जाता है। फिर भी उसकी प्यास नहीं बुझी। तब वह सो गया। सोया-सोया वह स्वप्न देखता है जैसे वह घर लौट गया है। वहां हांडी, कलश कुम्भों आदि में जो जल था उसे भी वह पी गया। फिर भी तेल से जिस प्रकार अग्नि की तृष्णा शान्त नहीं होती उसी भांति उसकी प्यास भी शान्त नहीं हुई। तब उसने बापी, कुएँ और सरोवरों के जल पीकर उन्हें शुष्क कर डाला। फिर नदी और समुद्र का जल पीकर उन्हें शुष्क बना दिया। इतना होने पर भी नारकी जीवों की तृष्णा की वेदना-सी उसकी पिपासा शान्त नहीं हुई। तब उसने मरुदेश में जाकर, तृण एकत्र कर बांधा और उन्हें रस्सी की सहायता से मरुदेश के कुएँ में उतार दिया। कारण, पीड़ित व्यक्ति क्या नहीं करता? कुएँ में जल बहुत गहरा था अतः तृणों में लगा जल बीच राह में ही झर गया। फिर भी भिखारी जिस प्रकार तेल में भीगे पत्ते को निचोड़ कर चाटता है उसी प्रकार उस तृणसमूह को निचोड़ कर वह चाटने लगा; किन्तु जो पिपासा समुद्र के जल से भी शान्त नहीं हुई वह तृणों में लगे जल से कैसे शान्त हो सकती थी?'

(श्लोक ८३६-८४३)

'अतः तुम्हारी तृष्णा जो कि स्वर्ग के सुखों से भी शान्त नहीं हुई। वह राज्यलक्ष्मी भोग कर कैसे शान्त होगी? इसीलिए हे वत्सगण, तुम जैसे विवेकियों को तो उचित अनिन्द्य आनन्द के प्रस्रवण तुल्य और मोक्ष प्राप्ति के कारण रूप संयम साम्राज्य को ग्रहण करना चाहिए।' (श्लोक ८४३-८४४)

प्रभु के ऐसे वाक्यों को सुनकर उन ९८ पुत्रों के मन वैराग्य के रंग में रंजित हो गए और उन्होंने उसी समय उनसे दीक्षा ग्रहण कर ली। आश्चर्यजनक है इनका धैर्य, आश्चर्यजनक है इनका सत्त्व और वैराग्य, ऐसा विचार करते हुए दूतों ने चक्री के समीप जाकर सारी कथा निवेदन की। तब चक्री ने उनके राज्यों को उसी प्रकार ग्रहण कर लिया जिस प्रकार चन्द्रमा तारागण की ज्योति को ग्रहण करता है, सूर्य अग्नि के तेज को ग्रहण करता है, समुद्र नदी के जल को ग्रहण करता है। (श्लोक ८४५-८४७)

(चतुर्थ सर्ग समाप्त)

पंचम सर्ग

एक समय भरतेश्वर जबकि सुखपूर्वक सभा में आसीन थे, सेनापति सुषेण ने आकर उन्हें नमस्कार किया और बोले—'महाराज, यद्यपि आप दिग्विजय कर आए हैं फिर भी आपका चक्र उसी प्रकार नगर में प्रवेश नहीं कर रहा है जिस प्रकार मदोन्मत्त हस्ती आलान स्तम्भ के निकट नहीं जाता।' (श्लोक १-२)

भरतेश्वर ने पूछा—'सेनापति, भरत के छह खण्डों में ऐसा कौन है जिसने मेरी आज्ञा स्वीकार नहीं की है? (श्लोक ३)

तब मन्त्री बोले—'हे प्रभु, मैं जानता हूं आप क्षुद्र हिमालय पर्वन्त समस्त क्षेत्र को जय कर आए हैं। अब आपके जय करने को रहा ही क्या है? कारण, चक्की में डाला हुआ गेहूं का दाना क्या साबुत बच सकता है? फिर भी जब चक्र नगर में प्रवेश नहीं कर रहा है उससे सूचना मिलती है कि अभी भी कोई ऐसा उन्मत्त पुरुष रह गया है जिसे आपको जय करना है। वे हैं भगवान् ऋषभदेव के पुत्र, आपके छोटे भाई बाहुबली। वे महाबलशाली और बलवान

पुरुषों के बल नाशकारी हैं। जिस प्रकार समस्त शस्त्र एक ओर एवं चक्र एक ओर है उसी प्रकार समस्त राजागण एक ओर एवं बाहुबली एक ओर हैं। जिस प्रकार आप भगवान ऋषभ के लोकोत्तर पुत्र हैं उसी प्रकार वे भी हैं। जब तक आपने उन पर विजय प्राप्त नहीं की तब तक किसी पर विजय प्राप्त नहीं की है ऐसा माना जाएगा। यद्यपि भरत क्षेत्र के छह खण्डों में आप जैसा किसी को नहीं देखा फिर भी आपका गौरव तो तभी बढ़ेगा जब आप बाहुबली को जीत लेंगे। बाहुबली जगतमान्य आपकी आज्ञा नहीं मानते हैं इसीलिए उन्हें जीते बिना चक्र मानो लज्जित हो रहा है अतः नगर में प्रवेश नहीं कर रहा है। अल्प व्याधि की तरह क्षुद्र दुश्मन की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। एतदर्थ अब और विलम्ब न कर उन्हें जय करने का प्रयास शीघ्र ही करना उचित है।'

(श्लोक १-१३)

मन्त्री के ऐसे वचनों को सुनकर दावानल-दग्ध और मेघवारि से सिक्त पर्वत की तरह युगपत् कोप और शान्ति से आश्लिष्ट (अर्थात् पहले कुपित और बाद में शान्त) होकर भरतेश्वर बोले—'एक ओर छोटा भाई आज्ञा पालन नहीं करता यह लज्जास्पद है, दूसरी ओर छोटे भाई के साथ युद्ध करना भी दुःखदायी है। जिसकी आज्ञा घर के लोग ही स्वीकार नहीं करते उसकी आज्ञा बाहर भी उपहासास्पद होती है। इस प्रकार छोटे भाई के अविनय को सहना भी अपवाद रूप है। अहंकारी को सजा देना राजधर्म और भाइयों से मिलजुल कर रहना व्यवहार धर्म भी है। दुःख का विषय है कि मैं उभय संकट में पड़ गया हूं।' (श्लोक १४-१७)

अमात्य बोले—'महाराज, आपका यह संकट अपनी महत्ता से आपका छोटा भाई ही दूर करेगा। सामान्य गृहस्थों में भी यही नियम है कि बड़ा भाई जो आज्ञा देता है उसे छोटा भाई मानता है। इसीलिए सामान्य रीति का अनुसरण कर संवादवाहक दूत भेज कर छोटे भाई को आज्ञा दीजिए। हे देव, केशरी सिंह जिस प्रकार जीन सहन नहीं करता उसी प्रकार वीर अभिमानी आपका छोटा भाई यदि जगत् पक्ष में मान्य आपकी आज्ञा नहीं मानता है तब इन्द्र तुल्य पराक्रमी आप उसे दण्ड दें। इस प्रकार करने से लोकाचार का भी पालन होगा और आपको भी कोई दोष नहीं देगा।

(श्लोक १८-२२)

महाराज ने मन्त्री की बात स्वीकार कर ली। कारण, शास्त्र और लोक-व्यवहार दोनों के ही अनुरूप जो वाक्य होते हैं उनको स्वीकार करना उचित है। तब उन्होंने नीतिज्ञ और वाक्-पटु सुवेग नामक दूत को शिक्षण देकर बाहुबली के पास भेजा। अपने स्वामी की शिक्षा को दौत्य कार्य की दीक्षा की भांति स्वीकार कर सुवेग रथ पर चढ़कर तक्षशिला नगरी की ओर रवाना हुआ। (श्लोक २३-२५)

सुवेग जब सैन्य सहित वेगवान् रथ पर बैठकर विनीता नगरी से बाहर निकला तो ऐसा लगा मानो वह भरतपति की शिरोधार्य आज्ञा ही हो। जैसे ही उसने यात्रा प्रारम्भ की देव, विरुद्ध है ऐसी सूचना स्वरूप उसकी बायीं आंख बार-बार फड़कने लगी। अग्नि-मण्डल में धौंकनी से हवा देने पर जैसे अग्नि तेज हो जाती है उसी प्रकार उसकी दाहिनी नाड़ी बिना व्याधि के ही तेज चलने लगी। तोतला जिस प्रकार असंयुक्त अक्षर बोलने में भी अटकता है उसी तरह उसका रथ सरल पथ पर भी बार-बार अटकने लगा। कृष्ण मृग जिसे उसके अश्वारोहियों ने आगे जाकर भगा दिया था न जाने किसकी प्रेरणा से उसके दाहिनी ओर से बायीं ओर चला गया। काक सूखे कण्टक वृक्ष पर बैठकर अपने चप्पू रूप अस्त्र को मानो पत्थर पर घिस रहा हो इस भांति घिसते-घिसते उसके सम्मुख कटु शब्द बोलने लगा। उसकी यात्रा को रोकने के लिए मानो भाग्य ने अर्गला लगा दी हो इस प्रकार एक लम्बा सर्प उसके सामने से निकल गया। जैसे पुनः विचार के लिए सुपण्डित सुवेग दूत को लौटने के लिए विवश कर रही हो ऐसी प्रतिकूल वायु धूल उड़ाकर उसकी आंखों को भरती हुई प्रवाहित होने लगी। मैदा न लगाया हुआ या टूटा हुआ मृदङ्ग सा विरस शब्द करता हुआ गधा उसके दाहिनी ओर खड़ा होकर रेंकने लगा। इन सभी अपशकुनों को पूर्णतया जानता हुआ भी सुवेग दूत अग्रसर होता रहा। कारण, सद् दूत स्वामी के काम पर तीर की तरह सीधे जाते हैं, राह में कहीं अटकते नहीं। अनेक ग्राम, नगर, बाजार और गलियों से द्रुतवेग से गुजरते उस दूत को लोगों ने क्षणमात्र के लिए झंझा की तरह देखा। स्वामी के कार्य में नियुक्त क्रीतदास जिस प्रकार कशा-घात के भय से निरन्तर कार्य करते रहते हैं उसी तरह सुवेग ने वृक्ष-वाटिकाओं, सरोवरों एवं सिन्धुतटों पर जरा भी विश्राम नहीं किया। इसी भांति चलते-चलते मृत्यु के एकान्त रतिक्षेत्र से भयंकर अरण्य

के निकट पहुंचा। राक्षसों की तरह धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाए हस्तियों को लक्ष्य कर तीर निक्षेपकारी और चमरू जाति के मृगचर्म से कवच तैयार कर पहने हुए भील उस जंगल में निवास करते थे। मानो यमराज के सगोत्रीय हों ऐसे चमरू मृग, चीते, बाघ, सिंह और शरभ आदि क्रूर हिंसक पशु उस वन में निवास करते थे। परस्पर आक्रमणकारी सर्प और नकुलों के बिवर से वह वन भयंकर प्रतीत होता था। भाल्लुकों के केश धारण में व्यग्र छोटी-छोटी भीलनियां वहां विचरण कर रही थीं, भैंसे परस्पर युद्ध करते हुए उस अरण्य के प्राचीन वृक्षों को उखाड़ रहे थे। मधु संग्रह करने वालों द्वारा विताड़ित मधु-मक्खियों के कारण उस अरण्य में प्रवेश करना कठिन था। आकाश-स्पर्शी वृक्षों के समूह से वहां सूर्य भी दिखाई नहीं पड़ता था। पुण्यवान् जिस प्रकार विपत्ति का अतिक्रम कर जाता है उसी प्रकार वेगवान रथ में बैठे सुवेग ने उस घोर अरण्य को पार कर लिया। वहां से वह बहली देश पहुंचा। (श्लोक २६-४३)

उस देश में राह के किनारे उगे वृक्षों के नीचे पथिक वधुएं अलङ्कार धारण किए स्वच्छन्द रूप से बैठी थीं। देखकर लगा—इस राज्य में सुराज्य है, सुशासन है। प्रत्येक गांव के गोकुलों में वृक्षों तले बैठे गोप बालक सानन्द ऋषभ-चरित्र गा रहे थे। मानो भद्रशाल वन से लाकर रोपण किए हों ऐसे बहुसंख्यक फलदायी सघन वृक्षों से समस्त ग्राम अलंकृत थे। वहां प्रत्येक घरों में दान की दीक्षा लिए गृहस्थ याचकों का अनुसन्धान करते रहते। भरत राजा द्वारा उत्पीड़ित उत्तर भरतार्द्ध से भागे हुए गरीब म्लेच्छगण यहां के अनेक ग्रामों में आ बसे थे। वह स्थान भरत क्षेत्र से अन्य-सा लग रहा था। वहां कोई भी राजा भरत की आज्ञा को जानता भी नहीं था, मानता भी नहीं था। इस प्रकार बहली देश से गुजरते समय सुवेग राह में मिलते लोगों के साथ जो कि बाहुबली के अतिरिक्त किसी अन्य राजा को नहीं जानते थे एवं जिन्हें कोई दुःख भी नहीं था, बातचीत करता हुआ परिचय प्राप्त कर रहा था। पर्वत पर विचरण करने वाले दुर्मद और शिकारी पशु भी मानो पंगु हो गए हों ऐसे लग रहे थे। प्रजा के लिए अनुराग भरे वाक्यों एवं महान् समृद्धि के कारण वे बाहुबली की नीति को अद्वितीय सुखदायी समझने लगे थे। राजा भरत के लघु भ्राता बाहुबली के उत्कर्ष की बातें सुनते-सुनते आश्चर्यचकित सुवेग अपने स्वामी के सन्देश को

सोचता हुआ तक्षशिला के निकट पहुँचा। नगर के बहिर्भाग में निवास करने वाले लोग सामान्य पथिक की तरह उसे एक बार नजर उठाकर देख लेते। खेलकूद के मैदानों में धनुर्विद्या का अभ्यास करने वाले सैनिकों के हाथों के शब्दों से उसके रथ के घोड़े चमकने लगे। इधर-उधर नगर की समृद्धि देखने में लगे हुए सारथी का मन स्वकार्य में नहीं रहा अतः उसका रथ अन्य पथ में जा अटका। बाहरी उद्यानों में सुवेग ने उत्तम हस्तियों को बँधा हुआ पाया। उसे लगा मानो समस्त चक्रवर्तियों के हस्ती-रत्नों को वहां लाकर एकत्र किया गया है। मानो ज्योतिष्क देवताओं के विमानों का परित्याग कर आए हों ऐसे उत्तम अश्वों से पूर्ण उत्तम अश्वशाला उसने देखी। राजा भरत के छोटे भाई के आश्चर्यकारी ऐश्वर्य को देखकर मानो उसका सिर दुःखने लगा हो इस प्रकार माथा दबाते-दबाते दूत तक्षशिला में उपस्थित हुआ। मानो अहमिन्द्र ही हों ऐसे स्वच्छन्द-वृत्ति का अवलम्बन लिए दूकानों पर बैठे व्यवसायीगणों को देखता हुआ वह राजद्वार के सम्मुख आ उपस्थित हुआ। (श्लोक ४८-६०)

मानो सूर्य-तेज का आहरण कर निर्मित हुआ है वैसे ही चमकते हुए भाले हाथ में लिए पदातिक सैनिक वहां खड़े थे। स्थान स्थान पर इक्षु के पर्वों-सी तीक्ष्ण वर्छी लिए जो रक्षकगण खड़े थे उन्हें देखकर लगा मानो वीरता रूप वृक्ष ही पल्लवित हो गया है। कहीं प्रस्तरों को चूर्ण कर देने वाले मुद्गर लिए सैनिक खड़े थे। वे एकदन्त हस्ती-से लग रहे थे। कहीं नक्षत्रों पर्यन्त तीरनिक्षेपकारी एवं शब्दभेदी तीर को भी निक्षेप करने में समर्थ धनुर्धर पीठ में तूणीर कसे और हाथों में काल-धनुष लिए खड़े थे। जैसे द्वारपाल ही हों ऐसे दरवाजे के दोनों ओर सूँड उठाए खड़े हुए हाथियों के कारण दूर से वह राजद्वार बड़ा भयंकर लग रहा था। उस नर-केशरी के सिंहद्वार को देखकर सुवेग के मन में विस्मय उत्पन्न हुआ। भीतर प्रवेश की आज्ञा पाने के लिए वह राजद्वार पर प्रतीक्षा करने लगा। राजमहल में प्रवेश का यही नियम है। उसके अनुरोध पर द्वारपाल भीतर जाकर बाहुबली से बोला कि आपके अग्रज का सुवेग नामक दूत बाहर खड़ा है। राजा ने उसे भीतर ले आने की आज्ञा दी। छड़ीदार ने बुद्धिमानों में श्रेष्ठ सुवेग नामक दूत को सूर्यमण्डल में बुध के प्रवेश-सा उस सभा में लाकर उपस्थित किया।

(श्लोक ६१-६९)

वहां विस्मित सुवेग ने सिंहासन पर बैठे तेज के देवता से बाहुबली को देखा। मानो आकाश से सूर्य ही उतर आया हो ऐसे तेजस्वी रत्नमय मुकुटधारी राजा उनकी सेवा कर रहे थे। निज स्वामी के विश्वास रूप सर्वस्व वल्ली के सन्तान रूपी मण्डप के समान और परीक्षा द्वारा शुद्ध निर्णीत हो गए हों ऐसे प्रधानों का समूह उनके पास बैठा हुआ था। प्रदीप्त मुकुट सम्पन्न एवं जगत् के लिए असह्य ऐसे नागकुमारों-से राजकुमार उनके आस-पास उपस्थित थे। जिह्वा निकाले सर्पों-सी खुली तलवारें हाथ में लिए खड़े हजारों अंगरक्षकों से वे मलयाचल-से भयंकर लग रहे थे। चमरीमृग जिस प्रकार हिमालय को चमर-वीजन करते हैं उसी प्रकार अति सुन्दर वारांगनाएं उन्हें चमर डोल रही थीं। विद्युत् सह शरत्-कालीन मेघों से पवित्र वस्त्र और छड़ीवाहक छड़ीदारों से वे सुशोभित हो रहे थे। सुवेग ने शब्दकारी सुवर्ण की दीर्घ शृङ्खलायुक्त हाथी की तरह ललाट से धरती को स्पर्श करते हुए बाहुबली को प्रणाम किया। उसी क्षण महाराज के नेत्रों के संकेत से बताए हुए आसन को प्रतिहारी ने उसे दिखाया। सुवेग उस पर बैठ गया। (श्लोक ७०-७८)

फिर कृपारूपी अमृत से धुली उज्ज्वल दृष्टि से सुवेग की ओर देखकर बाहुबली बोले—'हे सुवेग, आर्य भरत कुशल तो हैं न? पिता द्वारा लालित-पालित अयोध्या की समस्त प्रजा भी कुशल है न? कामादि षड्रिपुओं की भांति भरत महाराज ने छह खण्डों को तो निर्विघ्नता के साथ जय कर लिया है न? साठ हजार वर्षों तक बड़े-बड़े युद्ध कर सेनापति आदि सभी सकुशल लौट आए हैं न? सिन्दूररंजित कुम्भ-स्थलों द्वारा आकाश को सन्ध्या की तरह रक्तिम कर देने वाले महाराज का हस्तियूथ तो कुशलपूर्वक है न? हिमालय से लेकर समस्त पृथ्वी परिभ्रमणकारी समस्त उत्तम अश्व स्वस्थ तो हैं न? अखण्ड आज्ञाकारी व समस्त राजाओं द्वारा सेवित आर्य भरत के दिन सुखपूर्वक व्यतीत हो रहे हैं न?

(श्लोक ७९-८५)

इस प्रकार प्रश्न करके वृषभात्मज बाहुबली जब मौन हुए तब निरुद्विग्न बने सुवेग करबद्ध होकर बोले—'समस्त पृथ्वी को सकुशल बनाने वाले राजा भरत की कुशलता तो स्वतःसिद्ध है। आपके अप्रज जिनकी रक्षा कर रहे हैं उनके सेनापति, अश्व,

हस्ती, यहां तक कि समस्त अयोध्या नगरी में किसी का अनिष्ट करने की शक्ति विधाता तक में नहीं है। राजा भरत से अधिक तो क्या उनके समान भी कौन है जो भरत क्षेत्र व छह खण्डों को विजय करने में बाधक बनता? यद्यपि समस्त राजा उनकी आज्ञा का पालन करते हैं, उनकी सेवा करते हैं, फिर भी महाराज का मन प्रसन्न नहीं है। कारण, दरिद्र होकर भी जो अपने कुटुम्ब द्वारा सेवित होते हैं, वे ईश्वर हैं; किन्तु जिनकी कटुम्ब ही सेवा नहीं करता उसे ऐश्वर्य का सुख किस प्रकार होगा? साठ हजार वर्ष के पश्चात् प्रत्यावृत्त हुए आपके अग्रज अपने अनुजों के आने की प्रतीक्षा कर रहे थे। समस्त सम्बन्धी एवं उनके मित्रों ने आकर उनका अभिषेक किया। उस समय इन्द्रादि समस्त देवता भी उनके पास आए; किन्तु ऐसे समय भी अपने भाइयों को न पाकर वे सुखी नहीं हो सके। बारह वर्षों तक राज्याभिषेक चला। फिर भी अपने भाइयों को आते न देखकर उन्होंने उनके पास दूत भेजे। कारण, उत्कण्ठा अत्यन्त बलवान होती है; किन्तु न जाने क्या सोचकर वे राजा भरत के पास न जाकर स्व पिता के पास चले गए और दीक्षा ग्रहण कर ली। अब वे मोह-ममता रहित हो गए हैं। उनके लिए न कोई अपना है न कोई पराया। अतः महाराज भरत का भ्रातृ-प्रेम उनके द्वारा पूर्ण नहीं हो सकता। यदि आपके हृदय में भ्रातृ-प्रेम हो तो आप वहां चलकर महाराज के हृदय को प्रसन्न करें। बहुत दिनों के पश्चात् आपके अग्रज प्रत्यावृत्त हुए हैं फिर भी आप बैठे हुए हैं। लगता है आपका हृदय वज्र से भी अधिक कठोर है। आप अग्रज की अवज्ञा कर रहे हैं इससे प्रतीत होता है आप निर्भीकों में भी निर्भीक हैं। नीतिवाक्य है—शूरवीरों के मन में भी गुरुजनों का भय रहना चाहिए। एक ओर विश्व-विजयी, दूसरी ओर गुरु-जनों का विनयकारी। इनमें प्रशंसा योग्य कौन है? यह विचार करने के लिए परिषद् लाने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि गुरुजनों का विनयकारी ही प्रशंसायोग्य है। आप लोगों के इस अविनय को सहनशील महाराज सहन करेंगे; किन्तु निन्दकों को निन्दा करने का अबाध अवसर मिलेगा। आपके अविनय को प्रकट करने वाले निन्दकों के वाणी रूपी तक्र के छींटे धीरे-धीरे महाराज के दूध से हृदय को विकृत कर देंगे। स्वामी के विषय में यदि अपना सामान्य-सा भी छिद्र हो तो उसका विरोध करना चाहिए। कारण, सामान्य

'छिद्र भी जल बांध को विनष्ट कर सकता है। आप यह मत सोचिए कि मैं इतने दिनों तक नहीं गया तो अब कैसे जाऊँ ? आप चलिए, क्योंकि सुस्वामी त्रुटि को ग्रहण नहीं करते बल्कि। उसकी उपेक्षा करते हैं। आकाश में सूर्योदय होते ही जैसे कुहासा नष्ट हो जाता है उसी प्रकार वहां जाते ही निन्दकों के मनोरथ नष्ट हो जायेंगे। पूर्णिमा का चन्द्र जिस प्रकार सूर्य से तेज ग्रहण करता है उसी भांति उनसे मिलने पर आपके तेज की भी अभिवृद्धि होगी। अन्यथा आचरणकारी अनेक बलवान पुरुष अपना सेव्य-भाव परित्याग कर महाराज की सेवा कर रहे हैं। जिस प्रकार देवताओं के लिए इन्द्र सेव्य है उसी प्रकार कृपा करने में एवं दण्ड देने में चक्रवर्ती समस्त राजाओं के सेव्य होते हैं। आप यदि केवल चक्रवर्ती के रूप में ही उनकी सेवा करेंगे तो भी आपका भ्रातृप्रेम ही प्रकाशित होगा। आप यदि यह सोचें कि वे चक्रवर्ती तो मेरे भाई हैं अतः वहां न जाऊँ तो वह भी अनुचित होगा। कारण, आदेश देने का मुख्य उत्स राजा ही होता है। वह कौटुम्बिकों से भी अपनी आज्ञा का पालन करवा सकता है। चुम्बक जिस प्रकार लोह को आकृष्ट करता है उसी प्रकार उनके उत्कृष्ट तेज से आकृष्ट होकर देव, दानव और मानव, सभी भरतपति के निकट आते हैं। जबकि इन्द्र भी महाराज भरत को अपना अर्द्धासन प्रदान करते हैं; तब उनके सुहृद होकर क्यों नहीं उनके निकट जाकर उन्हें अपने अनुकूल बना लेते हैं ? यदि आप वीरत्व के अभिमान में महाराज का अपमान करते हैं तब तो सैन्य सहित आप उनके पराक्रम रूपी समुद्र में एक मुष्ठि घुन लगे धान्य के आटे की तरह विलीन हो जाएँगे। चलमान पर्वत-से उनके ऐरावत तुल्य चौरासी लाख हस्तियों का वेग सहन करने में कौन समर्थ है ? उनके प्रलयकालीन समुद्र के कल्लोल से समस्त पृथ्वी को प्लावित करने में समर्थ चौरासी लाख अश्व और चौरासी लाख रथ को निवारण करने में कौन समर्थ है ? छियानवे करोड़ उनके पदातिक सिंह की भांति किसके हृदय को भयभीत करने में समर्थ नहीं है ? उनके एकमात्र सेनापति सुषेण ही यदि हाथ में दण्ड लिए आएँ तो देव और दानव कोई भी उनके सम्मुखीन नहीं हो सकता। सूर्य के सम्मुख जिस प्रकार अन्धकार का कोई महत्त्व नहीं उसी प्रकार चक्रधारी भरत चक्रवर्ती के सम्मुख तीन लोक नगण्य है। इस लिए हे बाहुबली, तेज और उम्र दोनों में आप से बड़े महाराज

भरत राज्य और जीवन के इच्छुक आपके लिए सेव्य हैं।'

(श्लोक ८६-१२०)

सुवेग के कथन को सुनकर स्वबल से जगत् के बल को नाश करने वाले बाहुबली मानो द्वितीय समुद्र हों इस प्रकार गम्भीर वाणी में बोले—'हे दूत! तुम धन्य हो! तुम बातचीत करने में अग्रणी हो इसलिए मेरे सम्मुख बोलने में समर्थ हो सके हो। अग्रज भरत मेरे पितृ तुल्य हैं यदि उन्होंने भाई को देखने की इच्छा प्रकट की है तब तो वह उनके योग्य ही है; किन्तु मैं इसीलिए उनके पास नहीं गया कि जो सुर-असुर और अन्य राजाओं के ऐश्वर्य से ऋद्धि सम्पन्न हैं वे मुझ-से अल्प वैभवशाली द्वारा लज्जित होंगे। साठ हजार वर्षों तक अन्य का राज्य लेने में वे संलग्न रहे यह बात ही उनके छोटे भाइयों का राज्य लेने की व्यग्रता को प्रकट करती है। यदि भ्रातृ-स्नेह ही कारण होता तो भाइयों के पास एक-एक दूत भेजकर वे यह नहीं कहलवाते, राज्य छोड़ो और मेरी सेवा करो—नहीं तो युद्ध करो। लोभी तो हैं; किन्तु हैं बड़े भाई। अतः उनके साथ युद्ध न कर सभी सत्त्ववान् छोटे भाइयों ने अपने पिता के पद-चिह्नों का अनुसरण कर लिया है। उनका राज्य ले लेना ही छिद्रान्वेषी तुम्हारे स्वामी की वक्रभ्रमिता को प्रकट करता है। अब वैसा ही स्नेह दिखाने के लिए वाणी-प्रपञ्च की सृष्टि करने में तुम जैसे निपुण को भरत ने यहां भेजा है। मेरे छोटे भाइयों ने अपने राज्य उन्हें देकर व्रत ग्रहण करके जो आनन्द उन्हें दिया है वह आनन्द मेरे जाने पर क्या उन राज्य-लोभी को होगा? नहीं होगा। मैं वज्र-सा कठोर और अल्प वैभव होने पर भी भाई का अपमान होगा इस भय से उनकी सम्पत्ति लेना नहीं चाहता। वे फूल से भी कोमल हैं; किन्तु कपटी हैं। तभी तो व्रत ग्रहण करने वाले छोटे भाइयों का राज्य उन्होंने ले लिया। हे दूत, भाइयों का राज्य अपहरण करने वाले भरत की मैं उपेक्षा करता हूं। तभी तो मैं निर्भयों में निर्भय हूं। बड़ों का विनय करना उचित है; किन्तु यदि बड़ा गुणहीन हो तो उसकी विनय करना लज्जास्पद है। बड़ा यदि अभिमानी हो, कार्य-अकार्य का जिसे भान न हो और विपथगामी हो तो ऐसे गुरुजनों का भी परित्याग कर देना चाहिए। तुम कहते हो कि भरत सहनशील राजा हैं तो मैंने क्या उनके अश्वादि छीन लिए हैं, नगर लूट लिए हैं कि मेरे इस अविनय को वे सहन कर रहे

हैं। ऐसे कार्य तो मैं दुर्जनों का प्रतिकार करने के लिए भी नहीं करता। तभी तो कहा गया है—विवेकपूर्वक कार्य करने वाला सज्जन क्या दुष्टों के कथन से कभी दूषित हुआ है? मैं इतने दिनों नहीं गया। वे क्या निःस्पृह होकर कहीं चले गए थे कि अब लौट आए हैं? अतः मुझे उनके पास जाना होगा। वे तो भूत की तरह छिद्रान्वेषी हैं। फिर भी मैं सभी स्थान पर सावधान और निर्लोभ रहता हूं। मेरी कौन-सी भूल ग्रहण करेंगे? मैंने भरतेश्वर से न कोई राज्य लिया है न अन्य कोई वस्तु। फिर वे मेरे स्वामी कैसे हैं? जब उनके और मेरे स्वामी ऋषभदेव ही हैं तब उनसे मेरा स्वामी-सेवक सम्बन्ध कैसे सम्भव है? मैं तेज का कारण हूं। मेरे पास आने पर उनका तेज कैसे टिकेगा? कारण, तेजस्वी सूर्य के उदित होने पर अग्नि का तेज नहीं रहता। असमर्थ राजागण स्वयं स्वामी होने पर भी भरत को स्वामी कहकर उनकी सेवा करते हैं क्योंकि वे उन निर्बल राजाओं को पुरस्कार और दण्ड देने में समर्थ हैं। यदि मैं भ्रातृ-स्नेहवश उनकी सेवा करूं फिर भी उस सेवा का सम्बन्ध उनके चक्रवर्तीत्व के साथ जुड़ेगा। कारण, लोगों का मुंह बन्द नहीं किया जा सकता। मैं उनका निर्भय भाई हूं, वे मुझे आज्ञा दे सकते हैं; किन्तु उनमें कौटुम्बिक-स्नेह का अवसर कहां? वज्र द्वारा वज्र विनष्ट नहीं होता। वे सुरासुर और मानवों की सेवा से प्रसन्न हो सकते हैं। उससे मुझे क्या? सज्जित रथ भी सरल मार्ग पर ही चल सकता है। वह यदि खराब राह पर जाएगा तो टूट जाएगा। इन्द्र पिताजी के भक्त हैं। इसलिए भरत को पिताजी का ज्येष्ठ पुत्र समझकर अपने अर्द्धसिंहासन पर बैठाते हैं। इसमें भरत के लिए अभिमान की कौन-सी बात है? यह सत्य है कि भरत रूपी समुद्र में अन्य राजागण सैन्य सहित एक मुष्ठि सड़े गेहूं के छिलके की तरह हैं; किन्तु मैं असह्य तेज सम्पन्न उस समुद्र के लिए बड़वानल तुल्य हूं। सूर्य के तेज में जैसे समस्त तेज लीन हो जाते हैं उसी प्रकार राजा भरत भी अश्व, हस्ती, पदातिक और सेनापति सहित मुझमें लय हो जाएंगे। बाल्यकाल में हस्ती की तरह मैंने उनका पैर पकड़ कर मिट्टी के ढेले की तरह आकाश में उछाल दिया था। खूब दूर आकाश में जाने के पश्चात् नीचे गिरते समय कहीं उनकी मृत्यु न हो जाए अतः फूल की तरह उन्हें झेल लिया था; किन्तु अब अपने द्वारा विजित राजाओं की चाटुकारिता

भरी बातें सुनकर वे ये सब बातें भूल गए हैं; किन्तु वे सभी चाटुकार भाग जाएंगे और भरत को अकेले ही बाहुबली के हस्त द्वारा उत्पन्न वेदना सहन करनी होगी। हे दूत, तुम यहां से प्रस्थान करो। मेरे राज्य और जीवन की इच्छा से उन्हें यदि यहां आना पड़े तो आएं। मैं तो पिता द्वारा दिए गए राज्य से सन्तुष्ट हूं। उनका राज्य लेने की मेरी इच्छा नहीं है। अतः वहां जाने का मेरा कोई प्रयोजन ही दृष्टिगत नहीं होता।'

बाहुबली के इस प्रकार बोलने पर स्वामी के दृढ़ आज्ञारूपी बन्धन में आबद्ध चित्र-विचित्र शरीरी अन्य राजागण क्रोध से रक्त-वर्ण बने नेत्रों से सुवेग का अवलोकन करने लगे। राजकुमारगण 'मारो-मारो' कहते हुए ओष्ठ स्फुरित कर विचित्र भाव से उसे देखने लगे। अच्छी तरह से कमरबन्द कसे अंगरक्षक तलवार हिलाते हुए ऐसे देखने लगे मानो वे उसे मार डालेंगे। मन्त्री को भय लगने लगा कि महाराज का कोई साहसिक सैनिक उसकी हत्या न कर बैठे। उसी समय छड़ीदार का पांव उठा और एक हाथ इस प्रकार ऊंचा हुआ मानो वह दूत की गर्दन पकड़ने को उत्सुक है; किन्तु ऐसा नहीं हुआ। उसने हाथ पकड़कर दूत को आसन से उठा दिया। इस व्यवहार से सुवेग का मन क्षोभ से भर उठा। जो कुछ भी हुआ; किन्तु वह धैर्य धारण कर सभा से बाहर निकल गया। कुपित बाहुबली के कठोर शब्दों को स्मरण कर राजद्वार के प्रहरी भी क्षुब्ध हो गए। उनमें कोई ढाल ऊंची-नीची करने लगा, कोई तलवार घुमाने लगा, किसी ने मारने के लिए चक्र हाथ में उठाया, किसी ने मुद्गर उठाया, कोई त्रिशूल झनझनाने लगा, किसी ने तूणीर बांधा तो किसी ने दण्ड ग्रहण कर लिया, तो कोई परशु उत्तोलित करने लगा। समस्त पदातिकों को इस प्रकार करते देख वह दूत पद-पद पर मृत्यु भय से भयभीत हो गया। मारे भय के उसके पैर सीधे नहीं पड़ रहे थे। इस प्रकार सुवेग नरसिंह के सिंह-द्वार से बाहर निकला। उसने रथ पर चढ़कर लौटते हुए इस प्रकार की वार्ताएं सुनी : (श्लोक १२१-१६४)

—'राजद्वार से यह नया आदमी कौन निकला ?'

—'यह राजा भरत का दूत लगता है।'

—'पृथ्वी पर क्या बाहुबली के अतिरिक्त और भी राजा है ?

—'हां, बाहुबली के बड़े भाई अयोध्या में राज्य करते हैं।'

—'दूत को उन्होंने यहां क्यों भेजा है?'

—'अपने भाई बाहुबली को बुलाने के लिए।'

—'इतने दिन हमारे राजा के भाई कहां थे?'

—'भरत क्षेत्र के छह खण्डों को जय करने गए थे।'

—'अब उन्हें भाई को बुलाने की इच्छा क्यों हुई?'

—'अन्य सामान्य राजाओं की तरह उनसे भी सेवा करवाना चाहते हैं।'

—'सब राजाओं को जय कर अब वे लौह के कांटों (शूल) पर क्यों चढ़ना चाहते हैं?'

—'इसका कारण है अखण्ड चक्रवर्तीत्व का अभिमान।'

—'छोटे भाई से पराजित होकर वे राजा अन्य को अपना मुंह कैसे दिखाएंगे?'

—'सर्वत्र विधि उदयकि भविष्य में पराजय की बात नहीं सोचता।'

—'राजा भरत के मन्त्रियों में तब क्या चूहे जैसी बुद्धि भी किसी में नहीं है?'

—'उनके कुलक्रम से आए हुए अनेक बुद्धिमान मन्त्री है।'

—'तब मन्त्रियों ने भरत को सर्प का सिर खुजलाने से क्यों मना नहीं किया?'

—'निवारण करना तो दूर वे उन्हें और उत्साहित कर रहे हैं। भवितव्यता ही ऐसी है।' (श्लोक १६५-१७३)

नगरवासियों की ये सब बातें सुनते-सुनते सुवेग नगर से बाहर निकला। नगरद्वार के निकट मानो देवताओं द्वारा प्रसारित किया जा रहा हो ऐसी ऋषभदेव के पुत्र की युद्धवार्ता इतिहास की तरह सुनी। क्रोध भरा सुवेग जैसे-जैसे अग्रसर होता गया वैसे-वैसे मानो इसकी स्पर्द्धा कर युद्धवार्ता भी आगे की ओर विस्तृत होती गई। केवल वार्ता सुनकर ही राजाज्ञा की तरह प्रत्येक ग्राम, प्रत्येक नगर के योद्धागण युद्ध के लिए प्रस्तुत होने लगे। योगी जैसे शरीर को मजबूत बनाता है उसी प्रकार कोई युद्ध का रथ बाहर कर नवीन धुरी आदि लगाकर उसे मजबूत बनाने लगा। कोई अपने घोड़े को अश्वशाला से बाहर निकालकर अश्वशिक्षा के लिए बने

क्षेत्र में ले जाकर उसे पांच प्रकार की गतियों से चलाकर युद्धोपयोगी कर उसका श्रम दूर करने लगा। कोई मानो प्रभु की तेजोमय मूर्ति-सी अपने खड्ग आदि आयुधों को शान पर चढ़ाकर और तीक्ष्ण करने लगा। कोई युद्ध-यात्रा के समय कवचादि वहन करने के लिए ध्वनिकारी वाद्ययन्त्र-से जंगली ऊंट पकड़-पकड़ कर लाने लगा। तार्किक पुरुष जिस प्रकार सिद्धान्त को दृढ़ करता है उसी प्रकार कोई अपना तीर, कोई तूणीर, कोई शिरस्त्राण, कोई कवच आदि को विशेष भाव से दृढ़ और मजबूत बनाने लगा। कोई गन्धर्व नगर से पड़े हुए तम्बू और कनातों को फैलाने लगा। मानो एक-दूसरे से स्पर्द्धा करते हों ऐसे बाहुबली के प्रति प्रेमवश वे नागरिक युद्ध के लिए इस प्रकार तैयार होने लगे। राजा की भक्तिवश युद्ध में जाने को प्रस्तुत किसी व्यक्ति को यदि उसका कोई आत्मीय निवारित करता तो वह उस पर इस प्रकार क्रुद्ध हो जाता मानो वह उसका कोई नहीं। अनुरागवश राजा के मंगल के लिए अपना प्राण देने को प्रस्तुत लोगों के ऐसे उद्यम राह में चलते हुए सुवेग ने देखे। (श्लोक १७४-१८७)

युद्ध की बात सुनकर और लोगों को प्रस्तुत होते देख बाहुबली के भक्त पार्वत्य राजागण भी उनके निकट आए। गोधों की पुकार सुनकर गायें जिस प्रकार दौड़ी आती हैं उसी प्रकार उक्त राजाओं की शुभ्र ध्वनि सुनकर हजार-हजार किरात निकुञ्जों से निकल पड़े। इन सभी बलवान किरातों में कोई बाघ की पूंछ की चर्म से, कोई मयूर पुच्छ से, कोई लता से, अपने केशों को शीघ्रतापूर्वक बांधने लगा। कोई सर्प चर्म से, कोई वृक्ष छाल से, कोई गायों के तन्तु से अपने शरीर में पहने मृगचर्म को सुदृढ़ करने लगा। बन्दरों की तरह हाथों में प्रस्तरखण्ड और धनुष लिए प्रभु-भक्त श्वानों की तरह वे उछलते-उछलते अपने-अपने स्वामियों के समीप पहुंच कर एकत्र होने लगे। वे परस्पर कहने लगे—'हम भरत की सेना को समूल नष्ट कर महाराज बाहुबली के उपकार का अनुदान देंगे।' (श्लोक १८८-१९३)

उनके इस प्रकार क्रोध भरे कार्य-कलापों को देखकर सुवेग विवेक बुद्धि से सोचने लगा—बाहुबली के अधीनस्थ उनके देश के मनुष्य युद्ध के लिए इस भांति शीघ्रतापूर्वक तैयार हो रहे हैं मानो

उन्हें अपना पितृ-वैर का बदला चुकाना है। बाहुबली की सेना के अग्रभाग में युद्धाभिलाषी ये किरात ही इस ओर जो हमारी सेना आएगी उनके विनाश के लिए पर्याप्त हो रहे हैं। यहां तो मुझे एक व्यक्ति भी ऐसा दिखाई नहीं पड़ा जो युद्ध के लिए तैयार नहीं और बाहुबली का भक्त नहीं। यहां के तो हल चलाने वाले किसान भी वीर और स्वामिभक्त हैं। यह इस भूमि का प्रभाव है या बाहुबली के गुणों का? सामन्त और सैनिकों को तो वशीभूत किया जा सकता है; किन्तु यहां की तो धरती ही बाहुबली के गुणों से आकृष्ट होकर उनकी पत्नी बन गई है। मुझे तो लगता है बाहुबली की सेना के सम्मुख चक्री की सेना तो अग्नि के सम्मुख घास के गट्ठर-सी है। बाहुबली की सेना के आगे चक्री की सेना तुच्छ है। महावीर बाहुबली के सम्मुख चक्री स्वयं ही ऐसे लगते हैं जैसे अष्टापद के सम्मुख हस्ती शावक। यद्यपि पृथ्वी पर चक्रवर्ती और स्वर्ग में इन्द्र बलवान होते हैं; किन्तु मुझे तो ऋषभदेव के ये कनिष्ठ पुत्र बाहुबली ही दोनों के अन्तर्वर्ती या दोनों के उर्ध्ववर्ती अर्थात् दोनों से अधिक मालूम होते हैं। बाहुबली की एक थप्पड़ के आगे चक्री का चक्र और इन्द्र का वज्र निष्फल है। इस बाहुबली से विरोध करना तो भालू के कान पकड़ना और सर्प की मुष्ठि में लेने जैसा है। बाघ जैसे एक मृग को पकड़कर सन्तुष्ट हो जाता है उसी प्रकार इस सामान्य भूमि को लेकर ही सन्तुष्ट बने बाहुबली का अपमान करना व्यर्थ ही शत्रु बनाना है। अनेक राजाओं की सेवाओं से भी सन्तुष्ट न होकर बाहुबली को सेवा के लिए बुलाना तो केशरी सिंह को वाहन होने के लिए आमन्त्रित करना है। स्वामी के हिताकांक्षी मन्त्रियों सहित मुझे भी धिक्कार है जो मैंने शत्रु-सा आचरण किया। लोग कहेंगे सुवेग ने ही वहां जाकर लड़ाई करवाई है। हाय, गुणों को दूषित करने वाले इस दौत्य कर्म को ही धिक्कार है। राह में इसी प्रकार सोचता-विचारता सुवेग कई दिनों पश्चात् अयोध्या पहुंचा। द्वारी उसे सभागृह में ले गया। वहां चक्री को प्रणाम कर करबद्ध होकर सुवेग उनके सम्मुख जा बैठा। तब चक्री ने पूछा—

'सुवेग मेरा अनुज बाहुबली कुशल तो है न? तुम बहुत जल्दी लौट आए इसलिए मैं क्षुब्ध हूं। क्या बाहुबली ने तुम्हारा अपमान किया है जो तुम इतनी जल्दी लौट आए? मेरे भाई की

वीरवृत्ति दूषित होते हुए भी यह उसके योग्य ही है।'
(श्लोक १९४-२१२)

सुवेग बोला—'देव, आपके समान अत्यन्त पराक्रमशाली बाहुबली को क्षति पहुँचाए ऐसी शक्ति तो देवों में भी नहीं है। वे आपके अनुज हैं यही सोचकर मैंने पहले उन्हें यहाँ आपकी सेवा में आने के लिए हितकारी वचन विनीत भाव से कहे। तदुपरान्त औषधि की तरह तीव्र; किन्तु परिणाम में हितकारी ऐसे-ऐसे कठोर वाक्य कहे; किन्तु उन्होंने न मधुर वचनों से न कटु वचनों से आपकी सेवा करना स्वीकार किया। कारण, जब मनुष्य को सन्निपात हो जाता है तब कोई औषधि काम नहीं करती। बलवान बाहुबली इतने अहंकारी हैं कि वे त्रिलोक को तृणवत् समझते हैं और सिंह की तरह कोई उनका प्रतिद्वन्द्वी हो सकता है यह स्वीकार नहीं करते। मैंने जब सुषेण सेनापति और आपकी बात बतायी तो मानो आप दोनों किसी गिनती में ही नहीं हैं यह प्रकट करने के लिए इस प्रकार नाक को संकुचित किया जैसे दुर्गन्ध से नाक संकुचित हो जाती है। जब मैंने कहा—'महाराज भरत ने छह खण्ड पृथ्वी को जीत लिया है' तो सारी बात सुनकर अपने भुजदण्डों पर दृष्टिपात करते हुए बोले—'मैं तो अपने पितृ-प्रदत्त राज्य में ही सन्तुष्ट हूँ। इसलिए उधर ध्यान ही नहीं दिया तभी तो भरत ने छह खण्ड पृथ्वी को जय कर लिया।' सेवा करना तो दूर, निर्भय होकर बाघिन को दुहने के लिए बुलवाने की तरह आपको युद्ध के लिए बुला रहे हैं। आपके भाई ऐसे पराक्रमी, मानी और बलवान हैं कि वे गन्धहस्ती की भाँति असह्य हैं। वे अन्य किसी के वीरत्व को सहन नहीं कर सकते। उनकी सभा में इन्द्र के सामानिक देवों की तरह सामन्त राजा भी महापराक्रमी हैं। इसीलिए उनके अभिप्राय भी उनसे भिन्न नहीं हैं। उनके राजकुमार भी राजोचित तेज के अभिमानी हैं। युद्ध के लिए उनके हाथ खुजला रहे हैं। लगता है बाहुबली से दस गुणा अधिक बलवान वे हैं। उनके अभिमानी मन्त्री भी वैसे ही विचार सम्पन्न हैं। कहा भी गया है—जैसा स्वामी होता है वैसा ही उसका परिवार होता है। सती स्त्री जिस प्रकार पर पुरुष को सहन नहीं कर सकती उसी प्रकार उनकी अनुरागी प्रजा इतना भी नहीं जानती कि संसार में और भी कोई राजा है। जो कर देते हैं, जो बेगारी खटते हैं और उस देश के अन्य जनसाधारण भी अपने राजा

के लिए प्राण तक देने को प्रस्तुत हैं। सिंह की तरह वन और पर्वतों पर रहने वाले वीर भी उनके वश में हैं। वे चाहते हैं कि उनके राजा का सम्मान किसी भी प्रकार नष्ट न हो। हे स्वामिन्, और अधिक क्या कहूं, महावीर को देखने की इच्छा से नहीं, युद्ध की इच्छा से वे आपको देखना चाहते हैं। अब आप जैसा उचित समझें करें। कारण, दूत मन्त्री नहीं होता वह तो केवल सन्देश मात्र पहुंचाता है।' (श्लोक २१३-२३०)

यह सुनकर राजा नट की तरह एक ही साथ आश्चर्य क्रोध और हर्ष का अभिनय करते हुए बोले—'बचपन में खेलते समय मैंने अनुभव किया है कि बाहुबली के समान संसार में सुर-असुर और मानव कोई नहीं है। त्रिलोक के स्वामी का पुत्र और मेरा अनुज त्रिलोक को तृणवत् समझता है यह उसके लिए अतिशयोक्ति नहीं, सत्य है। ऐसे अनुज के लिए मैं भी प्रशंसा का अधिकारी हूं। कारण, एक हाथ छोटा हो और दूसरा बड़ा तो वह शोभा नहीं देता। यदि सिंह बन्धन स्वीकार करे और अष्टापद वशीभूत हो जाए तो बाहुबली को भी वश में किया जा सकता है। यदि इसे वश में कर लिया जाए तो शेष ही क्या रह जाएगा? उसका अविनय मैं सहन करूंगा। इसके लिए लोग मुझे दुर्बल कहें तो कहें। समस्त वस्तुएं पुरुषार्थ व धन से प्राप्त की जा सकती हैं; परन्तु भाई, विशेषकर ऐसा भाई किसी प्रकार भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। हे मन्त्रीगण, मैंने जो कुछ कहा वह मेरे योग्य है या नहीं कहो? तुम लोगों ने वैरागियों की तरह क्यों मौन धारण कर रखा है? जो यथार्थ है प्रकट करो।' (श्लोक २३१-२३८)

बाहुबली का ऐसा अविनय और स्व-स्वामी का ऐसा क्षमा-युक्त कथन सुनकर मानो आघात से दुःखित हों इस प्रकार सेनापति सुषेण बोले—'ऋषभनाथ स्वामी के पुत्र भरत के लिए क्षमा सर्वथा योग्य है; किन्तु क्षमा करुणा के पात्र के लिए ही होना उचित है। जो जिसके ग्राम में रहता है वह उसके वश में रहता है; किन्तु बाहुबली आपके राज्य में रहते हुए वचन से भी आपके वश में नहीं है। प्राण नाशकारी होने पर भी प्रतापी शत्रु अच्छा है; किन्तु प्रताप-नाशकारी भाई अच्छा नहीं है। राजा अर्थ, सैन्य, मित्र, पुत्र यहां तक कि अपना शरीर देकर भी स्व-प्रताप की रक्षा करते हैं।

कारण, प्रताप ही उनका जीवन है। आपका अपना राज्य क्या कम था जो आपने छह खण्ड पृथ्वी को जय किया ? केवल अपने प्रताप के लिए ही तो ? जिस प्रकार एक बार शीलभंगकारी सती को असती ही कहा जाता है उसी प्रकार एक स्थान पर विनष्ट प्रताप भी विनष्ट ही कहा जाता है। गृहस्थों में सभी भाइयों को द्रव्य समान रूप से दिया जाता है; किन्तु प्रधानमन्त्री भाई की अन्य भाई उपेक्षा नहीं करते। समस्त भरतखण्ड को जय करने के पश्चात् इस बार आपकी पराजय समुद्र पार कर गोपद जल में डूब मरने जैसी है। कहीं सुना गया है या देखा गया है कि राज्य-चक्रवर्ती का प्रतिस्पर्द्धी बनकर कोई राज्य करता है ? हे प्रभु, अविनयी के प्रति भ्रातृ-प्रेम रखना एक हाथ से ताली बजाने जैसा है। गणिका तुल्य स्नेहरहित बाहुबली पर राजा भरत स्नेहपरायण है ऐसा कहकर आप हमें रोक सकते हैं; किन्तु समस्त शत्रुओं को जय कर ही मैं अयोध्या नगरी में प्रवेश करूँगा। ऐसे निश्चयकारी चक्र को आप निवारित करेंगे अर्थात् समझायेंगे ? भ्राता रूपी शत्रु बाहुबली की उपेक्षा किसी प्रकार उचित नहीं है। इस सम्बन्ध में आप अन्य मन्त्रियों का मत भी पूछिए।' (श्लोक २३९-२५२)

सुषेण का कथन सुनकर महाराज ने अन्य मन्त्रियों की ओर देखा। तब वाचस्पति-से ज्ञानी मुख्यमन्त्री बोले—'सेनापति ने जो कुछ कहा है ठीक ही कहा है—ऐसा कहने का साहस अन्य किसी में भी नहीं है। जो पराक्रम और प्रयत्न के भीरु होते हैं वे ही स्वामी के प्रताप की उपेक्षा करते हैं। स्वामी जब स्व-प्रताप के लिए आज्ञा देते हैं तब सामान्य अधिकारीगण प्रायः स्वार्थानुसार उत्तर देते हैं और अपने व्यसन की वृद्धि करते हैं; किन्तु सेनापति तो वायु जिस प्रकार अग्नि को वर्द्धित करती है उसी प्रकार आपके प्रताप को ही वर्द्धित कर रहे हैं। हे स्वामिन्, सेनापति चक्ररत्न की तरह अपराजित एक भी शत्रु रहते सन्तुष्ट नहीं होंगे। अतः अब आप देरी न करें। जिस प्रकार आपकी आज्ञा से सेनापति हाथ में दण्ड लेकर शत्रु को वित्ताड़ित करते हैं उसी प्रकार प्रयाण भेरी बजवाइए। सुधोषा के शब्द से जैसे सभी देव एकत्र हो जाते हैं उसी भाँति प्रयाण भेरी के शब्द से वाहन और परिवार सहित सैनिक उपस्थित हो जाएँ और सूर्य की तरह उत्तर दिशा में अवस्थित तक्षशिला को

और प्रताप की अभिवृद्धि के लिए आप प्रयाण करें। आप स्वयं आकर भाई का स्नेह अवलोकन करिए एवं देखिए सुवेग का कथन सत्य है या नहीं।' (श्लोक २५३-२६१)

'तब ऐसा ही हो' कहकर भरत ने मुख्यमन्त्री की मन्त्रणा स्वीकार कर ली। कारण, बुद्धिमान व्यक्ति दूसरों के युक्तिसंगत वचनों को स्वीकार कर लेते हैं। फिर शुभ दिन और मुहूर्त्त देखकर यात्रा-मंगल कर महाराज ने प्रयाण के लिए पर्वत तुल्य उच्च हस्ती पर आरोहण किया। जैसे अन्य राजा की सेना हो इस प्रकार हजार-हजार सेवक रथ पर, घोड़े पर और हस्ती पर आरोहण कर प्रयाण-वाद्य बजाने लगे। समान ताल से बजाए हुए शब्द से सङ्गीतकार जिस प्रकार एकत्र होते हैं उसी प्रकार उस प्रयाण-वाद्य को सुनकर समस्त सैनिक एकत्र हुए। राजा, मन्त्री, सामन्त और सेनापति से परिवृत्त महाराज ने जैसे बहुरूप धारण किया है इस प्रकार नगर से निकले। [illegible] मानो सेनापति हो इस प्रकार आगे-आगे चला। महाराज की प्रयाण वार्ता को सूचित करने के लिए धूल उड़-उड़कर चारों ओर व्याप्त हो गई। ऐसा लगा मानो वह शत्रु का गुप्तचर है। उस समय लक्ष-लक्ष हस्तियों को चलता देखकर लगा जहां हस्ती जनमते हैं वहां अब और हस्ती नहीं रहे। घोड़े, रथ, खच्चर और ऊंटों को देखकर लगा—पृथ्वी पर अन्यत्र कहीं वाहन रहा ही नहीं। समुद्र देखने के समय जिस प्रकार समस्त जगत् जलमय लगता है उसी प्रकार पदातिक सेना को देखकर लगा—समस्त जगत् मनुष्यमय है। पथ अतिक्रम करते समय महाराज ने प्रत्येक नगर में, प्रत्येक ग्राम में, पथ पर यह बात सुनी—'इस राजा ने एक क्षेत्र की तरह समस्त क्षेत्र को जय कर लिया है। मुनि जिस प्रकार चौदह पूर्व को प्राप्त करते हैं इन्होंने उसी प्रकार चौदह रत्न प्राप्त किए हैं। अस्त्र-सी नवनिधि भी इनके वशीभूत है। इतना सब कुछ प्राप्त होने पर भी महाराज किस दिशा में और किस लिए जा रहे है? लगता है अपना देश देखने जा रहे हैं; किन्तु शत्रुओं को जीतने वाला चक्ररत्न इनके आगे-आगे क्यों चल रहा है? दिशा को देख कर तो लगता है ये बाहुबली को जीतने जा रहे हैं। ठीक ही कहा गया है—महान् व्यक्तियों का कषाय भी वेगवान होता है। सुनते हैं बाहुबली तो देव और असुरों के लिए भी अजेय हैं। इससे लगता है

उन्हें जीतने की इच्छा करने वाले ये राजा अंगुली से मेरु को धारण करने की इच्छा कर रहे हैं। इस युद्ध में यदि छोटे भाई ने बड़े भाई पर या बड़े भाई ने छोटे पर विजय प्राप्त की तो दोनों ही अवस्था में महाराज अपयश के भागी होंगे।' (श्लोक २६२-२७८)

सैन्य की पदरज ने मानो विन्ध्य पर्वत हो इस प्रकार चारों ओर अन्धकार व्याप्त करते हुए, अश्वों की हिनहिनाहट एवं हस्तियों की [illegible] खट-खट शब्द से प्रानक नामक वाद्य की तरह दिक्समूह को गुंजित करते हुए, ग्रीष्मकालीन सूर्य की तरह पथ पार्श्वस्थ सरिताओं को शुष्क करते हुए, प्रबल अन्धड़ की तरह निकटस्थ वृक्षों को उखाड़ते हुए, सोने के ध्वज-पटों से आकाश को बलाकामय करते हुए, सैन्य भार से प्रपीड़ित पृथ्वी को हाथी के मद-जल से शान्त करते हुए और प्रतिदिन चक्र के अनुरूप चलते हुए महाराज सूर्य जिस प्रकार अन्य राशि में जाता है उसी प्रकार बहली देश में जा उपस्थित हुए और सीमान्त पर छावनी डालकर समुद्र की भांति मर्यादा की रक्षा करते हुए वहां स्थित हो गए। (श्लोक २७९-२८४)

उसी समय सुनन्दा पुत्र बाहुबली राजनीति रूप गृह स्तम्भ की तरह गुप्तचरों द्वारा चक्री के आगमन की सूचना से अवगत हुए। उन्होंने भी प्रयाणकालीन भेरी बजवाई। उसकी ध्वनि स्वर्ग भेरी-सी प्रतीत हुई। प्रस्थान मंगल कर मानो मूर्तिमान कल्याण हों इस प्रकार गजेन्द्र पर जैसे स्वयं ही उत्साह हो इस प्रकार आरोहित महाबलवान, महाउत्साही समान कार्य में रत अन्य के लिए अभेद्य मानो बाहुबली के ही अंश हों ऐसे राजकुमार, प्रधान और वीर पुरुष परिवृत्त बाहुबली देवताओं द्वारा परिवृत्त इन्द्र की तरह सुशोभित हुए। जैसे उनके मन में ही निवास करते हों ऐसे लक्ष-लक्ष योद्धा कोई हस्तीपृष्ठ पर, कोई अश्व पर, कोई रथ पर, कोई पैदल चल कर उसी समय एक साथ बाहर निकले। अपने अमोघ अस्त्र से बलवान पुरुषों ने मानो एक वीरमय पृथ्वी की रचना की हो इस प्रकार अचल निश्चयकारी बाहुबली ने प्रस्थान किया। प्रत्येक चाहते थे कि विजय में कोई उनका हिस्सेदार न हो। अतः उनके सैनिक परस्पर बोल रहे थे—'मैं अकेला ही समस्त शत्रुओं को जीत सकूंगा। रोहिणाचल के समस्त कंकर ही मणि होते हैं इस भांति

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सेना में रणवाद्य बजाने वाले भी वीराभिमानी थे। चन्द्रतुल्य कांति-सम्पन्न माण्डलिक राजाओं के छत्र से आकाश श्वेत कमल पूर्ण-सा लगता था। प्रत्येक पराक्रमी राजा को देखते हुए उन्हें स्व बाहु रूप समझते हुए वे अग्रसर हो रहे थे। पथ पर चलते सैनिकों से मानो बाहुबली पृथ्वी को ध्वंस करने और जय वाद्य से आकाश को फोड़ने लगे। यद्यपि देश की सीमा दूर थी फिर भी वे उसी मुहूर्त्त में वहां जा पहुंचे। कारण, युद्ध के लिए उत्सुक वायु की तरह वेगवान होता है। बाहुबली ने गङ्गा तट पर ऐसी जगह छावनी डाली जो कि भरत की छावनी से न अधिक दूर थी न अधिक निकट।

(श्लोक २८५-२९८)

सुबह चारण और भाटों ने अतिथि की तरह उन दोनों ऋषभ-पुत्रों को युद्ध के लिए आमन्त्रित किया। रात के समय बाहुबली ने समस्त राजाओं के परामर्श से सिंह-से शक्तिशाली अपने पुत्र सिंहरथ को सेनापति के पद पर नियुक्त किया और मदमस्त हस्ती की तरह उसके मस्तक पर मानो प्रकाशमान प्रताप हो ऐसा देदीप्यमान एक स्वर्ण रण-पट्ट आरोपित किया। वह राजा को प्रणाम कर युद्ध विषयक उपदेश प्राप्त कर मानो पृथ्वी ही प्राप्त हो गई हो इस प्रकार आनन्दित बना अपने स्कन्धावार को लौट गया। महाराज बाहुबली ने अन्य राजाओं को भी युद्ध की आज्ञा देकर विदा किया। वे स्वयं ही युद्ध की इच्छा रखते थे फिर भी स्वामी की आज्ञा—सत्कारपूर्वक स्वीकार की। (श्लोक २९९-३०३)

उधर महाराज भरत ने भी रात को ही राजकुमार, राजा और सामन्तों की सम्मति लेकर आचार्य की तरह सुषेण को रण-दीक्षा दी अर्थात् सेनापति पद पर नियुक्त किया। सिद्धि मन्त्र की तरह स्वामी की आज्ञा स्वीकार कर चक्रवाक की तरह प्रभात की प्रतीक्षा करते हुए सुषेण निज स्कन्धावार को लौट गया। कुमार एवं मुकुटधारी समस्त राजाओं और सामन्तों को बुलाकर भरत ने आज्ञा दी—'वीरो, मेरे छोटे भाई के साथ जो युद्ध होगा उसमें जिस प्रकार तुम लोग मेरी आज्ञापालन करते हो उसी प्रकार सतर्कतापूर्वक सेनापति सुषेण की आज्ञा का पालन करना। हे पराक्रमी वीरगण, महावत जैसे हाथी को वश में करता है उसी प्रकार तुम लोगों ने भी अनेक पराक्रमी और दुर्मद राजाओं को वश में किया है और वैताढ्य पर्वत पार कर जैसे देवता लोग असुरों को

जय करते हैं उसी प्रकार दुर्जय किरातों को तुमने अपने पराक्रम से जय किया है; किन्तु उनमें एक भी ऐसा नहीं था जिसकी तक्षशिला के राजा बाहुबली के सामान्य पदातिक से तुलना की जा सके। बाहुबली का ज्येष्ठ पुत्र सोमयश अकेला ही हवा जैसे रूई को उड़ा देने में समर्थ है उसी प्रकार समस्त सैन्य को दशों दिशाओं में उड़ा देने में समर्थ है। उसका कनिष्ठ पुत्र सिंहरथ उम्र में छोटा है किन्तु पराक्रम में अकनिष्ठ। वह शत्रु सेना के मध्य दावानल-सा है। अधिक क्या कहूं उसके अन्य पुत्र और पौत्र प्रत्येक-प्रत्येक एक-एक अक्षौहिणी सेना के लिए मल्ल की तरह हैं और यमराज के हृदय को भयभीत बना देने वाले हैं। उसके स्वामिभक्त सामन्तगण उसके प्रतिबिम्ब ही हैं ऐसे उसके ही सन्तान [illegible] हैं, अन्य [illegible] सैन्यदल में तो अग्रणी एक महाबलवान रहता है; किन्तु उसकी सेना में तो सभी महाबलवान हैं। युद्ध में महाबली बाहुबली तो दूर उसका एक सैन्य-व्यूह भी अभेद्य है। इसलिए वर्षाऋतु में मेघ के साथ जैसे पूर्व दिशा की हवा प्रवाहित होती है उसी प्रकार युद्ध में जाने वाले सुषेण के साथ तुम लोग जाओ। (श्लोक ३०४-११७)

अपने स्वामी के अमृत वचनों से मानों पूर्ण बन गए हों इस प्रकार उनके शरीर पुलकावली से व्याप्त हो गए अर्थात् उनके शरीर रोमांचित हो गए। महाराज ने उन्हें विदा दी। वे इस प्रकार अपने स्कन्धावार की ओर गए जैसे विरोधी वीरों की जय-लक्ष्मी को पाने के लिए स्वयंवर मण्डप में गए हों। दोनों ऋषभ पुत्रों के कृपारूप समुद्र से पार होने के लिए अर्थात् कृपारूपी ऋण परिशोध करने की इच्छा वाले उभय पक्ष के वीरश्रेष्ठ उस युद्ध के लिए प्रस्तुत हो गए। वे अपने-अपने कृपाण, धनुष, तूणीर, गदा, आदि को देवता की तरह पूजा करने लगे। उत्साह से नृत्य करते हुए अपने चित्त के साथ ताल दे रहे हों इस प्रकार वे महावीर आयुधों के सम्मुख जोर-जोर से वाद्य बजाने लगे। फिर जैसे उनके निर्मल यश हों ऐसे नवीन और सुगन्धित उबटन अपने शरीर में लेपन करने लगे। मस्तक पर बँधे वीरपट्ट की तरह ही कस्तूरी बिन्दु अपने-अपने ललाट पर अंकित करने लगे। दोनों दलों में युद्ध की बातचीत हो रही थी इसलिए शस्त्र सम्बन्धी जागरणकारी वीर सैनिकों से मानो डर गई हों ऐसी नींद नहीं आई। सुबह जो युद्ध होगा उसमें वीरत्व दिखाने के उत्साही वीर योद्धाओं को वह तीन

प्रहर की रात सौ प्रहर वाली हो ऐसी लगने लगी। किसी प्रकार उन्होंने वह रात्रि व्यतीत की। (श्लोक ३१८-३२६)

सुबह होते ही सूर्य ने इस प्रकार उदयाचल के शिखर पर आरोहण किया मानो वह अहंकार-दुर्ग की रक्षा-खाई पर कौतुक देखना चाहता हो। अतः उभयपक्षों के सैन्य दल ने प्रभात समझकर जोर-जोर से रणवाद्य बजाना प्रारम्भ कर दिया। वह शब्द मन्दराचल से आहत समुद्र-सा अर्थात् समुद्रगर्जन-सा या प्रलयकालीन पुष्करावर्त मेघगर्जन-सा अथवा वज्राघात के कारण पर्वत से निकलने वाले शब्द-सा था। रणवाद्य के उस शब्द से दिक्समूह के हस्ती व्याकुल हो उठे एवं उनके कान खड़े हो गए। जल-जन्तु भयभीत हो गए, समुद्र क्षुब्ध हो गया, क्रूर प्राणी चारों ओर से दौड़ते हुए आकर गुफाओं में आश्रय लेने लगे। बड़े-बड़े सांप बिवर में प्रवेश करने लगे। पर्वत कम्पित हो उठे और उनके शिखर टूट-टूटकर गिरने लगे। पृथ्वी को धारण करने वाले कूर्मराज भय के मारे अपने कण्ठ और पांवों को सिकोड़ने लगे। ऐसा लगा मानो आकाश ध्वस हो रहा है। धरती फटी जा रही है। राजा के द्वारपाल की तरह वाद्य से प्रेरित होकर दोनों पक्षों की सेनाएं युद्ध के लिए प्रस्तुत होने लगीं। युद्ध के उन्माद से उनके शरीर उत्साह में फूल उठे। फलतः कवच की डोरियां टूटने लगीं। अतः वीर सेनानी उन्हें हटाकर नवीन कवच पहनने लगे। कोई प्रेमवश अपने अश्व को कवच पहनने लगा। कारण, वीर पुरुष स्वयं से अधिक अपने वाहन की रक्षा करते हैं। कोई अपने अश्व की जांच करने के लिए उस पर चढ़कर उसे घुमाने लगा क्योंकि अशिक्षित और जड़ घोड़ा आरोही के लिए शत्रु समान होता है। कवच पहनाने के पश्चात् हर्षकारी घोड़ों को कुछ सैनिक देवताओं की तरह पूजने लगे। कहा गया है—युद्ध में हर्ष जय को सूचित करता है। जिन्हें कवच रहित घोड़े मिले वे अपने कवच भी उतार-उतार कर रखने लगे। कारण, पराक्रमी पुरुषों का वीर-व्रत ऐसा ही होता है। किसी-किसी ने अपने सारथी से कहा—समुद्र में मछली की तरह, रणक्षेत्र में रथ को इस प्रकार चलाना कि वह कहीं रुके नहीं। यात्री जिस प्रकार पूरा पाथेय लेकर चलते हैं उसी प्रकार कितने ही वीर यह सोचकर कि युद्ध बहुत दिन चलेगा अपने रथों को अस्त्र-शस्त्रों से भरने लगे। कोई स्वचिह्नांकित ध्वजा को इस प्रकार स्तम्भ से

बांधने लगे कि दूर से ही वे पहचाने जा सकें। कोई मजबूत घुरी युक्त रथों में शत्रु सैन्य रूपी समुद्र में राह बनाने के लिए जलकान्त रत्न से घोड़े जोतने लगे। कोई अपने सारथियों को मजबूत कवच देने लगे। कारण, बिना सारथी के अश्वयुक्त रथ भी बेकार हो जाते हैं। कोई लौह कंकण श्रेणी के सम्पर्क से अर्थात् हाथी दांत पर जो लौह कंकण पहराया जाता है उससे कठोर बने हस्ती दन्तों की अपनी भुजा की तरह पूजा करने लगे। कोई भविष्य में जय-लक्ष्मी के निवास स्थान से ध्वजायुक्त हौदे हस्तियों पर बांधने लगे। कोई हस्तीगण्ड से तत्काल प्रवाहित मद को शुभ शकुन समझ कर कस्तूरी की तरह उससे तिलक करने लगे। कोई मानो हस्तीमद के गन्ध से भरी वायु को सहन न कर पा रहे हों ऐसी भावना से महा-दुर्धर मन रूपी हाथियों पर आरोहण करने लगे। सभी महावत मानो रणोत्सव के शृङ्गार वस्त्र हों ऐसे स्वर्णवलय हाथियों को पहराने लगे। किसी-किसी ने हस्ती सूंड से भी ऊंचे नलयुक्त नीलकमल की शोभा धारण करने वाले अर्थात् देखने में नीलकमल से लौह मुद्गर भी हाथी के दांतों पर बांधे। कोई महावत कृष्णलौह के तीक्ष्ण आच्छादन हाथी दांत पर पहराने लगे जिससे वे यमराज के दन्तों से लगने लगे। (श्लोक ३२७-३५१)

इसी समय राज्य अधिकारीगण आदेश देने लगे—'सैन्यदल के पीछे अस्त्र-शस्त्र भरी गाड़ियां एवं माल लदे ऊँट शीघ्र ले आओ अन्यथा क्षिप्रशस्त्रनिक्षेपकारी वीरों के पास अस्त्र नहीं रहेंगे। कवच लदे ऊँटों को भी ले आओ। कारण, अनवरत युद्धरत सैनिकों के पहने हुए कवच टूटेंगे। रथियों के पीछे दूसरे प्रस्तुत रथ ले आओ। कारण, अस्त्र प्रहार से रथ इस प्रकार टूट जाते हैं जैसे पर्वत आघातों से। आगे के अश्वों के क्लान्त हो जाने पर अश्वारोही अन्य अश्व पर आरोहण कर युद्ध जारी रख सकें इसलिए शत-शत अश्व अश्वा-रोहियों के पीछे ले जाने के लिए तैयार करो। प्रत्येक मुकुटबद्ध राजा के पीछे जाने के लिए हाथियों को सज्जित करो। क्योंकि युद्ध में एक हस्ती से काम नहीं चलता। सैनिकों के पीछे जल ले जाने के लिए बैल प्रस्तुत करो। कारण, युद्ध के श्रमरूपी, ग्रीष्म ऋतु के ताप से तपे वीरों के लिए वे प्रपालिकाओं के कार्य करेंगे। ओषधि-पति चन्द्रमा के भण्डार तुल्य और हिमगिरि के सार रूप सद्यः प्रस्तुत व्रणसंरोहिणी ओषधों के थैले उठाओ।' (श्लो० ३५२-३५८)

इस प्रकार इनके कोलाहल से रणवाद्य के शब्द रूप महा-सागर में ज्वार आ गया। उस समस्त संसार चारों ओर से आते शब्दों से शब्दमय और चमकते अस्त्रों-शस्त्रों से जैसे लौहमय हो ऐसा लगने लगा। मानो अपनी आंखों से देखा हो ऐसे प्राचीन पुरुषों के चरित्र स्मरण करवाने वाले, व्यास की तरह रण निर्वाह की अर्थात् भली भांति किए हुए युद्ध फल का वर्णन करने वाले, नारद ऋषि की तरह सैनिकों को उत्साहित करने के लिए युद्ध में आगत शत्रुपक्ष के वीरों की प्रशंसा करने वाले, चारण भाट प्रत्येक रथ और प्रत्येक अश्व के पास पर्व दिनों की तरह जाने लगे और उच्च स्वर में प्रशंसा गीत गाते हुए निर्भय बने रणक्षेत्र में घूमने लगे। (श्लोक ३५९-३६३)

इधर राजा बाहुबली स्नान कर देवपूजा करने के लिए देवालय गए। महापुरुष किसी भी परिस्थिति में घबराते नहीं हैं। देव मन्दिर में जाकर जन्माभिषेक के समय इन्द्र जिस प्रकार प्रभु को स्नान कराते हैं उसी प्रकार बाहुबली ने ऋषभदेव की प्रतिमा को सुगन्धित जल से स्नान कराया। फिर कषायरहित परम श्रद्धा सम्पन्न उन्होंने दिव्य-गन्धयुक्त कषाय वस्त्र से श्रद्धा सहित उस प्रतिमा का मार्जन किया। दिव्य वस्त्रमय कवच की रचना कर रहे हों इस भांति यक्ष कर्दम का लेपन किया और सुगन्ध में देववृक्षों के फूलों की माला की सहोदरा हो ऐसे विचित्र पुष्पों की माला पहनाई। सुवर्ण धूपदानी में दिव्य धूप जलाया। उस धुएं से ऐसा लगा मानो वे कमल से पूजा कर रहे हैं। फिर मकर राशि में सूर्य आ गया है इस प्रकार उत्तरीय वस्त्र से प्रकाशमान आरती को प्रताप की भांति ग्रहण कर प्रभु की आरती की। अन्ततः करबद्ध होकर आदीश्वर भगवान् को प्रणाम कर भक्ति भाव से इस प्रकार स्तुति करने लगे— (श्लोक ३६४-३७१)

'हे सर्वज्ञ, मैं अपना अज्ञान दूर कर आपकी स्तुति करता हूं। कारण, आपके प्रति जो मेरी दुर्वार भक्ति है उसने मुझे वाचाल बना दिया है। हे आदि तीर्थेश, आपकी जय हो। आपके चरण-नखों की कान्ति संसार रूपी शत्रु द्वारा तप्त प्राणी के लिए वज्र निर्मित पिंजरे के तुल्य है। हे देव, आपके चरण-कमलों को देखने के लिए राजहंस की तरह जो सब प्राणी दूर से आते हैं वे धन्य है। शीतार्त व्यक्ति जिस प्रकार सूर्य की शरण लेता है उसी प्रकार इस भयंकर संसार के दुःख से पीड़ित विवेकी पुरुष सर्वदा एक आपकी ही शरण

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महा

में आते हैं। हे भगवन्, जो सानन्द अनिमेष नेत्रों से आपको देखते हैं उनके लिए परलोक में अनिमेष नेत्र (देवता) होना दुर्लभ नहीं है। हे देव, जिस प्रकार कज्जललिप्त रेशमी वस्त्र की मलिनता दूध से स्वच्छ करने पर चली जाती है उसी प्रकार जीवों के कर्ममल आपके देशना-जल से प्रक्षालित होने पर हो जाते हैं। हे स्वामी, सर्वदा 'ऋषभदेव' इसी नाम का जाप किया जाता है। यह जप समस्त सिद्धियों को आकृष्ट करने वाले मन्त्र के समान है। हे भगवन्, जो आपका भक्ति रूपी कवच धारण कर लेता है उस व्यक्ति को न वज्र विद्ध कर सकता है न त्रिशूल छेदन कर सकता है।'

इस भांति भगवान् की स्तुति कर पुलकित देह से प्रभु को नमस्कार कर वे नृपशिरोमणि देवगृह से बाहर आए।

(श्लोक ३७२-३८०)

तदुपरान्त उन्होंने स्वर्ण एवं माणिक्ययुक्त कवच धारण किया। वह विजयलक्ष्मी को वरण करने के लिए धारण किए कंचुक-सा प्रतीत होता था। उस देदीप्यमान कवच से वे ऐसे शोभित होने लगे जैसे सघन विद्रुम से समुद्र शोभित होता है। फिर उन्होंने पर्वतशिखर पर मेघमण्डल की भांति शोभादायी शिरस्त्राण धारण किया। बड़े-बड़े लौहनिर्मित तीर भरे दो तूणीर उन्होंने पीठ पर बांधे। वे ऐसे लग रहे थे मानो सर्प भरा पाताल विवर हो। उन्होंने बाएं हाथ में धनुष धारण किया। वह ऐसा लग रहा था मानो प्रलयकाल में उत्तोलित यमदण्ड हो। इस भांति प्रस्तुत राजा बाहुबली को स्वस्तिवाचक पुरुष 'आपका कल्याण हो' कहकर आशीर्वाद देने लगे। कुल की वृद्ध स्त्रियां 'दीर्घायु बनो, दीर्घायु बनो' कहने लगीं। वृद्ध कुटुम्बी 'आनन्द में रहो, आनन्द में रहो' बोलने और चारण भाट 'चिरंजीवी रहो' उच्च स्वर में कहने लगे। इस प्रकार सबके शुभकामना वाक्य सुनते हुए महाभाग बाहुबली ने आरोहकों का सहारा लेकर हस्तीपृष्ठ पर आरोहण किया जैसे स्वर्गपति मेरु पर्वत पर आरोहण करते हैं। (श्लोक ३८१-३८८)

उधर पुण्य बुद्धि भरत राजा भी शुभ लक्ष्मी के भण्डार तुल्य अपने देवालय में गए। महा महामना भरत राजा ने भी आदिनाथ की प्रतिमा को दिग्विजय के समय लाए हुए पद्मद्रहादि तीर्थों के जल से स्नान करवाया। उत्तम कारीगर जैसे मणि का मार्जन करते हैं

उसी प्रकार देवदूष्य वस्त्र से उन्होंने उस प्रतिमा का मार्जन किया। स्व यश से निर्मल पृथ्वी की भाँति हिमाचलकुमार आदि देवताओं द्वारा दत्त गोशीर्ष चन्दन का उस प्रतिमा पर विलेपन किया। लक्ष्मी के गृह तुल्य कमल से उन्होंने पूजा में नेत्र स्तम्भन की औषधिरूप आंगी रचना की। धूम्रवल्ली से मानो कस्तूरी की पत्रावली चित्रित कर रहे हों इस प्रकार प्रतिमा के सम्मुख धूप किया। मानो समस्त कर्म रूपी समिध का वृहद् अग्निकुण्ड हो ऐसी प्रज्वलित आरती थाल में लेकर प्रभु की आरती की। फिर करबद्ध होकर नमस्कार किया एवं ललाट पर अंजलि रखकर यह स्तुति करने लगे— (श्लोक ३८९-३९६)

'हे जगन्नाथ, मैं अज्ञानी हूं फिर भी स्वयं को योग्य समझकर स्तुति करता हूँ। कारण, बालक की अबोध चहचहाहट भी गुरुजनों को अच्छी ही लगती है। हे प्रभु, जिस प्रकार सिद्धरस के स्पर्श से लोहा सोना हो जाता है उसी प्रकार आपका आश्रयग्रहणकारी प्राणी कठिन कर्म बद्ध होने पर भी सिद्ध हो जाता है। हे स्वामी, वही प्राणी धन्य है जो अपने मन, वचन, काया का फल प्राप्त करने को आपका ध्यान करता है, आपकी स्तुति करता है, आपकी पूजा करता है। हे प्रभो, पृथ्वी पर विचरण करते समय मिट्टी पर पड़ी आपकी चरण-रज मनुष्य के पाप-रूपी वृक्ष को उखाड़ने में हाथी के समान आचरण वाली होती है। हे नाथ, स्वाभाविक मोह में जन्मान्ध सांसारिक प्राणी को विवेक रूपी दृष्टि देने में एक आप ही समर्थ हैं। जैसे मन के लिए मेरु पर्वत दूर नहीं है उसी प्रकार आपके चरण-कमल में भ्रमर की तरह निवास करने वाले मनुष्य के लिए मोक्ष दूर नहीं है। हे देव, जिस प्रकार मेघ-वारि से जामुन वृक्ष के फल झर जाते हैं उसी प्रकार आपकी देशना रूप वाणी से प्राणी के कर्म रूपी बन्धन झर जाते हैं। हे जगन्नाथ, मैं बार-बार प्रणाम कर आपसे यही प्रार्थना करता हूं कि आपकी कृपा से समुद्र के जल की तरह आपके प्रति मेरी भक्ति सर्वदा मेरे हृदय में अवस्थान करे।'

इस प्रकार आदिनाथ की स्तुति कर और भक्तिभाव से उन्हें प्रणाम कर देवालय से बाहर निकले। (श्लोक ३९७-४०५)

फिर बार-बार स्वच्छ कर उज्ज्वल किया कवच चक्री ने

मार्गदर्शक : आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
अपने उमंग भरे शरीर में धारण किया। दिव्य माणिक्यमय कवच धारण कर भरत ऐसे सुशोभित हो रहे थे जैसे माणिक्य द्वारा पूजित देव प्रतिमा शोभा पाती है। मध्य से ऊँचा और छत्र की तरह गोल स्वर्ण रत्न का शिरस्त्राण उन्होंने धारण किया। वह दूर से मुकुट की तरह लग रहा था। सर्प की भाँति अत्यन्त तेज सम्पन्न तीर भरे दो तूणीर उन्होंने पीठ पर बांधे। इन्द्र जिस प्रकार ऋजुरोहित धनुष ग्रहण करता है उसी प्रकार उन्होंने शत्रु के लिए विषम हो ऐसा कालपृष्ठ धनुष अपने बाएँ हाथ में लिया। फिर सूर्य की भांति अन्य तेजस्वियों के तेज को ग्रास करने वाले भद्र गजेन्द्र की तरह क्रीड़ारत पांव फेंकते हुए विचरण करने वाला, सिंह की भाँति शत्रु को तृण तुल्य समझने वाला, सर्प की तरह दुःसह दृष्टि से भयभीत करने वाला, इन्द्र की तरह चारण देवता जिसकी स्तुति कर रहे हैं ऐसे भरत राजा ने निस्तन्द्र गजेन्द्र पर आरोहण किया। (श्लोक ४०६-४१३)

कल्पवृक्ष की तरह याचकों को दान देते-देते सहस्र चक्षु इन्द्र की तरह चारों दिशाओं से आती अपनी सेना देखते-देखते राजहंस जैसे कमलनाल को ग्रहण करता है उसी भाँति एक-एक तीर ग्रहण करते-करते विलासी जिस प्रकार रतिवार्त्ता करते हैं उसी प्रकार रणवार्त्ता करते-करते आकाश में उदित सूर्य की तरह महाउत्साही और पराक्रमी दोनों ऋषभ-पुत्र अपनी-अपनी सेना के मध्य उपस्थित हुए। उसी समय स्व सेना के मध्य स्थित भरत और बाहुबली जम्बू-द्वीप के मध्य स्थित मेरुपर्वत की शोभा को धारण कर रहे थे। दोनों सेनाओं के मध्य स्थित भूमि निषध और नीलवन्त पर्वत के मध्य स्थित महा विदेह क्षेत्रों की भूमि जैसी लग रही थी। कल्पान्तकाल के समय पूर्व और पश्चिम समुद्र जिस प्रकार आमने-सामने वर्द्धित होते हैं उसी प्रकार दोनों ओर की सेनाएँ पंक्तिबद्ध होकर आमने-सामने आने लगीं। सेतुबन्ध जिस प्रकार जल-प्रवाह को इधर-उधर जाने से रोकता है उसी प्रकार द्वारपाल पंक्ति से बाहर आकर इधर-उधर जाने वाले सैनिकों को रोक रहा था। ताल के द्वारा संगीत में जैसे एक ही छन्द गाया जाता है उसी प्रकार राजाज्ञा से समस्त सैनिक एक ही ताल में पांव रखकर चल रहे थे। इससे दोनों ओर की सेना ऐसी लग रही थी मानो एक शरीरी हो। वीर सैनिक पृथ्वी को लौह-चक्र से विदारित कर रहे थे, लौह-कुदाली की तरह

अश्वों के तीक्ष्ण क्षुर से खनन कर रहे थे, लोहे के अर्द्धचन्द्र से ऊँटों के क्षुरों से विद्ध कर रहे थे, पदातिकों के जूतों की नालों से विदीर्ण कर रहे थे, क्षुरप्र बाण की तरह महिष और बलीवर्द के क्षुर खोद रहे थे और मुद्गर के समान हाथियों के पांवों से चूर्ण कर रहे थे। अन्धकार की तरह रजसमूह से वे आकाश को आच्छादित कर रहे थे और सूर्य-किरण के समान झिलमिलाते अस्त्र-शस्त्रों से चारों ओर आलोक विकीर्ण कर रहे थे। वे अतिभार से कूर्म पृष्ठ को त्रस्त दे रहे थे। महावाराह के ऊँचे नासाग्र को आनमित और अनन्त नाग के फणों के गर्व को खर्व कर रहे थे। वे ऐसे लग रहे थे मानो समस्त दिग्गज को कुब्ज कर रहे हों। अपने सिंहनाद से ब्रह्माण्ड रूपी पात्र को उच्च ध्वनिकारी बना रहे थे। उनके ताल ठोकने की उच्च ध्वनि ब्रह्माण्ड को विदीर्ण करती-सी लग रही थी। परिचित ध्वज-चिह्न से पराक्रमी स्व प्रतिस्पर्द्धी वीरों को पहचान कर नाम ले-लेकर उनका वर्णन कर रहे थे एवं अभिमानी और शौर्यवान वीर एक-दूसरे को ललकार रहे थे। मकर जिस प्रकार मकर के सामने आता है उसी प्रकार हस्तीपृष्ठ आरूढ़, हस्तीपृष्ठ पर चढ़े हुओं के सम्मुख आ गए। तरंग जैसे तरंग से आहत होती है उसी प्रकार अश्वारोही अश्वारोही के सामने आए। जिस प्रकार वायु वायु से प्रतिहत होती है उसी भांति रथी रथी के सम्मुख आए और शृङ्गी जैसे शृङ्गी पर आक्रमण करता है उसी प्रकार पैदल सेना पैदल सेना के सम्मुख आयी। इस भांति समस्त वीर बर्छा, तलवार, मुद्गर और दण्ड आदि आयुधों को लेकर क्रोधपूर्वक एक-दूसरे के सामने आए। (श्लोक ४१४-४३४)

उसी समय त्रिलोक विनाश के भय से देवतागण आकाश में एकत्र हुए और सोचने लगे दो हाथों-से इन दोनों ऋषभ-पुत्रों में परस्पर युद्ध क्यों हो रहा है? फिर उन्होंने दोनों पक्ष के सैनिकों से कहा—हम जब तक तुम्हारे मनस्वी प्रभुओं को उपदेश दें तब तक युद्ध मत करो। यदि किसी ने किया तो उसे ऋषभदेव की शपथ है। देवताओं के ऋषभदेव की शपथ देने के कारण दोनों पक्षों के उत्साही सैनिक चित्र-लिखित से हो गए। वे सोचने लगे—ये देवगण भरत के पक्ष के हैं या बाहुबली के पक्ष के। (श्लोक ४३५-४३९)

कोई ऐसा कार्य करना होगा जिससे हानि न होकर लोक-कल्याण हो ऐसा सोचकर देवगण पहले चक्रवर्ती के समीप गए।

उन्हें 'जय हो, जय हो' शब्द से आशीर्वाद देकर प्रियभाषी देव मन्त्रियों की तरह युक्ति-युक्त से वाक्य बोले : (श्लोक ४४०-४४१)

'हे नरदेव, इन्द्र जैसे दैत्यों पर जय प्राप्त करता है उसी प्रकार आपने छह खण्ड भरत क्षेत्र के समस्त राजाओं पर विजय प्राप्त की है। यह आपके लिए उचित ही है। हे राजेन्द्र, पराक्रम और तेज से समस्त राजाओं रूपी मृगों के मध्य आप शरभ (अष्टापद) तुल्य हैं। आपका प्रतिस्पर्द्धी कोई नहीं है। कलश के जल में मन्थन करने से जैसे मक्खन पाने की इच्छा पूर्ण नहीं होती उसी प्रकार आपकी रण-स्पृहा पूर्ण नहीं हो सकी। इसीलिए आपने स्व-भ्राता के साथ युद्ध आरम्भ किया है; किन्तु यह युद्ध तो एक हाथ का दूसरे हाथ पर आघात करना है। वृहद् हस्ती जिस प्रकार अपने गण्डस्थल को वृहद् वृक्ष से रगड़ता है गण्डस्थल में उत्पन्न खुजलाहट के कारण, उसी प्रकार आप भी जो भाई के साथ युद्ध कर रहे हैं उसका कारण आपके हाथों की खुजलाहट है। वन के उन्मत्त हस्तियों की उन्मत्तता से वन जैसे विनष्ट हो जाता है उसी प्रकार आपके बाहुओं की खुजलाहट से जगत् विनष्ट हो जाएगा। मांस-भोजी मनुष्य जैसे जिह्वा स्वाद की तृप्ति के लिए पशु-पक्षियों को विनष्ट करता है उसी प्रकार आप भी क्रोड़ावश जगत् के संहार के लिए उद्योगी हुए हैं। चन्द्रमा से अग्निवर्षण जैसे उचित नहीं होता उसी प्रकार जगत्त्राता दयालु ऋषभदेव के पुत्र का निज भ्राता के साथ युद्ध करना उचित नहीं है। हे पृथ्वीरमण! संयमी जैसे भोग से मुँह फेर लेते हैं उसी प्रकार आप युद्ध से निवृत्त होकर स्व-स्थान को प्रत्यावर्तन कीजिए। आप यहां आए इसलिए आपका छोटा भाई बाहुबली भी आपके सम्मुखीन होने आया है। कारण से ही कार्य होता है। संसार नाश रूपी पाप से निवृत्त होने पर आपका कल्याण होगा। युद्ध बन्द होने पर दोनों पक्षों की सेना का कुशल होगा। आपके सैन्य भार से पृथ्वी जो कम्पित हो रही है वह स्थिर हो जाएगी इससे पृथ्वी के गर्भ में निवास करने वाले भवनपति आदि (व्यंतर देव) सुखी होंगे, आपकी सैन्य द्वारा मर्दन के अभाव में पृथ्वी, पर्वत, समुद्र, प्रजागण और समस्त प्राणियों के भय दूर होंगे और आपके युद्ध के कारण पृथ्वी विनष्ट होने का भय दूर हो जाने से समस्त देवगण सुख से रहेंगे।' (श्लोक ४४२-४५५)

इस प्रकार जब देवताओं ने काम की बात समाप्त की तब

महाराज भरत मेघ गम्भीर स्वर में बोले—'हे देवगण आपके सिवाय जग-कल्याण की बात और कौन कहेगा ? प्रायः लोग तमाशा देखने की इच्छा से ऐसे कार्य से उदास रहते हैं। आपने कल्याण-कामना से युद्ध के जिन कारणों की कल्पना की वह वैसी नहीं है, कारण दूसरा है। किसी कार्य का मूल जाने बिना यदि कुछ कहा जाता है तो वह निष्फल ही है चाहे वह बृहस्पति द्वारा ही क्यों न कहा गया हो ? मैं बलवान् हूँ यह सोचकर मैं युद्ध करना स्थिर नहीं करता। कारण, तेल अधिक हो जाने पर भी उसे कोई भी पर्वत पर लेपन नहीं करता। भरत क्षेत्र के छह खण्डों को जीत लेने पर मेरा कोई प्रतिस्पर्द्धी नहीं रहा यह मैं नहीं मानता। कारण, शत्रु के समान प्रतिस्पर्द्धी और हार-जीत के कारणभूत बाहुबली और मेरे बीच में भाग्यवश ही विरोध हुआ है। पहले निन्दाभीरु, लज्जालु, विवेकी, विनयी एवं विद्वान् बाहुबली मुझे पिता तुल्य मानता था; किन्तु साठ हजार वर्ष पश्चात् जब मैं दिग्विजय कर लौटा तो देखा बाहुबली बहुत बदल गया है। अब वह अन्य-सा हो गया है। इस प्रकार होने का कारण इतने दिनों तक न मिलना ही लगता है। बारह वर्षों तक राज्याभिषेक का उत्सव चला; किन्तु वह नहीं आया। मैंने सोचा—आलस्यवश ही वह नहीं आया होगा। तब उसे बुलाने को दूत भेजा। तब भी वह नहीं आया। मैंने उसे क्रोध या लोभ के वशीभूत होकर नहीं बुलाया था; किन्तु चक्र तब तक नगर में प्रवेश नहीं करता जब तक एक भी राजा चक्रवर्ती के अधीन न होकर स्वतन्त्र रहेगा। अतः मैं किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया। इधर चक्र नगर में प्रवेश नहीं करता है उधर बाहुबली झुकता नहीं है। लगता है जैसे दोनों स्पर्द्धा कर रहे हैं। एक विकट संकट में पड़ गया हूँ मैं। मेरा मनस्वी भाई यदि एक बार भी मेरे पास आए और अतिथि की तरह पूजा ग्रहण करे तो इच्छानुसार भूमि भी वह मुझसे ले सकता है। चक्र के नगर-प्रवेश न करने के कारण ही तो मुझे युद्ध करना पड़ रहा है। युद्ध का कोई दूसरा कारण नहीं है। नत नहीं होने वाले भाई से मुझे किसी प्रकार का मान पाने की इच्छा नहीं है।

(श्लोक ४२६-४७०)

देवता बोले—'राजन् ! युद्ध का अवश्य ही कोई बड़ा कारण है। आप जैसे पुरुष किसी छोटे कारण से ऐसी प्रवृत्ति कभी नहीं करते। अब हम बाहुबली के पास जाकर उनको उपदेश देंगे और

युग क्षय रूप भावी प्रजानाश का निवारण करेंगे। लगता है वे भी आपकी तरह युद्ध का अन्य कोई कारण बताएँगे। फिर भी आप लोगों का ऐसा अधम युद्ध करना उचित नहीं है। महान् पुरुष तो दृष्टि, वाणी, बाहु और दण्डादि से परस्पर युद्ध करते हैं ताकि निरपराध हस्ती आदि प्राणियों का विनाश न हो।'

(श्लोक ४७१-४७४)

भरत चक्रवर्ती ने देवताओं का यह कथन स्वीकार किया। तब वे दूसरी ओर की सेना के मध्यवर्ती बाहुबली के निकट गए। उन्हें देखकर वे आश्चर्यचकित होकर सोचने लगे—अहो, बाहुबली की देह तो गूढ़ गुण सम्पन्न मूर्ति से ही मानो बनी है। फिर वे बोले—'हे ऋषभनन्दन! हे जगत् नेत्र रूपी चकोर को आनन्द देने वाले चन्द्र! आप चिर विजयी हों एवं आनन्द पूर्वक रहें। आप समुद्र की तरह मर्यादा का उल्लंघन कभी नहीं करेंगे एवं डरपोक जिस प्रकार युद्ध से डरता है उसी प्रकार आप निन्दा से डरते हैं। आपको सम्पत्ति का अभिमान नहीं है। दूसरे के ऐश्वर्य से आपको ईर्ष्या नहीं है। दुर्विनीत को दण्ड देते हैं एवं जगत् को अभय प्रदान करने वाले आप ऋषभनाथ के योग्य पुत्र हैं। आपने अपने बड़े भाई के साथ भयंकर युद्ध करना स्थिर किया है यह उचित नहीं है। जिस प्रकार अमृत से मृत्यु सम्भव नहीं है उसी प्रकार आपके द्वारा यह कार्य भी सम्भव नहीं है। अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा है। अतः दुष्ट लोगों की मित्रता की भाँति इस युद्ध का परित्याग करिए। मंच से जिस प्रकार बड़े-बड़े साँपों को लौटाया जाता है उसी प्रकार स्व आज्ञा से वीर सैनिकों को युद्ध से निवृत्त करिए। तदुपरान्त अपने अग्रज भरत के पास जाकर उनकी अधीनता स्वीकार कीजिए। इससे आपकी प्रशंसा ही होगी कि शक्तिशाली होने पर भी आप विनयी है। भरत राजा द्वारा विजय प्राप्त छह खण्ड भरत क्षेत्र का आपके स्व उपार्जित क्षेत्र की तरह उपभोग कीजिए। कारण आप दोनों में कोई पार्थक्य नहीं है।' (श्लोक ४७५-४८५)

ऐसा कहकर जब देवगण मेघ की तरह शान्त हो गए तब स्मित हास्य के साथ बाहुबली गम्भीर स्वर में बोले—'हे देवगण, मेरे युद्ध का यथार्थ कारण न जानने के कारण ही सरलमना आप लोग ऐसा कह रहे हैं। आप पिता के भक्त हैं मैं उनका पुत्र हूँ। इसी सम्बन्ध के कारण आप मुझे जो कुछ कह रहे हैं वह उचित ही

है। पहले दीक्षा के समय पिताजी ने जैसे याचकों को सुवर्णादि दिया उसी प्रकार राज्य मेरे और भरत के मध्य विभाजित कर दिया था। मैं तो पिताजी ने जो कुछ दिया उसी से सन्तुष्ट था। कारण केवल धन के लिए क्यों किसी से वैर करूँ। किन्तु समुद्र में जिस प्रकार बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है उसी प्रकार भरत छह खण्ड रूपी समुद्र में छोटी मछली की तरह रहने वाले राजाओं को बड़े मच्छ भरत [illegible]। पेटू [illegible] जैसे भोजन से कभी सन्तुष्ट नहीं होता उसी प्रकार भरत इतने राज्यों को जीतने के पश्चात् भी सन्तुष्ट नहीं हुए हैं। उन्होंने अपने भाइयों के राज्य छीन लिए। अपने छोटे भाइयों के राज्य छीन कर उन्होंने अपना बड़प्पन स्वयं ही खो दिया। इतने दिन तक लोग जिस प्रकार पीतल को सोना और कांच को मणि समझ लेते हैं उसी प्रकार भ्रान्ति से मैंने भी भरत को गुरुजन समझा था। पिता द्वारा प्रदत्त व पूर्व पुरुषों की प्रदत्त भूमि अपने छोटे भाइयों से कोई साधारण राजा भी तब तक नहीं छीनता जब तक वे कोई अपराध न करें। फिर भरत ने ऐसा क्यों किया? छोटे भाइयों का राज्य छीनने में क्या भरत को लज्जा नहीं आती? उन्होंने मेरा राज्य लेने के लिए बुलवाया था। जहाज जैसे समुद्र का अतिक्रम कर तट के समीपवर्ती किसी पर्वत से धक्का खाता है उसी प्रकार भरत-खण्ड के समस्त राजाओं को जीतकर भरत ने मुझसे धक्का खाया है। लोभी मर्यादाहीन और राक्षस-से निर्दय भरत को जब मेरे भाइयों ने भाई समझने में लज्जा महसूस की तब मैं कौन से गुण के कारण उन्हें मानूँगा। हे देवगण, आप सभासदों की तरह मध्यस्थ होकर बोलिए। भरत यदि स्व बल से मुझे वशीभूत कर सके तो करें। क्षत्रियों का यही स्वाधीन मार्ग है। इतना होने पर भी यदि वे अभी लौटना सोच रहे हों तो सकुशल लौट सकते हैं। कारण मैं उनके जैसा लोभी नहीं हूं कि लौटते समय उन्हें किसी प्रकार की क्षति पहुंचाऊंगा। यह कैसे सम्भव है कि उनके द्वारा विजित समस्त भरत का मैं उपभोग करूँ। केसरीसिंह क्या किसी का दिया हुआ खाद्य खाता है? कभी नहीं। उन्हें भरत क्षेत्र को जय करने में साठ हजार वर्ष लगे हैं यदि मैं उसे लेना चाहता तो उसी समय ले लेता। किन्तु इतने वर्षों के परिश्रम से प्राप्त उनके भरत क्षेत्र का वैभव धनपति के धन की तरह भाई होकर मैं कैसे लूँ। चम्पक का फल खाकर हाथी जैसे मदान्ध हो

जाता है उसी प्रकार छह खण्ड के राजाओं को जीतकर भरत यदि अन्धे हो गए हैं तो वे भी सुख से नहीं रह सकेंगे। मैं तो उनके वैभव को छीना हुआ ही देखता हूं। मैं तो [illegible] उनकी उपेक्षा करता हूं। अभी मुझे देने की अमानत हो ऐसे उनके मन्त्री उनका भण्डार, हाथी, घोड़ा आदि और यश मुझे अर्पण करने के लिए ही भरत को यहां लाए हैं। इसलिए हे देवगण, यदि आप उनका हित चाहते हैं तो उन्हें युद्ध करने से रोकिए। यदि वे युद्ध नहीं करेंगे तो मैं भी नहीं करूंगा।' (श्लोक ४८६-५०९)

मेघ गर्जन की तरह उनका ऐसा उत्कट अर्थात् अभिमान पूर्ण वाक्य सुनकर देवगण विस्मित हो गए और पुनः उन्हें कहने लगे —'एक ओर चक्रवर्ती युद्ध का कारण चक्र का नगर में प्रवेश न होना बतलाते हैं। इससे उनके गुरु भी उन्हें रोक नहीं सकेंगे या निरुत्तर नहीं कर सकेंगे। दूसरी ओर आप कहते हैं कि जो युद्ध करेगा उसके साथ मैं भी युद्ध करूंगा तब इससे इन्द्र भी आपको युद्ध करने से रोकने में असमर्थ है। आप दोनों ऋषभ स्वामी के दृढ़ संसर्ग से सुशोभित महाबुद्धिमान विवेकी जगत् रक्षक और दयावान् हैं फिर भी जगत् के लिए दुर्भाग्य रूप यह युद्ध उपस्थित हुआ है। हे वीर, प्रार्थना पूर्ण करने में आप कल्पवृक्ष तुल्य हैं। अतः आपसे यही प्रार्थना है कि आप उत्तम युद्ध करिए, अधम युद्ध नहीं। कारण, आप दोनों ही तेजस्वी हैं। अधम युद्ध से अनेक लोगों के विनाश हो जाने से असमय में ही प्रलय हो जाती है। इसलिए आप लोगों के लिए उचित है कि आप दोनों दृष्टि-युद्धादि करिए। इससे आपका मान भी बढ़ेगा और लोक नाश भी नहीं होगा।' (श्लोक ५१०-५१७)

बाहुबली ने देवताओं का कथन स्वीकार कर लिया। एतदर्थ उनका युद्ध देखने के लिए नगरवासियों की तरह देवता भी वहीं अवस्थित हो गए। (श्लोक ५१८)

तब एक बलवान छड़ीदार बाहुबली की आज्ञा से गजपृष्ठ पर आरोहण कर गज की भांति गर्जन करते-करते बाहुबली के सैनिकों को बोलने लगा—'हे वीर सैनिकगण, तुम लोगों को वांछित पुत्र लाभ की तरह दीर्घ दिनों से जो स्वामी कार्य करना चाहते थे वह प्राप्त भी हुआ था किन्तु तुम लोगों की पुण्यहीनता के कारण देवताओं ने राजा बाहुबली से भरत के साथ द्वन्द्व-युद्ध की प्रार्थना की

है। वे भी द्वन्द्व युद्ध ही चाहते थे फिर देवताओं ने भी जब प्रार्थना की है तब तो फिर बोलना ही क्या है ? अतः इन्द्र के समान पराक्रमी महाराज बाहुबली तुम लोगों को युद्ध न करने की आज्ञा दे रहे हैं। देवताओं की तरह तुम लोग भी तटस्थ होकर हस्ती-मल्ल (ऐरावत) की तरह महापराक्रमी अपने स्वामी को युद्ध करते देखो और वक्र ग्रह की तरह अपने-अपने रथ अश्व और पराक्रमी हस्तियों को लौटा लो। सर्प को जिस प्रकार टोकरियों में रखा जाता है उसी प्रकार तुम लोग भी तलवारों को म्यान में रखो और केतु की तरह तुम्हारे भालों को कोष में भर दो। हाथी की सूँड से मुद्गर अब अपने हाथों में मत रखो। ललाट से जिस प्रकार भृकुटि उतारी जाती है उसी प्रकार अपने धनुषों की प्रत्यंचा को उतार दो। भंडार में जिस प्रकार धन रखा जाता है उसी प्रकार तुम्हारे तीर तूणीर में रखो एवं विद्युत जैसे मेघ में विलुप्त हो जाती है उसी प्रकार अपने क्रोध को शान्त करो।' (श्लोक ५१९-५२७)

छड़ीदार की घोषणा वज्रघोष की तरह बाहुबली के सैनिकों ने सुनी। उनका चित्त विभ्रान्त हो गया। वे परस्पर इस प्रकार कहने लगे—'ये देवगण युद्ध देखकर वणिकों की तरह भयभीत हो गए हैं। ऐसा लगता है इन्होंने भरत की सैन्य से उत्कोच लिया है। ये हमारे पूर्व जन्म के बैरी-से हैं तभी तो स्वामी से कहकर हमारा युद्धोत्सव बन्द करा दिया है। खाने के लिए बैठे आदमी के सम्मुख से जैसे कोई खाद्य भरा थाल उठा ले, स्नेह करते हुए मनुष्य की गोद से जैसे कोई शिशु हटा ले, कुएँ से बाहर निकलते समय सहायक पुरुष के हाथ से कुएँ में डाली रस्सी जैसे कोई खींच ले उसी प्रकार देवताओं ने हमारा रणोत्सव ही बन्द कर दिया। भरत राजा-सा ऐसा कौन दूसरा शत्रु मिलेगा जिसके साथ युद्ध कर हम महाराज बाहुबली का ऋण चुका सकेंगे। सगोत्र भाई बन्धु, चोर और पितृगृह में रहने वाली रमणी की तरह हमने व्यर्थ ही बाहुबली महाराज से धन ग्रहण किया। हमारी बाहुशक्ति भी उसी प्रकार व्यर्थ हो गयी जिस प्रकार वनवृक्षों की पुष्प-गन्ध व्यर्थ हो जाती है। नपुंसक व्यक्ति द्वारा एकत्र युवतियों के यौवन की तरह हमारा शस्त्र-संग्रह व्यर्थ हो गया। शुकपक्षी द्वारा किए गए शास्त्राभ्यास की तरह हमारी शस्त्र-शिक्षा व्यर्थ हो गयी। तपस्वियों के अधिगत कामशास्त्र का ज्ञान जैसे निष्फल होता है उसी प्रकार हमारा सैनिक होना भी

व्यर्थ हो गया। हम अबोध थे जो हस्तियों को युद्ध में स्थिर रखने का और अश्वों को अनविजयी बनाने का अभ्यास कराया, कारण, वह कोई काम नहीं आया। शरदकालीन मेघ की तरह हमने व्यर्थ ही गर्जना की। महिषियों की तरह हमने व्यर्थ ही कटाक्ष किया। द्रव्य वहनकारी की भाँति हमारी समस्त प्रस्तुति व्यर्थ हो गयी। फिर युद्ध का दोहद पूर्ण न होने से हमारा अहंकार धूल में मिल गया।' (श्लोक ५२८-५४०)

इस प्रकार बोलते सुनते दुःख रूपी विष में दग्ध होते हुए सर्प फुत्कार की तरह निश्वास छोड़ते हुए सैनिक लौट गए। क्षात्रव्रत रूपी धन से धनी राजा भरत ने भी अपनी सेना को उसी तरह लौटा लिया जैसे भाटे के समय समुद्र का जल लौट जाता है। पराक्रमी चक्रवर्ती द्वारा प्रत्याहृत सैनिक स्थान-स्थान पर एकत्र होकर विचार करने लगे—'हमारे स्वामी भरत ने किस वैरी-से मन्त्री के कहने से द्वन्द्व-युद्ध स्वीकार कर लिया? तक्र आहार की तरह प्रभु ने यदि इस भाँति का युद्ध स्वीकार कर लिया तब तो फिर अब हमारी आवश्यकता ही क्या रहेगी। छह खण्ड पृथ्वी के किस राज्य को हमने परास्त नहीं किया कि उन्होंने हमें युद्ध के लिए रोक दिया? जब निज सैनिक भाग जाते हैं, हार जाते हैं या मर जाते हैं तब स्वामी को युद्ध करना उचित होता है। कारण, युद्ध की गति विचित्र है। बाहुबली के अतिरिक्त यदि और कोई शत्रु होता तब तो स्वामी के द्वन्द्व-युद्ध में जय लाभ के विषय में हमें कोई—शंका ही नहीं रहती। किन्तु बलवान बाहु सम्पन्न बाहुबली के साथ प्रथम तो युद्ध करना ही उचित नहीं है। पहले हम युद्ध करते बाद में स्वामी को युद्ध में जाना चाहिए था। कारण, पहले चाबुक से घोड़े को वश में किया जाता है बाद में उस पर सवार हुआ जाता है।' चक्रवर्ती इस प्रकार सैनिकों को बोलते विचारते देखकर उनका मनोभाव जान गए। अतः उन्हें बुलवाया और समझा कर कहने लगे—हे वीर सैनिको, जिस प्रकार अन्धकार का नाश करने के लिए सूर्य किरणें अग्रवर्ती होती हैं उसी प्रकार शत्रु-विनाश के लिए तुम लोग भी अग्रवर्ती रहते हो। गहन खन्द में गिरा हस्ती जिस भाँति दुर्ग के निकट नहीं जा सकता उसी प्रकार तुम लोगों के रहते कोई भी शत्रु मेरे पास नहीं आ सकता। इसके पूर्व तुम लोगों ने कभी मेरा युद्ध नहीं देखा इसलिए तुम्हारे मन में कुछ अन्यथा शंकाएँ

उत्पन्न हो रही है। कहा भी गया है—भक्ति वहां भी शंका उत्पन्न कर देती है जहां शंका का कोई कारण ही नहीं होता। इसलिए हे वीर सैनिकगण, तुम सब एकत्र होकर मेरे बाहुबल को देखो। रोग नष्ट हो जाने पर औषधि के लिए उत्पन्न शंका जिस प्रकार नष्ट हो जाती है उसी प्रकार तुम्हारी शंका भी दूर हो जाएगी।'

(श्लोक ५४१-५५६)

तत्पश्चात् चक्रवर्ती ने सेवकों द्वारा एक खूब लम्बा चौड़ा और गहरा गर्त खुदवाया—दक्षिण समुद्र के तट पर जिस प्रकार सह्याद्रि पर्वत रहता है उसी प्रकार उस गर्त के समीप वे बैठ गए। वट-वृक्षों को लम्बी-लम्बी जटाओं की तरह भरतेश्वर ने अपने बाएं हाथ में एक पर एक मजबूत शृंखला बँधवायी। किरणों से जिस प्रकार सूर्य शोभित होता है, लता से वृक्ष शोभित होता है उसी प्रकार एक हजार शृंखलाओं से महाराज सुशोभित होने लगे। फिर उन्होंने सैनिकों को कहा—'हे वीरो, जिस प्रकार गाय शकट को खींचती है उसी प्रकार तुम लोग तुम्हारे समस्त बल और वाहन द्वारा मुझे निर्भयतापूर्वक खींचो। और तुम सबके एकत्र बल द्वारा मुझे इस गर्त में गिरा दो। प्रभु के बल की परीक्षा से प्रभु का अपमान होगा ऐसा सोचकर छल मत करो। मैंने एक दुःस्वप्न देखा है। इस प्रकार तुम लोग उसे विनष्ट करो। कारण, जो स्वप्न देखता है वह यदि स्वयं ही स्वप्न को सार्थक कर देता है तो स्वप्न निष्फल हो जाता है।' जब चक्री बार-बार यही बात कहने लगे तब सैनिकों को बाध्य होकर मानना पड़ा। कारण स्वामी की आज्ञा बलवान होती है फिर देव और असुरों ने मन्दराचल रूपी मन्थनदण्ड से वेष्टित सर्पों को जिस प्रकार खींचा था उसी प्रकार सैनिकगण चक्री के हाथों में बँधी शृंखला को खींचने लगे। उनके हाथों में बँधी इस शृंखला को पकड़े हुए सैनिक ऐसे लगने लगे मानो एक ऊंचे वृक्ष की शाखा पर एक दल बन्दर बैठे हों। पर्वत को विद्ध करने का प्रयास करने वाले हस्तियों की (जैसे पर्वत उपेक्षा करता है) उसी प्रकार उन सब सैनिकों की, जो उन्हें खींच रहे थे, चक्री ने उपेक्षा की। तदुपरान्त उन्होंने अपना फैलाया हुआ हाथ छाती से लगाया। उससे सब सैनिक इस प्रकार गिर गए जैसे पंक्ति में बँधे हुए घड़े खींचने पर गिर जाते हैं। उस समय चक्री के हाथों में झूलते हुए सैनिक इस प्रकार शोभित होने लगे जैसे खजूर से वृक्ष शोभित

होता है। अपने स्वामी की ऐसी अवस्था देखकर सैनिक आनन्दित हुए और इसके पूर्व उनके मन में जो आशंका उत्पन्न हुई थी उसे और उसी की तरह प्रभु की भुजा की शृंखला को भी तुरन्त खोल दिया। (श्लोक ५५७-५७०)

तदुपरान्त गायक जिस स्वर में गीत आरम्भ करता है उसी स्वर को पुनः पकड़ता है उसी भांति चक्रवर्ती हस्तीपृष्ठ पर आरोहण कर रणभूमि में गए। गंगा और यमुना के मध्य जिस प्रकार वेदि प्रदेश (दो आब) शोभा पाता है उसी प्रकार दोनों सेनाओं के मध्य की भूमि शोभित होने लगी। जगत् संहार बन्द होने की जैसे किसी ने प्रेरणा दी है इस प्रकार पवन पृथ्वी की धूल को दूर करने लगा। देवगण समवसरण भूमि की तरह ही उस रणभूमि में सुगन्धित जल वर्षण करने लगे। मन्त्रविद् जैसे मण्डल की भूमि पर पुष्प वृष्टि करते हैं उसी प्रकार देवगण रणभूमि में पुष्पवृष्टि करने लगे। फिर कुंजर की भांति गर्जन करते हुए दोनों राजकुंजरों ने हस्ती से उतरकर रणभूमि में प्रवेश किया। महाबलवान और क्रीड़ा करते हुए चलने वाले उन दोनों ने पद-पद पर कूर्मेन्द्र को प्राण भय से भयभीत किया। (श्लोक ५७१-५७७)

पहले उन्होंने दृष्टि-युद्ध करने की प्रतिज्ञा की। और मानो इन्द्र और ईशानेन्द्र हों इस प्रकार वे एक दूसरे को अनिमेष नेत्रों से देखने लगे। रक्त वर्णीय दोनों नेत्रों से दोनों वीर आमने-सामने खड़े होकर एक दूसरे को देखने लगे। एक दूसरे के सम्मुख खड़े वे दोनों सूर्य-चन्द्र से लग रहे थे। ध्यान करने वाले योगी की तरह निश्चल नेत्र किए वे बहुत देर तक स्थिर खड़े रहे। अन्ततः सूर्य किरणों से आक्रान्त नील कमल की तरह ऋषभ देव के ज्येष्ठ पुत्र भरत के नेत्र बन्द हो गए। ऐसा लगा भरत क्षेत्र के छह खण्डों को विजय कर भरत ने जो कीर्ति प्राप्त की थी उसे अपने नेत्र सिंचित करने के बहाने अश्रुजल द्वारा पोंछ डाली। सुबह जिस प्रकार वृक्षादि आन्दोलित होते हैं देवताओं ने उसी प्रकार मस्तक हिलाया और महाबली बाहुबली पर पुष्प वर्षा की। सूर्योदय के समय के पक्षियों की तरह बाहुबली की जय होने के कारण सोमप्रभा आदि ने हर्ष ध्वनि की। कीर्तिरूपी नर्तकी ने मानो नृत्य करना आरम्भ किया हो इस प्रकार बाहुबली के सैनिकों ने जयवाद्यों को बजाया। राजा भरत के सैनिक तो इस प्रकार शिथिल हो गए मानो वे मूर्च्छित हो गए हैं,

सो गए हैं या अस्वस्थ हो गए हैं। अन्धकार और प्रकाशशील मेरु पर्वत के दोनों ओर की तरह दोनों तरफ के सैनिक के मध्य विषाद और आनन्द दृष्टिगोचर होने लगा। उसी समय बाहुबली बोले—'ऐसा मत कहना कि मैं काकतालीय न्याय की तरह जीत गया। अगर ऐसा सोचते हो तो बाग्युद्ध कर लो।' बाहुबली की यह बात सुनकर पददलित सर्प की तरह चक्री क्रोधित होकर बोले—'इस युद्ध में भी तुम्हीं विजयी बन जाओ।' (श्लोक ५७८-५८९)

ईशानेन्द्र के बलीवर्द जिस प्रकार नाद करते हैं सौधर्मेन्द्र के हस्ती गर्जन करते हैं, मेघ आवाज करते हैं उसी प्रकार राजा भरत ने सिंहनाद किया। वह सिंहनाद आकाश के चारों ओर इस प्रकार व्याप्त हो गया जैसे नदी के दोनों तटों पर बाढ़ आने से जल परिव्याप्त हो जाता है। लगा वह नाद युद्ध को देखने आए देवताओं के विमानों को भू-पतित कर रहा है। आकाश से ग्रह नक्षत्र और तारागणों को स्थानच्युत कर रहा है, पर्वत के उच्च शिखर को हिला रहा है और समुद्र जल को उछाल रहा है। उस सिंहनाद को सुनकर अपनी बुद्धि का अहंकार करने वाला छात्र जिस प्रकार गुरु की आज्ञा नहीं मानता उसी प्रकार रथों के अश्व लगाम की उपेक्षा करने लगे। चोर जिस प्रकार सद्वाणी नहीं सुनते उसी प्रकार हस्ती भी अंकुश को अग्राह्य करने लगे। कफ रोगी जैसे कटु पदार्थ नहीं खाता उसी प्रकार घोड़े लगाम को अस्वीकृत करने लगे। बिट जिस प्रकार लज्जा शर्म नहीं करते उसी प्रकार ऊँट नाक की रस्सी को अग्राह्य करने लगे। भूताविष्ट की तरह खच्चर चाबुक के आघात की अवज्ञा करने लगे। इस प्रकार भरत चक्रवर्ती के सिंहनाद से घबड़ाकर कोई भी स्थिर न रह सका। (श्लोक ५९०-९६)

फिर बाहुबली ने सिंहनाद किया। सापों ने वह सिंहनाद सुना। वे सोचने लगे—गरुड़ नीचे उतर रहा है अतः उन्होंने रसातल की ओर गहराई में उतर जाना चाहा। समुद्र के जीव-जन्तु ने उस सिंहनाद को मन्दराचल द्वारा समुद्रमंथन से होने वाली आवाज समझा अतः वे भयभीत हो गए। कुल पर्वत उस शब्द को सुनकर इन्द्र के वज्र के शब्द की भ्रांति से विनाश की आशंका कर बार-बार कांपने लगे। मर्त्यलोक के समस्त मनुष्य उस शब्द को पुष्करावर्त्त मेघ की विद्युद्ध्वनि समझ कर इधर-उधर लोटने लगे। उस दुःश्रव

शब्द को सुनकर देवगण असमय में दैत्यों के उपद्रव की आशंका करने लगे। (श्लोक ५९७-६०२)

बाहुबली के सिंहनाद को सुनकर भरत ने पुनः इस प्रकार सिंहनाद किया कि देव-पत्नियाँ हिरणियों की तरह भयभीत हो गयीं। मानो क्रीड़ा छल से लोक को भयभीत करेंगे इस प्रकार चक्री और बाहुबली ने क्रमशः सिंहनाद किया। ऐसा करते-करते हाथी की सूँड और सर्प के शरीर की तरह राजा भरत का सिंहनाद धीरे-धीरे छोटा होने लगा। नदी के प्रवाह की तरह एवं सज्जनों के स्नेह की तरह बाहुबली का सिंहनाद अधिकाधिक बढ़ने लगा। इस प्रकार शब्दार्थ में वादी जिस तरह प्रतिवादी पर जय प्राप्त करता है उसी प्रकार बाहुबली ने भरत राजा पर विजय प्राप्त की।
(श्लोक ६०३-६०७)

तत्पश्चात् दोनों भाई बद्ध कक्ष हस्ती की तरह बाहुयुद्ध के लिए प्रस्तुत हुए। उसी समय उद्धत समुद्र की भाँति गर्जन करते हुए बाहुबली को सोने की छड़ीधारक मुख्य छड़ीदार ने कहा—'हे पृथ्वी, वज्र किलक की तरह पर्वतों को पकड़ो और अपनी समस्त शक्ति एकत्र कर तुम स्थिर हो जाओ। हे नागराज, चारों ओर के पवन को आकृष्ट कर संहरण करो और पर्वत की तरह दृढ़ होकर पृथ्वी की रक्षा करो। हे महावराह, समुद्र के कर्दम में लोट पूर्व क्लान्ति का अपनोदन करो और सतेज होकर पृथ्वी को अंक में लो। हे कूर्म, अपने वज्र से अंगों को चारों ओर संकुचित कर पीठ को मजबूत बनाओ और पृथ्वी को उठाओ। हे दिग्गज, पहले की तरह प्रमाद में या मद में झपकियाँ मत लो। कारण वज्रसार बाहु द्वारा चक्री के साथ युद्ध करने को खड़े हो रहे है।' (श्लोक ६०८-६१५)

पुनः दोनों मल्लों ने ताल ठोंकी। उसका ऐसा शब्द हुआ मानो उसी समय पर्वत पर विद्युत्पात हुआ हो। खेल ही खेल में पदन्यास करते हुए और कुण्डल को कम्पित करते हुए वे दोनों एक दूसरे के सम्मुख अग्रसर होने लगे। उस समय वे ऐसे लग रहे थे मानो वे धातकी खण्ड से आए हुए छोटे मेरु पर्वत हों जिसके दोनों ओर चन्द्र और सूर्य हैं। बलवान हस्ती जिस प्रकार मदोन्मत्त होकर अपने दांतों से एक दूसरे के दांतों पर आघात करता है उसी प्रकार वे भी परस्पर आघात करने लगे। एक क्षण में संयुक्त दूसरे क्षण वियुक्त होते वे वीर ऐसे लग रहे थे मानो पवन द्वारा प्रेरित दो

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर

विराट् महीरुह हों। दुर्दिन में उन्मत्त समुद्र जल की तरह वे क्षण मात्र में उत्पतित और क्षण मात्र में निपतित होते थे। मानो स्नेह से मिल रहे हों इस प्रकार क्रोधावेश से दौड़कर दोनों महाबाहु एक-एक अंग से एक दूसरे को पीस रहे थे और कर्म परवश जीव की तरह युद्ध विज्ञान के वशवर्त्ती होकर कभी नीचे कभी ऊपर आ जा रहे थे। जल में मत्स्य की भाँति इतने वेग से बार-बार ऊपर-नीचे हो रहे थे कि जो उन्हें देख रहे थे वे जान ही नहीं पाते कि कौन नीचे है कौन ऊपर है? वृहद् सर्प की तरह वे एक दूसरे के लिए बन्धन रूप हो रहे थे और चपल बन्दर की तरह उसी क्षण पृथक भी हो जाते थे। बार-बार पृथ्वी पर लोटने के कारण दोनों ही धूलि-धूसर हो गए थे। देखकर लगता जैसे वे धूलिमद वाले हस्ती हों। सचरमान पर्वत की तरह उनका भार वहन करने में असमर्थ होकर पृथ्वी उनके पदाघात के बहाने मानो आर्तनाद कर रही हो। अन्ततः क्रोधाविष्ट महापराक्रमी बाहुबली ने भरत को उसी प्रकार अपने हाथों में उठा लिया जिस प्रकार बरभ हस्ती को उठा लेता है एवं हाथी जिस प्रकार क्षुद्र जानवर को उठाकर आकाश में उछाल देता है उसी प्रकार भरत को उछाल दिया। कारण बलवानों में भी अधिक बलवानों की उत्पत्ति निरवधिकाल से होती आ रही है। प्रत्यंचा से छूटे तीर की तरह या यन्त्र द्वारा उत्क्षिप्त प्रस्तर की तरह राजा भरत आकाश में बहुत ऊपर चले गए। इन्द्र द्वारा निक्षिप्त वज्र की तरह नीचे की ओर गिरते हुए चक्री को देखकर युद्ध देखने वाले समस्त खेचर भाग गए एवं दोनों सेनाओं के मध्य हाहाकार मच गया। क्योंकि महापुरुषों के आपद् काल में किसे दुःख नहीं होता? (श्लोक ६१६-६३१)

उत्क्षिप्त भरत को आकाश में देखकर बाहुबली सोचने लगे—अरे धिक्कार है मेरे बल को, मेरे बाहु को। मुझ जैसे सहसा कार्य करने वाले को धिक्कार है। और ऐसे कार्यों की उपेक्षा करने वाले मन्त्रियों को भी धिक्कार है? अथवा इस समय ऐसी निन्दा करने की ही क्या आवश्यकता है? इससे तो अच्छा यह है कि मैं बड़े भाई को आकाश से पृथ्वी पर गिरकर चूर-चूर होने के पहले ही अपने हाथों पर झेल लूँ। ऐसा सोचकर बाहुबली ने अपने दोनों हाथों को शय्या की तरह विस्तृत कर दिया। ऊँचा हाथ कर खड़े बाहुबली क्षणमात्र सूर्य की ओर देखते हुए तपस्वी की तरह भरत

की ओर देखते रहे। मानो वे उड़ना चाह रहे हों। इस प्रकार पगतलियों पर भार दिए खड़े होकर उन्होंने आपतित भरत को कन्दुक की तरह पकड़ लिया। उस समय दोनों ओर की सेना में उत्सर्ग और अपवाद की तरह चक्री उत्क्षिप्त करने का खेद और उनकी रक्षा का हर्ष संचारित हो गया। ऋषभदेव के पुत्र ने भाई की रक्षा का जो विवेक दिखाया उससे लोग उनकी प्रशंसा करने लगे। देवताओं ने ऊपर से पुष्प-वृष्टि की। किन्तु वीरव्रत धारी पुरुष को उससे क्या? तत्काल धुआं और ज्वाला से जैसे अग्नि युक्त होती है उसी प्रकार भरत राजा भी इस घटना से खेद और क्रोध युक्त हो गए। (श्लोक ६३२-६४०)

उस समय लज्जा से अपने मुख कमल को आनत कर भाई का खेद दूर करने के लिए बाहुबली गद्‌गद् स्वर में बोले—'हे जगत्पति, हे महावीर्य, हे महाभुज, आप खेद मत करिए। विजयी को भी कभी दूसरा पराजित कर देता है; किन्तु इस कार्य से न मैंने आपको जीता, न मैं विजयी बना हूं। मैं तो इस घटना को घुणाक्षर न्याय की तरह समझता हूं। हे भुवनेश्वर, अभी आप एकमात्र वीर है, कारण देवताओं द्वारा मथा जाने पर भी समुद्र समुद्र ही रहा, वाष्प नहीं बना। कूद कर गिरे बाघ की तरह आप खड़े क्यों रह गए? युद्ध के लिए प्रस्तुत होइए। मेरा यह भुजदण्ड मुष्ठि प्रस्तुत कर अपने अपवाद को दूर करेगा—ऐसा कहते हुए फणीश्वर सर्प जिस प्रकार फण विस्तारित करता है उसी प्रकार मुष्टि बन्द कर क्रोध से रक्त वर्ण नेत्र किए चक्रवर्ती बाहुबली की ओर दौड़े और हस्ती जैसे स्वदन्त से दरवाजे पर आघात करता है उसी प्रकार उन्होंने बाहुबली की छाती में मुष्ठि प्रहार किया। जिस प्रकार ऊषर भूमि में वर्षा, बधिर व्यक्ति के कान में निन्दा, हिम खंड में अग्नि व्यर्थ हो जाती है उसी प्रकार बाहुबली की छाती पर वह मुष्ठि प्रहार भी व्यर्थ हो गया। फिर क्या वे मुझसे असन्तुष्ट हो गए हैं ऐसी आशंका से देवताओं द्वारा परिदृष्ट सुनन्दा पुत्र मुष्ठि बन्दकर भरत की ओर गए और चक्री की छाती पर इस प्रकार मुष्ठि प्रहार किया जिस प्रकार महावत अंकुश से हस्ती के कुम्भ-स्थल पर करता है। पर्वत पर वज्र प्रहार की तरह उस प्रहार से घबड़ा कर भरतपति मूर्च्छित होकर धरती पर गिर पड़े। पति के पतन पर कुलांगना की तरह भरत के पतन पर पृथ्वी कम्पित होने

लगी और भाई के पतन से भाई जैसे पर्वत चलित हो गए।

(श्लोक ६४१-६५४)

अपने भाई को इस प्रकार मूर्च्छित होकर गिरते देख बाहुबली मन ही मन विचार करने लगे—क्षत्रियों के वीर व्रत के आग्रह से यह एक दम बुरा है कि भाई के प्राण लेने के लिए भी लड़ाई होती है। यदि मेरे ये बड़े भाई जीवित नहीं रहे तो मेरा भी जीवित रहना वृथा है। ऐसा सोचते हुए आँखों के जल से भरत को सिंचित करते हुए बाहुबली अपने उत्तरीय से पंखे की तरह राजा भरत को हवा करने लगे। ठीक ही कहा है, भाई भाई ही होता है।

(श्लोक ६५५-६५७)

कुछ देर पश्चात् नींद से जागृत मनुष्य की तरह चक्रवर्ती की चेतना लौट आयी। वे उठ बैठे। उन्होंने देखा—उनका छोटा भाई बाहुबली दास की तरह उनके सम्मुख खड़ा है। उस समय दोनों का माथा नीचा हो गया। हाय! महापुरुषों के लिए जय-पराजय दोनों ही लज्जा के विषय होते हैं। (श्लोक ६५८-६५९)

फिर चक्रवर्ती कुछ पीछे हट गए। कारण युद्ध के लिए इच्छुक व्यक्ति का यही लक्षण होता है। बाहुबली ने सोचा—अब आर्य भरत किस प्रकार का युद्ध करना चाह रहे हैं। कारण स्वाभिमानी पुरुष जब तक जीवित रहते हैं तब तक जरा भी स्वाभिमान छोड़ नहीं सकते। किन्तु भाई की हत्या से मेरा अपवाद होगा और वह शेष पर्यन्त शान्त नहीं होगा। बाहुबली ऐसा सोच ही रहे थे कि चक्रवर्ती ने यमराज-सा दण्ड ग्रहण कर लिया।

(श्लोक ६६०-६६३)

शिखर से जिस प्रकार पर्वत शोभा पाता है, छायापथ से आकाश, उसी प्रकार दण्ड उत्तोलन से चक्रवर्ती शोभित होने लगे। धूमकेतु का भ्रम उत्पन्न करने वाले उस दण्ड को राजा भरत ने एक मुहूर्त के लिए आकाश में घुमाया। फिर नवीन सिंह जिस प्रकार अपनी पूँछ को धरती पर पछाड़ता है उसी प्रकार उस दण्ड से बाहुबली के मस्तक पर प्रहार किया। उस दण्ड के प्रहार से इतनी जोर से आवाज हुई जैसी सह्याद्रि पर्वत से ज्वार के समय समुद्र लहर के टकराने से होती है। एरण पर्वत पर रक्षित लोहा जैसे घन लोहे के आघात से चूर्ण हो जाता है उसी प्रकार बाहुबली के मस्तक पर रखा मुकुट दण्ड के आघात से चूर्ण हो गया। वृक्ष को हिलाने पर

जैसे वृक्ष से फूल झड़ पड़ते हैं उसी प्रकार मुकुट के रत्नखण्ड जमीन पर झर पड़े। उस प्रहार से क्षणमात्र के लिए बाहुबली के चक्षु मुद्रित हो गए और उस भयंकर आवाज से लोक-समूह भी वैसे ही हो गया अर्थात् सभी के नेत्र बन्द हो गए। तब बाहुबली ने आँखें खोलकर संग्राम के हस्ती की तरह लोहे का उद्दण्ड दण्ड उत्तोलित किया। उस समय आकाश को यही आशंका हुई कि यह मुझे उत्क्षिप्त करेगा। पर्वत के अग्रभाग के बिवर में स्थित सर्प की तरह बाहुबली की मुष्टि में वह विशाल दण्ड शोभित होने लगा। दूर से बुलाने के लिए ध्वजा हो ऐसा वह लौह दण्ड बाहुबली घुमाने लगे। धान्यबीज पर लाठी प्रहार की तरह बहलीपति ने उस दण्ड से चक्री की छाती पर निर्दयतापूर्वक प्रहार किया। चक्री का कवच खूब सख्त था फिर भी उस आघात से मिट्टी के घड़े की तरह वह चूर-चूर हो गया, कवचहीन चक्री, मेघहीन सूर्य और धूमहीन अग्नि से लगने लगे। सप्तम मदावस्था प्राप्त हाथी की तरह राजा भरत क्षणमात्र के लिए घबरा गए। वे कुछ सोच ही नहीं पाए। फिर कुछ देर बाद प्रिय मित्र की तरह अपने बाहुबल को सहायता लिए पुनः दण्ड उत्तोलित कर बाहुबली की ओर दौड़े। दन्त द्वारा ओष्ठ मर्दित कर भृकुटि उत्तोलित कर भयंकर रूपधारी भरत ने बड़वानल के आवर्त्त की तरह दण्ड को खूब घुमाया और कल्पान्त काल में मेघ जैसे विद्युत् दण्ड से पर्वत पर प्रहार करता है उसी प्रकार बाहुबली के मस्तक पर प्रहार किया। लोहे के ऐरण पर वज्रमणि की तरह उस आघात से बाहुबली घुटने तक जमीन में धँस गए। मानो निज अपराध से भयभीत हो गया है इस प्रकार चक्री का दण्ड वज्रसार की तरह बाहुबली पर प्रहार कर टुकड़े-टुकड़े हो गया। घुटने तक धँसे हुए बाहुबली पर्वत पर स्थित पर्वत की तरह धरती से निकलने वाले शेषनाग की तरह शोभित होने लगे। मानो बड़े भाई के पराक्रम से चमत्कृत हो गए हैं इस प्रकार उस आघात की वेदना से वे सिर धुनने लगे एवं आत्माराम योगी की तरह क्षण मात्र के लिए कुछ सुन ही नहीं पाए। फिर नदी तट के सूखे कर्दम से जिस प्रकार हस्ती बाहर होता है उसी प्रकार बाहुबली धरती से बाहर निकले और लाक्षारस-सी दृष्टि से अपनी भुजाओं का तिरस्कार कर रहे हों इस भाँति क्रोधियों में अग्रणी अपने भुजदण्डों को देखने लगे। तदुपरान्त तक्षशिलापति बाहुबली तक्षक नाग की तरह दुष्प्रेक्ष्य दण्ड

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी म

को एक हाथ में घुमाने लगे। तीव्र वेग से घूमता हुआ वह दण्ड राधावेध में घूमते हुए चक्र की शोभा को धारण करने लगा। प्रलय कालीन समुद्र के आवर्त्त में घूर्णित मत्स्यावतारी विष्णु की तरह घूमते उस दण्ड को देखकर लोगों की आँखें भी भ्रम में पड़ गयीं। उस सेना के सभी लोगों एवं देवताओं को भी यही शंका होने लगी कि यदि बाहुबली के हाथ से छूट कर दण्ड उड़ जाए तो वह सूर्य को काँसे के पात्र की तरह तोड़ देगा। चन्द्रमण्डल को भारण्ड पक्षी के अण्डे की तरह चूर्ण कर देगा, नक्षत्रों को आँवले के फल की तरह झाड़ देगा, वैमानिक देवों के विमान को पक्षियों के नीड़ की तरह छिन्न कर देगा, पर्वत शिखर को वल्मीक की तरह फोड़ देगा, बड़े-बड़े वृक्षों को कुंज के तृणों की तरह कुचल देगा और पृथ्वी को कच्ची मिट्टी के गोलक को तरह चूर देगा। इस प्रकार शंकित दृष्टि से परिदृष्ट उस दण्ड से बाहुबली ने चक्री के मस्तक पर प्रहार किया। उस दण्ड के आघात से वज्राघात से विध्वंस दुर्ग की तरह चक्री गले तक धरती में धँस गए। उनके सैनिक भी दुःखित होकर धरती पर गिर पड़े मानो वे याचना कर रहे हों कि हमारे प्रभु को जिस प्रकार धरती में प्रविष्ट करा दिया उसी प्रकार हमको भी करा दीजिए। राहु के द्वारा ग्रसित सूर्य की तरह जब चक्री धरती में प्रविष्ट हुए उस समय आकाश में देवों का और धरती पर मनुष्यों का कोलाहल सुनायी पड़ा। जिनकी आँखें बन्द हो गई हैं, मुँह कृष्णवर्ण हो गया है ऐसे भरतपति मानो लज्जित हुए हों इस प्रकार कुछ क्षण भूमि में स्थिर रहे। फिर उसी समय इस भाँति पृथ्वी से निकले जिस प्रकार रात्रि समाप्त होने पर सूर्य देदीप्यमान और अधिक तेज होकर बाहर निकलता है। (श्लोक ६६४-७०१)

उस समय चक्री सोचने लगे—जिस प्रकार अन्ध जुआरी प्रत्येक प्रकार से जुए में हार जाता है उसी प्रकार बाहुबली के साथ हर प्रकार के युद्ध में मैं हार गया हूँ। तो क्या गाय जैसे घास विचाली खाती है; किन्तु उससे उत्पन्न दुग्ध दोहन करने वाला उपभोग करता है उसी प्रकार मेरे द्वारा विजित भरत क्षेत्र का उपभोग बाहुबली करेगा? एक म्यान में दो तलवार की तरह भरत क्षेत्र में एक ही समय में दो चक्रवर्ती तो न कभी देखे गए न सुने गए। गधे के सींगों की तरह देवताओं द्वारा इन्द्र एवं राजाओं द्वारा चक्रवर्ती पर जय लाभ इसके पूर्व कभी सुना नहीं गया। तो क्या

बाहुबली द्वारा पराजित मैं चक्रवर्ती नहीं बनूँगा ? जिसको मैं जीत नहीं सका और न ही संसार में अन्य कोई जीत सका ऐसा बाहुबली ही क्या चक्रवर्ती बनेगा ? (श्लोक ७०२-७०६)

चक्रवर्ती जब ऐसा विचार कर रहे थे उसी समय यक्ष राजाओं ने चिन्तामणि रत्न-सा चक्र उनके हाथों में दे दिया। उससे भरत को विश्वास हुआ कि अभी तक वे चक्रवर्ती हैं। तब उन्होंने अवसर जिस भाँति आकाश में धूल को घूर्णित करता है उसी प्रकार आकाश में चक्र घुमाने लगे। किरणजालों से विकट बना वह चक्र ऐसा लग रहा था मानो असमय में कालाग्नि उद्दीप्त हो गई है। जैसे वह द्वितीय बड़वानल या अकस्मात् उत्पन्न वज्राग्नि या ऊर्ध्वोत्थित विद्युत्-पुंज अथवा पतनशील सूर्य बिम्ब या विद्युत् गोलक है। चक्रवर्ती द्वारा प्रहार के उद्देश्य से घूमते हुए उस चक्र को देखकर मनस्वी बाहुबली मन में विचारने लगे—स्वयं को ऋषभदेव का पुत्र कहने वाले इस राजा भरत को धिक्कार है और उसके क्षात्र धर्म को भी धिक्कार है। मैंने जब दण्ड आयुध लिया तो उन्होंने चक्र आयुध ग्रहण किया। उन्होंने देवों [illegible] उत्तम युद्ध की प्रतिज्ञा की थी, किन्तु ऐसा व्यवहार कर उन्होंने बालक की तरह प्रतिज्ञा भंग कर दी है। अतः उसे धिक्कार है। तपस्वी जैसे तेजोलेश्या का भय दिखाता है उसी प्रकार क्रुद्ध भरत चक्र दिखाकर जैसे समस्त विश्व को भय दिखाना चाहता है; किन्तु जिस प्रकार स्व भुजदण्डों की शक्ति उन्हें ज्ञात हो गई है उसी प्रकार चक्ररत्न की शक्ति भी परिज्ञात हो जाएगी। जिस समय शक्तिशाली बाहुबली ऐसा विचार कर रहे थे उसी समय भरत ने पूर्ण शक्ति से उन पर चक्र निक्षेप किया। चक्र को अपनी ओर आते देख तक्षशिलापति विचार करने लगे—तो क्या जीर्ण पात्र की तरह मैं इसे चूर्ण कर दूँ ? क्रीड़ा कन्दुक की तरह इस पर प्रहार कर क्या इसे नीचे गिरा दूँ ? खेल ही खेल में पत्थर के टुकड़े की तरह क्या मैं इसे आकाश में उछाल दूँ अथवा शिशुनाल की तरह इसे भूमि में गाड़ दूँ ? अथवा चंचल पक्षी-शावक की तरह इसे पकड़ लूँ ? या वध्य अपराधी की तरह दूर से ही इसका परित्याग कर दूँ ? या चक्की में दिए शस्य की तरह इसके अधिष्ठायक देवताओं को दण्ड द्वारा पीस दूँ ? या फिर वह सब पीछे होगा पहले इसकी शक्ति से तो अवगत होऊँ। इसी प्रकार जब वे विचार कर रहे थे उसी समय शिष्य आकर जैसे गुरु को प्रदक्षिणा

देता है उसी प्रकार चक्र ने बाहुबली को प्रदक्षिणा दी। कारण, चक्री का चक्र जब सामान्य स्व-गोत्रीय पर प्रहार नहीं कर सकता तो चरम शरीरी स्व-गोत्रीय पर तो प्रहार करता ही कैसे? इसलिए पक्षी जैसे नीड़ में लौट जाता है, अश्व जैसे अश्वशाला में चला जाता है वैसे ही चक्र राजा भरत के हाथों में लौट आया।

(श्लोक ७०७-७२४)

मारने के विषधारी सर्प-सा अमोघ अस्त्र एक चक्र ही भरत के पास था। अब ऐसा दूसरा अस्त्र भरत के पास नहीं था। अतः चक्र निक्षेप कर अन्याय करने वाले भरत को और उसके चक्र को मुष्ठि प्रहार से चूर-चूर कर दूँ, क्रोधावेग में ऐसा सोचते-सोचते सुनन्दा पुत्र बाहुबली यमराज की तरह भयंकर मुष्ठि उत्तोलित कर चक्री की ओर दौड़े। सूँड में मुद्गर लिए हाथी की तरह मुष्ठि बद्ध दौड़ते हुए बाहुबली भरत के निकट जा खड़े हुए; किन्तु समुद्र जैसे मर्यादित भूमि में ही अवस्थित रहता है उसी प्रकार वे महासत्त्व कुछ कदम पीछे ही खड़े रहे और सोचने लगे—हाय! इस चक्रवर्ती की तरह राज्य-लोभी बड़े भाई का वध करने को मैं प्रस्तुत हुआ एतदर्थ मैं शिकारी से भी अधिक पापी हूं। जिसमें पहले ही भ्राता और भ्रातृपुत्र को मार डालना होता है इस प्रकार के शाकिनी मन्त्र से राज्य के लिए कौन प्रयास करता है? राजा राज्यश्री प्राप्त करते हैं, इच्छानुरूप उसका उपभोग भी करते हैं; किन्तु मदिरा से जैसे कभी सन्तोष नहीं मिलता उसी प्रकार राजाओं को भी प्राप्त राज्यलक्ष्मी से सन्तोष नहीं होता। पूजा-आराधना करने पर भी छद्र छिद्र देखकर दुष्ट देवताओं की तरह राज्यलक्ष्मी भी मुहूर्तमात्र में विपरीतगामिनी हो जाती है। अमावस्या की रात्रि की तरह वह प्रगाढ़ अन्धकारमयी होती है। यदि ऐसा नहीं हुआ होता तो पिता क्यों उसका परित्याग करते? मैं उस पिता का पुत्र होकर भी जब यह इतने दिनों बाद जान पाया हूं तब अन्य उसे इस प्रकार कैसे जान सकते हैं? अतः यह राज्यलक्ष्मी सर्वदा त्याग करने योग्य है। ऐसा सोचते हुए उदार हृदय बाहुबली ने चक्रवर्ती से कहा—हे क्षमानाथ, हे भाई, केवल राज्य के लिए मैं शत्रु की तरह आपको व्यथित कर रहा हूं, मुझे क्षमा करिए। इस संसार रूपी वृहत् सरोवर में शैवाल-जाल की तरह भाई-बन्धु और पुत्र-कलत्र हैं। अब इस राज्य से मुझे कोई प्रयोजन नहीं है। मैं तीन लोक के स्वामी

और जगत् को अभयदान देने का व्रत धारण करने वाले पिता के पथ पर पांथ की तरह चलूँगा। (श्लोक ७२५-७३९)

ऐसा कहकर साहसी पुरुषों में अग्रणी महासत्त्ववान् बाहुबली ने उत्तोलित मुष्टि से ही अपने मस्तक के केश उखाड़ डाले। उसी समय देवताओं ने साधु-साधु कहकर उनके मस्तक पर पुष्पवृष्टि की। फिर पंच महाव्रत धारण कर वे मन ही मन सोचने लगे—मैं अभी पिता के चरणों में उपस्थित नहीं होऊँगा। कारण, यदि अभी गया तो मेरे छोटे भाइयों ने, जिन्होंने मुझसे पूर्व ही व्रत ग्रहण किया है और ज्ञानी हैं, उनमें मैं छोटा गिना जाऊँगा। अतः मैं अभी यहीं ज्ञान रूपी अग्नि प्रज्वलित करूँगा और उससे घाती कर्मों को क्षय कर केवल-ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् ही स्वामी की पर्षदा में जाऊँगा। (श्लोक ७४०-७४४)

ऐसा निश्चय कर मनस्वी बाहुबली अपने दोनों हाथ लम्बे कर प्रतिमा की तरह उसी स्थान पर कायोत्सर्ग ध्यान में अवस्थित हो गए। अपने भाई की इस स्थिति को देखकर राजा भरत अपने कुकर्म पर विचार कर मानो पृथ्वी में प्रवेश करना चाह रहे हों इस प्रकार माथा नीचा कर खड़े हो गए। तदुपरान्त मानो मूर्त्तिमान शान्त रस हों इस प्रकार अपने भाई को अल्प ऊष्म अश्रु से, जैसे अवशेष क्रोध को प्रवाहित कर दिया हो, इस प्रकार राजा भरत ने प्रणाम किया। प्रणाम करते समय बाहुबली के पदनख रूपी दर्पण में राजा भरत का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ा। देखकर लगा मानो तीव्र उपासना के लिए उन्होंने बहुरूप धारण किया है। तत्पश्चात् बाहुबली का गुण स्तवन और अपवाद रूपी रोग की औषधि समान आत्म-निन्दा करने लगे। (श्लोक ७४५-७४९)

'हे भाई, तुम धन्य हो कि मुझ पर अनुकम्पा कर तुमने राज्य का ही परित्याग कर दिया। मैं पापी और दुर्मद हूँ जो कि असन्तुष्ट होकर तुम्हें इस प्रकार कष्ट दिया। जो निज शक्ति को नहीं जानते, अन्यायी और लोभ के वशवर्ती हैं उनमें मैं धुरन्धर हूँ। जो व्यक्ति इस राज्य को संसाररूपी वृक्ष का बीज नहीं समझते वे अधम हैं। मैं उनसे भी अधिक अधम हूँ। कारण, ऐसा जानकर भी मैं राज्य का परित्याग नहीं करता हूँ। तुम्हीं पिता के सच्चे पुत्र हो तभी तो तुमने उनका मार्ग अङ्गीकार किया है। यदि मैं तुम्हारे जैसा हो

सका तभी पिता का वास्तविक पुत्र कहलाने का अधिकारी होऊँगा।' (श्लोक ७५०-७५३)

इस भाँति पश्चात्ताप रूपी जल में विषाद रूपी कर्दम को धोकर राजा भरत ने बाहुबली के पुत्र चन्द्रयशा को सिंहासन पर बैठाया। चन्द्रयशा से चन्द्रवंश का प्रारम्भ हुआ और वह शत-शत शाखाओं में विभाजित हुआ। इस प्रकार वे पुरुष रत्नों की उत्पत्ति के कारण रूप हुए। (श्लोक ७५४-७५५)

फिर राजा भरत बाहुबली को नमस्कार कर परिवार सहित स्वर्ग राज्यलक्ष्मी की सहोदरा तुल्य अपनी अयोध्या नगरी को लौट गए। (श्लोक ७५६)

भगवान् बाहुबली मानो पृथ्वी से बहिर्गत हुए हों अथवा आकाश से अवतरित हुए हों इस प्रकार अकेले ही वहाँ कायोत्सर्ग ध्यान में निरत हो गए। ध्यानलीन बाहुबली की दोनों आँख नासिका के अग्रभाग पर स्थित थीं और मानो दिक्समूह को वश में करने की शंकु हों इस प्रकार स्थिर भाव से दण्डायमान वे महात्मा मुनि शोभित होने लगे। अग्नि स्फुलिंग की तरह तप्त धूल बरसाने वाली ग्रीष्मकालीन आँधी वे वनवृक्षों की तरह सहन कर रहे थे। अग्नि-कुण्ड-सा मध्याह्न का सूर्य उनके मस्तक पर ताप दे रहा था फिर भी ध्यान रूपी अमृत में लीन उन महात्मा पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। सिर से पैर पर्यन्त देह पर लगी हुई धूल पसीने से कर्दम की तरह हो रही थी। अतः वे कर्दम लिप्त वाराह की तरह शोभित हो रहे थे। वर्षाकाल में जलवर्षणकारी हवा से एवं वृक्ष को कंपा देने वाली मूसलाधार वर्षा से भी वे विचलित नहीं हुए। वे पर्वत की तरह स्थिर रहे। पर्वत शिखर को थर्रा देने वाली बिजली भयंकर शब्द करती हुई गिरती फिर भी वे कायोत्सर्ग ध्यान से विचलित नहीं होते। जंगल के सरोवर की सीढ़ियों पर जिस प्रकार काई जम जाती है उसी प्रकार उनके पाँवों पर प्रवहमान जल से काई जम गई थी। शीत के दिनों में नदी का जल जम जाने से नदी विनाशकारी हो उठती थी; किन्तु ध्यान रूपी अग्नि में कर्म रूपी ईंधन को जलाने में प्रयासरत बाहुबली वहीं आरामपूर्वक खड़े रहते। हिम से वृक्ष को क्लेश प्रदान करने वाली हेमन्त ऋतु की रात्रि में भी बाहुबली का धर्म-ध्यान कुन्द फूल की तरह बढ़ता

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

रहा। जंगली भैंसे महा-महीरुह के अङ्गों की तरह उनके शरीर पर टक्करें मारते और अपनी देह रगड़ कर खुजली मिटाते। वाघिनियाँ उनके शरीर को पर्वत का निम्न भाग समझकर उनके सहारे सुख-पूर्वक रात्रि व्यतीत करतीं। हाथी सल्लकी वृक्ष की डाल के भ्रम से उस महात्मा के हाथ-पाँव खींचता; किन्तु वे उससे खिंचते नहीं थे अतः हाथी लज्जित होकर चला जाता। चमरी गायें निर्भय होकर वहाँ आतीं और मुँह ऊँचा कर धारे-सी कंटकमय जीभ से उस महात्मा की देह को चाटतीं। उनके शरीर को शत-शत शाखा प्रशाखा युक्त लताओं ने इस प्रकार जकड़ लिया था जैसे मृदङ्ग में चमड़े की पट्टी जड़ी रहती है। उनकी देह के चारों ओर सरकण्डों के वृक्ष अंकुरित होने लगे। उससे वे इस प्रकार शोभित होते मानो पूर्व स्नेहवश आगत तीर युक्त तूणीर हो। वर्षा ऋतु के कर्दम में डूबे उनके पाँवों को बींधकर सौ-पाँवों वाले डाभ की शूलें अंकुरित हो गई थीं। लता-आवृत उनकी देह पर पक्षियों ने बिना किसी बाधा के घोंसले बना लिए। वन्य-मयूर के शब्दों से भीत हजार-हजार सर्प लता से गहन होने के कारण उनके शरीर पर चढ़ते। उनके शरीर पर चढ़कर लटकते हुए सर्पों के कारण बाहुबली हजार हाथों वाले लगते। उनके पाँवों के पास बने बिवर से निकलकर सर्प उनके पाँवों से इस प्रकार लिपट जाते कि वे उनके कड़े से लगते। (श्लोक ७५७-७७७)

इस प्रकार ध्यानलीन बाहुबली का एक वर्ष विचरण करते हुए अनाहारी भगवान ऋषभदेव के एक वर्ष की तरह व्यतीत हो गया। जब एक वर्ष पूर्ण हो गया तब विश्व वत्सल भगवान ऋषभ ने ब्राह्मी व सुन्दरी को बुलाकर कहा—अब बाहुबली अनेक कर्मों को क्षयकर शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी की तरह अन्धकार रहित हो गए हैं। किन्तु पर्दे के पीछे रखा वस्त्र जिस प्रकार दिखलायी नहीं पड़ता उसी प्रकार मोहनीय कर्म के अंश रूप मान के कारण उन्हें केवल ज्ञान नहीं हो रहा है। अब तुम्हारी बात सुन कर वे मान छोड़ देंगे। अतः तुम लोग उपदेश देने के लिए उनके निकट जाओ। उपदेश देने का यही योग्य समय है। (श्लोक ७७८-७८२)

प्रभु के चरणों में प्रणाम कर उनकी आज्ञा को शिरोधार्य करती हुई ब्राह्मी व सुन्दरी बाहुबली के पास जाने को रवाना हुईं।

महाप्रभु ऋषभ पहले से ही बाहुबली के मान की बात जानते थे फिर भी एक वर्ष पर्यन्त उनकी उपेक्षा की। अर्हत् स्थिर लक्ष्य सम्पन्न होते हैं। एतदर्थ समय उपस्थित होने पर ही वे उपदेश देते हैं। (श्लोक ७८३-७८४)

आर्या ब्राह्मी व सुन्दरी उस देश में गईं किन्तु धूल से आवृत रत्न की तरह अनेक लताओं द्वारा वेष्टित वे महामुनि उन्हें दृष्टि-गोचर नहीं हुए। बहुत खोज तलाश के पश्चात् वे आर्यिकाएँ वृक्ष के समान बने उस महात्मा को पहचान सकीं। बड़ी चतुरता से उन्हें भली भाँति पहचान कर दोनों आर्यिकाओं ने महामुनि बाहुबली को तीन प्रदक्षिणा देकर वन्दन किया और इस प्रकार बोलीं—हे ज्येष्ठ आर्य, हमारे पिता भगवान ऋषभ ने हम लोगों के द्वारा आपको कहलवाया है—'हस्ती पर आरूढ़ व्यक्ति को केवल ज्ञान कभी नहीं होता।' (श्लोक ७८५-७८८)

ऐसा कहकर दोनों आर्यिकाएँ जिस प्रकार आयी थीं उसी प्रकार चली गयीं। यह सुनकर महात्मा बाहुबली के मन में आश्चर्य हुआ। वे सोचने लगे—'मैंने समस्त सावद्य योग का त्याग किया है। मैं वृक्ष की तरह कायोत्सर्ग कर वन के मध्य खड़ा हूँ। फिर भी हस्ती पर आरूढ़ हूं? कैसे? ये दोनों आर्यिकाएँ भगवान की शिष्याएँ हैं। ये कभी झूठ नहीं बोल सकतीं। तो फिर इसका क्या अर्थ है? हाँ—ऐसा होता है। अब मैं समझ गया! इतने दिनों मैं जो सोचता रहा कि व्रत में बड़े होने पर भी उम्र में छोटे मेरे भाइयों को मैं कैसे नमस्कार करूँगा—यही मेरा अभिमान है। यही वह हाथी है। उसी पर मैं निर्भय होकर बैठा हूँ। मैंने त्रिलोक के स्वामी की चिरकाल सेवा की है तब भी मुझे उसी प्रकार ज्ञान नहीं हुआ जिस प्रकार जल निवासी कर्कट को तैरना नहीं आता। इसी लिए मुझसे पूर्व व्रत ग्रहण करने वाले महामना भाइयों को ये छोटे हैं ऐसा समझकर वन्दना करने की इच्छा नहीं हुई। अब मैं अभी जाकर उन महामुनियों की वन्दना करूँगा। (श्लोक ७८९-७९५)

ऐसा विचार कर महासत्त्व बाहुबली ने जाने के लिए जैसे ही पाँव उठाए उसी क्षण जिस प्रकार उनके शरीर से लताएँ छिन्न होने लगीं उसी प्रकार उनके घाती कर्म भी क्षय होने लगे और तत्क्षण उन्हें केवल ज्ञान उत्पन्न हो गया। जिन्हें केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ है

ऐसे सौम्य दर्शन युक्त महात्मा बाहुबली चन्द्र जैसे सूर्य के पास जाता है उसी प्रकार ऋषभ स्वामी के पास गए। तीर्थंकर को प्रदक्षिणा देकर एवं तीर्थ को नमस्कार कर जगत्पूज्य बाहुबली मुनि प्रतिज्ञा में उत्तीर्ण होकर केवलियों की पर्षदा में जा बैठे। (श्लोक ७९६-७९८)

(पंचम सर्ग समाप्त)

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

षष्ठ सर्ग

भगवान ऋषभदेव के शिष्य, अपने नाम की तरह ग्यारह अंग का पठन करने वाले साधु गुण युक्त एवं हस्तिपति के साथ जिस प्रकार कलभ (हस्ती शावक) रहता है इसी प्रकार स्वामी के साथ सर्वदा विचरणकारी भरत पुत्र मरीचि स्वामी के साथ ग्रीष्मकाल में विहार कर रहे थे। एक दिन द्विप्रहर के समय चारों ओर के पथ की धूल सूर्य किरणों से इस प्रकार प्रखर हो उठी मानो लौह धौंकनी से हवा कर उन्हें उद्दीप्त किया गया है। जैसे अदृश्य अग्नि की ज्वाला हो इस प्रकार उत्तप्त आवर्त्त द्वारा पथ रुद्ध हो गया था। उसी समय अग्नि उत्तप्त ईषत् आर्द्र ईंधन की तरह उनका शरीर सिर से पैर तक स्वेद धारा से पूरित हो गया था। जल में भिगोए सूखे चमड़े की गन्ध की तरह पसीने में भीगे वस्त्रों के कारण उनके शरीर के मैल की दुःसह दुर्गन्ध आ रही थी। उनके पाँव जले जा रहे थे। उस समय उनकी स्थिति उत्तप्त स्थान में स्थित नकुल जैसी हो रही थी। ग्रीष्म के कारण वे प्यास से आकुल होकर सोचने लगे : (श्लोक १-७)

'केवल ज्ञान और केवल दर्शन रूप सूर्य-चन्द्र द्वारा शोभित होकर मेरु पर्वत तुल्य त्रिलोक गुरु ऋषभदेव स्वामी का मैं पौत्र हूं और अखण्ड छह खण्ड सहित पृथ्वीमण्डल के इन्द्र एवं विवेक में अद्वितीय निधि रूप राजा भरत का मैं पुत्र हूं। चतुर्विध संघ के समक्ष ऋषभदेव स्वामी से मैंने पंच महाव्रत धारण कर दीक्षा ग्रहण की। अतः जिस प्रकार वीर पुरुषों का युद्ध से भागना उचित नहीं होता उसी प्रकार इस स्थान को त्याग कर घर जाना मेरे लिए उचित नहीं होगा। वह लज्जास्पद है; किन्तु वृहद् पाषाण को जिस प्रकार बहुत कठिनता से उठाया जा सकता है उसी प्रकार

चारित्र रूपी इस भार को तो मैं क्षण मात्र के लिए भी वहन करने में असमर्थ हूं। मेरे लिए यह व्रत पालन कठिन हो गया है। किन्तु इसका परित्याग कर देने से कुल कलंकित होगा। अतः एक ओर सिंह दूसरी ओर नदी इस भांति मैं मध्य में फंस गया हूं; किन्तु मैं जान गया हूं कि पर्वत पर चढ़ने के लिए जैसे पगडण्डी होती है उसी प्रकार इस कठिन मार्ग का भी सुगम मार्ग है। (श्लोक ८-१०)

ये सब साधु मनोदण्ड, कायदण्ड को जीतने वाले हैं; किन्तु मैं तो इनसे पराजित हो गया हूं इसलिए मैं त्रिदण्डी बनूंगा। ये श्रमण इन्द्रिय जय करते हैं और केश उत्पाटित कर मुण्डित हो जाते हैं; किन्तु मैं माथा मुण्डित न कर शिखा रखूंगा। ये स्थूल और सूक्ष्म उभय प्रकार के प्राणी वध से विरक्त हो गए हैं और मैं केवल स्थूल प्राणी वध से विरत रहूंगा। ये अकिंचन रहते हैं और मैं स्वर्ण मुद्रादि रखूंगा। उन्होंने जूतों का परित्याग किया है; किन्तु मैं जूते पहनूंगा। ये अठारह हजार शील धारण कर अत्यन्त सुवासित हो गए हैं मैं उनसे रहित होकर दुर्गन्धयुक्त हो गया हूं इसीलिए चन्दन ग्रहण करूंगा। ये श्रमण मोहरहित हैं मैं मोह द्वारा आविष्ट इसके चिह्न रूप सिर पर छत्र धारण करूंगा। ये कषायरहित होने के कारण श्वेत वस्त्र धारण करते हैं मैं कषाय द्वारा कलुषित हूं इसलिए कषाय (गैरिक) वस्त्र धारण करूंगा। ये मुनि पाप के भय से अनेक जीव युक्त सचित्त जल का त्याग करते हैं मैं परिमित जल में स्नान करूंगा, पान करूंगा। (श्लोक १५-२२)

इस प्रकार स्वबुद्धि से निज वेष की कल्पना कर मरीचि ऋषभदेव के साथ प्रव्रजन करने लगे। खच्चर जिस प्रकार गधा या घोड़ा नहीं होता उभय अंशों से उत्पन्न होता है उसी प्रकार मरीचि भी न मुनि थे न गृहस्थ। वे उभय अंशों को लेकर नवीन वेषधारी साधु बन गए थे। हंसों के मध्य काक की तरह साधुओं के मध्य इस विकृत साधु को देखकर बहुत से लोग 'धर्म क्या है?'—उनसे पूछते। उसके उत्तर में वे मूल और उत्तर गुणयुक्त साधु धर्म का उपदेश देते। यदि कोई उनसे पूछता कि तब आप उस प्रकार क्यों नहीं चलते तो वे कहते, मैं असमर्थ हूं। ऐसे उपदेश से यदि कोई भव्य जीव दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा करता तो वे प्रभु के पास भेज देते। अतः मरीचि से प्रतिबोध प्राप्त भव्य जीव को निष्कारण

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

उपकारकारी बन्धु के समान भगवान् स्वयं दीक्षा देते।

(श्लोक २३-२८)

इस प्रकार प्रभु के साथ प्रव्रजनकारी मरीचि के शरीर में एक दिन काठ में जैसे घुन लग जाता है उसी प्रकार एक महा व्याधि उत्पन्न हो गयी। यूथभ्रष्ट कपि को तरह व्रत भ्रष्ट मरीचि का उनके साथी साधुओं ने प्रतिपालन नहीं किया। ऊख का खेत जैसे रक्षकहीन होने पर शूकर आदि पशुओं द्वारा क्षतिग्रस्त हो जाता है उसी प्रकार सेवा-शुश्रूषा न होने पर मरीचि के लिए वह व्याधि अत्यधिक दुःखदायी हो गयी। बृहद् अरण्य में सहायहीन पुरुष की तरह घोर व्याधि से आक्रान्त मरीचि अपने मन में विचार करने लगा—हाय! मेरे इसी भव में किसी अशुभ कर्म का उदय हुआ है इसलिए अपने साधु ही अन्य की तरह मेरी उपेक्षा करते है। किन्तु उल्लू जैसे दिन में नहीं देख पाता उसमें प्रकाशकारी सूर्य का कोई दोष नहीं है। कारण उत्तमकुल सम्पन्न जिस प्रकार म्लेच्छ की सेवा नहीं करते उसी प्रकार पाप कर्म करने वाले की सेवा कैसे करेंगे? फिर उनसे सेवा करवाना भी मेरे लिए उचित नहीं है। कारण, व्रत भंग से मुझे जो पाप लगा है उनसे सेवा कराने से उसमें और वृद्धि ही होगी। मेरी सेवा शुश्रूषा के लिए तो मेरे ही जैसे कोई मन्द धर्मात्मा व्यक्ति का सम्बन्ध करना होगा कारण मृग के साथ मृग का ही मिलान होगा। ऐसा विचार करते-करते कुछ दिन बाद मरीचि रोग-मुक्त हो गए। कहा भी गया है कि ऊषर भूमि भी कभी-कभी अपने आप उपजाऊ हो जाती है। (श्लोक २९-३८)

एक समय भगवान ऋषभदेव विश्व के उपकार के लिए जो वर्षाकालीन मेघ की तरह हैं, देशना दे रहे थे। वहां कपिल नामक कोई भव्य राजकुमार आया और धर्म श्रवण किया। भगवान कथित वह धर्म चन्द्रिका जैसे चक्रवाक को, दिवस जैसे उल्लू को, औषध जैसे भाग्यहीन रोगी को, शीतल पदार्थ जैसे वातरोगी को और मेघ जैसे बकरे को अच्छा नहीं लगता उसी प्रकार उसे अच्छा नहीं लगा। अन्य रूप धर्म सुनने की इच्छा से कपिल इधर-उधर देखने लगा। प्रभु की शिष्य मण्डली में तभी उसे विचित्र वेषधारी मरीचि दिखाई पड़ा। कुछ खरीदने की इच्छा से बालक जैसे बड़ी दुकान से छोटी दुकान पर जाता है उसी प्रकार अन्य धर्म श्रवण के लिए इच्छुक कपिल प्रभु के निकट से उठकर मरीचि के पास गया।

उसने मरीचि से धर्म मार्ग पूछा। मरीचि ने उत्तर दिया—'मेरे पास कोई धर्म नहीं है। यदि धर्म चाहते हो तो प्रभु का शाश्रय लो।' मरीचि की बात सुनकर कपिल पुनः प्रभु के पास गया और पूर्व की भांति धर्मोपदेश सुनने लगा। (श्लोक ३९-४६)

उसके जाने के पश्चात् मरीचि ने विचार किया—स्वकर्म दूषित इस व्यक्ति को प्रभु का धर्म अच्छा नहीं लगा क्योंकि दरिद्र चातक को पूर्ण सरोवर से क्या लाभ? (श्लोक ४७)

अल्पक्षण के पश्चात् कपिल पुनः मरीचि के पास आया और बोला—'आपके पास क्या जैसा-तैसा धर्म भी नहीं है? यदि धर्म नहीं है तो व्रत कैसे सम्भव है?' मरीचि ने सोचा—दैवयोग से यह मेरे जैसा ही लगता है। बहुत दिनों पश्चात् समान विचारधर्मी प्राप्त हुआ है। अतः मुझ असहाय का यही सहायक बने। ऐसा सोच कर उन्होंने प्रत्युत्तर दिया—'वहां भी धर्म है और यहां भी धर्म है।' अपने इस उत्सूत्र कथन से मरीचि ने कोट्यानुकोटि सागरोपम का उत्कट संसार भ्रमण बढ़ा लिया। मरीचि ने तब कपिल को दीक्षा देकर अपना सहायक बना लिया। इन्हीं से परिव्राजक धर्म का आरम्भ हुआ। (श्लोक ४८-५२)

विश्वोपकारी भगवान् ऋषभदेव ग्राम, आकर, पुर, द्रोणमुख, खर्वट, पत्तन, मण्डप, आश्रम, खेट आदि पूर्ण पृथ्वी पर प्रव्रजन करने लगे।

प्रव्रजन के समय (१) अपने चारों ओर एक सौ पच्चीस योजन पर्यन्त मनुष्यों की व्याधि दूर कर वर्षा ऋतु के मेघ की तरह जगत् के प्राणियों को शान्ति देते। (२) राजा जिस प्रकार अनीति दूर कर प्रजा को सुख पहुंचाता है उसी प्रकार टिड्डीदल, चूहे, पक्षी आदि उपद्रवकारी प्राणियों की प्रवृत्ति को संयमित कर सबकी रक्षा करते थे। (३) सूर्य जैसे अन्धकार को दूर कर प्राणियों को सुख देता है उसी भांति किसी कारणवश उत्पन्न अथवा शाश्वत वैर को दूर कर प्राणियों को प्रसन्न करते थे। (४) पहले जिस प्रकार सुख प्रदानकारी व्यवहार प्रवृत्ति से सबको आनन्दित करते थे उसी प्रकार अब विहार प्रवृत्ति से सबको आनन्दित करते। (५) औषध से जैसे अजीर्ण एवं अति क्षुधा दूर होती है उसी प्रकार वे अतिवृष्टि और अनावृष्टि दूर करते। (६) अन्तःशल्य की तरह उनके आने से स्व-

चक्र और परचक्र भय तत्क्षण दूर हो जाता। अतः सुखी लोग अत्यन्त उत्साह के साथ उनका स्वागत उत्सव करते। (७) मान्त्रिक पुरुष जैसे भूत या राक्षस से रक्षा करते हैं उसी प्रकार संहारकारक घोर दुर्भिक्ष से वे सबकी रक्षा करते। इस उपकार के कारण समस्त जीव उनकी स्तुति करते। (८) भीतर न समा सकने के कारण बाहर आई अनन्त ज्योति ही ऐसी और सूर्य मण्डल को परास्त करने वाली प्रभा वे धारण करते थे। (९) अग्रगामी चक्र से जैसे चक्रवर्ती शोभित होता है वैसे ही [illegible] अग्रगामी धर्मचक्र से वे शोभित होते। (१०) समस्त कर्मों को जय करने के कारण उच्च जय स्तम्भ की तरह छोटी-छोटी ध्वजाओं से युक्त एक धर्म-ध्वजा उनके आगे-आगे चलती। (११) मानो उनके प्रयाण के लिए उचित कल्याण मङ्गल कर रहे हों ऐसी महान् शब्दकारी दुन्दुभि उनके आगे बजती। (१२) वे जैसे स्वयं के यश हों इस प्रकार आकाश स्थित पादपीठ सहित रत्न सिंहासन से शोभते थे। (१३) देवताओं द्वारा रचे स्वर्ण-कमलों पर अपने सुन्दर चरण रख वे चलते। (१४) उनके भय से मानो रसातल में प्रवेश करना चाहते हों इस प्रकार निम्न-मुखी तीक्ष्ण कंटकों द्वारा उनका साधु-साध्वी समूह आश्लिष्ट नहीं होता। (१५) छह ऋतुएँ एक साथ उनकी उपासना करतीं मानो कामदेव को सहायता कर उन्होंने जो पाप किया था उसका प्रायश्चित कर रही हों। (१६) पथ के चारों ओर के वृक्ष, यद्यपि वे ज्ञान रहित हैं लगता उन्हें झुक कर प्रणाम कर रहे हैं। (१७) पंखे की हवा की तरह मृदु शीतल और अनुकूल पवन निरन्तर उनकी सेवा करता। (१९) स्वामी के प्रतिकूलगामियों का कल्याण नहीं होता ऐसा सोचकर पक्षी नीचे उतर उनकी प्रदक्षिणा देते हुए दाहिनी ओर चले जाते। (१९) चपल तरंगों से जैसे समुद्र शोभा पाता है उसी प्रकार आवागमनकारी कम से कम एक कोटि सुरासुरों से वे शोभा पाते। (२०) भक्तिवश चन्द्र दिन के समय ही चन्द्रप्रभा सहित आकाश में स्थित हो गया है ऐसे छत्र से वे शोभित होते। (२१) मानो चन्द्र से पृथक् कर दिए गए हों ऐसे किरण पुञ्ज हों और गङ्गा-तरङ्ग की तरह श्वेत चमर उन्हें वींजते। (२२) तपस्या से प्रदीप्त और सौम्य लक्ष-लक्ष साधुओं से प्रभु इस प्रकार शोभित होते जैसे तारों के मध्य चन्द्रमा शोभा पाता है। जिस प्रकार सूर्य समस्त सागर और सरोवर के कमल को प्रफुल्लित करता है उसी प्रकार वे

महात्मा प्रत्येक ग्राम और नगर के भव्य जीवों को प्रतिबोध देते।

इस प्रकार विचरण करते हुए भगवान् ऋषभदेव एक बार बार अष्टापद पर्वत पर गए। (श्लोक ५१-७७)

वह पर्वत अत्यन्त श्वेत होने से लगता जैसे शरद्कालीन मेघ-माला का एकत्र पुंज हो या हिमीभूत क्षीरसमुद्र की राशिकृत तरंग हो अथवा प्रभु के जन्माभिषेक के समय इन्द्र द्वारा रचित चार वृषभों के उच्च शृङ्गयुक्त एक वृषभ हो। वह पर्वत इस प्रकार शोभा पा रहा था मानो वह नन्दीश्वर द्वीप के सरोवर में स्थित दधिमुख पर्वत से आगत एक पर्वत हो या जम्बूद्वीप रूपी कमल की एक नाल या पृथ्वी का श्वेत रत्नमय मुकुट हो। वह निर्मल और प्रकाशशील था अतः ऐसा लगता कि देव सर्वदा उसे स्नान कराते हों और वस्त्र से पोंछते हों। हवा में प्रवाहित होकर आई कमल-रेणु से उसके निर्मल स्फटिक मणियों के तट को रमणियां नदी प्रवाह समान देखती थीं। उसके शिखर के अग्रभाग में विश्राम निरत विद्याधर पत्नियों को वह वैताढ्य और क्षुद्र हिमालय पर्वत को याद करवाता। ऐसा लगता जैसे वह स्वर्गभूमि का दर्पण हो, दिक्समूह का अतुल हास्य हो एवं ग्रह नक्षत्र निर्माण करने की मिट्टी का अक्षय स्थल हो। उस शिखर के मध्य भाग में क्रीड़ा-श्रान्त मृग बैठे थे उससे वह मृग लांछन का (चन्द्रमा का) भ्रम उत्पन्न कर रहा था। निर्झरिणी पंक्तियों से वह इस प्रकार शोभता था मानो वह निर्मल अर्द्धवस्त्र परित्याग कर देता हो अथवा सूर्यकान्त मणि की प्रसारित किरणों से वह उच्च पताका युक्त हो। उसके उच्च शिखर के अग्र-भाग पर सूर्य का संक्रमण होता। इससे वह सिद्धों की मुग्ध वधुओं को उदयाचल का भ्रम उत्पन्न करवाता। मानो मयूर पंखों से निर्मित वृहद् छत्र हो ऐसे अति आर्द्रपत्र वृक्षों की उस पर निरन्तर छाया रहती थी। (श्लोक ७८-८९)

खेचर स्त्रियां कौतुकवश मृग-शावकों का लालन-पालन करतीं। इससे हरिणियों के झरते हुए दूध से उनके कुंज सिंचित होते। कदलीपत्र में अर्द्ध वस्त्रावृत शबरी रमणियों के नृत्य देखने के लिए नगर नारियां वहां नेत्रों की पंक्तियां रचतीं अर्थात् अपलक नेत्रों से देखतीं। रतिश्रान्त सर्पिणियां वहां वन की मन्द-मन्द पवन पान करतीं। वहां के निकुंज वल्लरियों को पवन रूपी नट क्रीड़ा

से नृत्य कराता। किन्नर स्त्रियाँ रति आरम्भ होने पर उसकी गुफाओं को महल का रूप प्रदान करतीं। अप्सराओं के स्नान करने के समय उनकी कल्लोलों से सरोवर के जल तरंगित हो जाते। यक्ष-गण कहीं द्यूत-क्रीड़ा करते तो कहीं मदिरा-पान करते। कहीं बाजी लगाकर खेल होता। इससे उसका मध्य भाग कोलाहल से पूर्ण रहता। उस पर्वत पर किसी जगह किन्नर स्त्रियाँ, कहीं भील पल्लियाँ, कहीं विद्याधर रमणियाँ क्रीड़ा करती हुई गीत गातीं। कहीं पके हुए द्राक्षाफल खाकर उन्मत्त बने शुक पक्षी कलरव करते। कहीं आम्र मकरन्द पान कर उन्मत्त बनी कोकिलाएँ पंचम स्वर में आलाप करतीं। कहीं कमल नाल के स्वाद से उन्मत्त बने क्रौंच पक्षी क्रेंकार ध्वनि करते। किसी स्थान पर निकट स्थित मेघदर्शन से उन्मत्त बने मयूर केकारव करते। कहीं सरोवर में विचरण करने वाले सारस पक्षियों का स्वर सुनायी पड़ता। इन सबसे वह पर्वत बहुत मनोरम लगता। (श्लोक ९१-९८)

यह पर्वत कहीं रक्तवर्ण अशोक वृक्ष के पत्रों से कुसुम्भी वस्त्र वाला हो ऐसा लगता, कहीं तमाल ताल और हिन्ताल वृक्षों से श्याम वस्त्र वाला, कहीं सुन्दर पुष्प युक्त ढाक वृक्षों से पीत वस्त्र वाला, कहीं मालती-मल्लिकाओं के समूह से श्वेत वस्त्र वाला। उसकी उच्चता आठ योजन होने से वह आकाश पर्यन्त ऊँचा है ऐसा लगता। इस प्रकार उस अष्टापद पर्वत पर गिरि के समान गरिष्ठ अर्थात् सबके सम्मानित जगद्गुरु ने आरोहण किया। पवन से स्खलित पुष्पों से और निर्झर के जल से उस पर्वत ने प्रभु के चरणों में अर्घ दिया। (श्लोक ९९-१०२)

प्रभु के चरण पड़ने से पवित्र बना वह पर्वत प्रभु के जन्म स्नात्र से पवित्र मेरु से स्वयं को न्यून नहीं समझता था। हर्षित कोकिलाओं के शब्द से मानो वह जगत्पति का गुणगान कर रहा हो ऐसा लगता था। (श्लोक १०३-१०४)

झाड़ू से परिष्कृत करने वाले सेवक की तरह देवताओं ने उस पर्वत की एक योजन भूमि को तृण कण्टकादि से विमुक्त किया। देवताओं ने जलवहनकारी भैंस की तरह मेघ सृष्टि कर सुगन्धित जल से उस भूमि को सिंचित किया। फिर देवताओं ने बड़ी-बड़ी स्वर्णरत्न की शिलाओं से उस भूमि को आच्छादित कर दर्पणतल

तुल्य समतल कर दिया। व्यन्तर देवताओं ने उस भूमि को इन्द्रधनुष के खण्ड-से पाँच वर्णों के पुष्पों की इतनी वृष्टि की जिससे घुटनों तक उनके पाँव उनमें डूब गए। यमुना नदी की तरंग-शोभा धारण करने वाले वृक्षों के आर्द्र पत्तों से चारों ओर तोरण बांधे। चारों ओर के स्तम्भों पर बँधे मकराकृति तोरणों ने सिन्धु के उभय तट पर स्थित मकर की शोभा धारण कर ली थी। उनमें चारों दिशाओं की देवियों के चाँदी के दर्पण हों ऐसे चार छत्र थे और आकाश-गंगा की चपल तरंगों की भ्रान्ति उत्पन्न करने वाले पवन द्वारा आन्दोलित पताकाएँ सुशोभित हो रही थीं। उस तोरण के नीचे रचे मुक्ता के स्वस्तिक जैसे समस्त जगत् का कल्याण यहीं है ऐसी चित्रलिपि का का भ्रम पैदा कर रहे थे। वैमानिक देवताओं ने उस भूमितल में रत्नाकर की शोभा के सर्वस्व रूप रत्नमय गढ़ निर्मित किए और उसी गढ़ पर मानुषोत्तर पर्वत की सीमा में स्थित चन्द्र-सूर्य की किरणमाला-सी माणिक्य के जिसमें गोलक लटक रहे हैं ऐसी माला तैयार की फिर ज्योतिष्क देवगणों ने वलयाकार किया। हेमाद्रि पर्वत के शिखर हों ऐसे निर्मल स्वर्ण से मध्यम गढ़ निर्मित किया और उस पर रत्नमय गोलक लटकाए। प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण वे गोलक चित्रमय से लगते थे। भुवनपति देवताओं ने कुण्डलाकार बने शेष नाग का भ्रम उत्पन्न करने वाले चाँदी के अन्तिम गढ़ का निर्माण किया और उस पर क्षीर समुद्र के जल-तट पर बैठे हुए मानो गरुड़ों की श्रेणी हो ऐसे सुवर्णगोलकों की श्रेणियाँ बनायीं। फिर अयोध्या नगरी के गढ़ में जिस प्रकार चारों दिशाओं में चार दरवाजे थे वैसे ही प्रत्येक गढ़ में चार दरवाजे बनाए। उन दरवाजों पर माणिक्य के तोरण बाँधे। स्व-प्रसारित किरणों से वे तोरण शतगुण हो गए हों ऐसे प्रतिभासित हो रहे थे। व्यंतर देवों ने प्रत्येक दरवाजे पर आँखों को काजल-रेखा-सी धुएँ रूपी ऊर्मि को धारण करने वाली धूपदानियाँ रखीं। मध्य गढ़ के ईशान कोण में गृह-दीवालों-सी प्रभु के विश्राम के लिए एक देव छन्द निर्मित किया। व्यन्तरों ने जहाज के मध्य जैसे कूपक (मस्तूल) हों ऐसे समवसरण के मध्य में तीन कोश ऊँचा चैत्य वृक्ष लगाया। उस चैत्यवृक्ष के नीचे स्व किरणों से मानो वृक्ष को मूल से पल्लवित कर रहे हों ऐसी एक रत्नपीठिका निर्मित की। उस पीठिका पर चैत्य वृक्ष की शाखा के अन्त में स्थित पत्तों से बार-बार परिष्कृत

पार्श्वनाथ ... आचार्य श्री सुविधिसागर जी

हो रहा हो ऐसा एक रत्न छन्द निर्मित किया। उसके मध्य पूर्व दिशा में विकसित कमल-कोश के मध्य कर्णिका से पाद-पीठ सह एक रत्न सिंहासन लगाया और उसके ऊपर मानो गंगा की आवृत्ति किए तीन-तीन प्रवाह हों ऐसे तीन छत्र लगाए। इस प्रकार जैसे पूर्व में कहीं बनाकर रखा हुआ था उसे वहीं से लाकर यहाँ स्थापित कर दिया गया हो इस भाँति क्षणमात्र में देव और असुरों ने मिल-कर वहाँ समवसरण की रचना कर दी। (श्लोक १०५-१२९)

जगत्पति ने भव्यजनों के हृदय की तरह मोक्षद्वार रूप उस समवसरण में पूर्वद्वार से प्रवेश किया। उस समय शाखा के प्रान्त पल्लव जिसके अलंकार तुल्य हो गए थे ऐसे अशोक वृक्ष की उन्होंने प्रदक्षिणा दी। फिर प्रभु पूर्व दिशा में आकर 'नमस्तीर्थाय' कहकर राजहंस जैसे कमल पर बैठता है उसी प्रकार सिंहासन पर बैठे। व्यन्तर देवताओं ने उसी समय शेष तीन दिशाओं के सिंहासन पर भगवान् की तीन प्रतिमाएँ रचीं। फिर साधु-साध्वी और वैमानिक देवताओं की स्त्रियों ने पूर्व द्वार से प्रविष्ट होकर भक्ति सहित जिने-श्वर और तीर्थ को नमस्कार किया। प्रथम गढ़ में प्रथम धर्म रूपी उद्यान के वृक्षरूप साधु पूर्व और दक्षिण दिशा के मध्य बैठे। उनके पीछे की ओर वैमानिक देवों की स्त्रियाँ खड़ी रहीं और उनके पीछे उसी प्रकार साध्वियाँ खड़ी रहीं। भुवनपति ज्योतिष्क और व्यन्तर देवों की पत्नियाँ दक्षिण द्वार से प्रविष्ट होकर पूर्व विधि अनुसार प्रदक्षिणा और नमस्कार कर नैऋत्य दिशा की ओर बैठ गयीं और तीन जाति के देवगण पश्चिम द्वार से प्रवेश कर विधि अनुसार नमस्कार कर अनुक्रम से वायव्य कोण में बैठ गए। इस प्रकार प्रभु को समवसरण में विराजमान हुए जान अपने विमान के समूह से आकाश को आच्छादित कर इन्द्र शीघ्र ही वहाँ आए और उन्होंने उत्तर द्वार से समवसरण में प्रवेश किया। भक्तिवान् इन्द्र प्रभु की तीन प्रदक्षिणा देकर इस प्रकार स्तुति करने लगे :

(श्लोक १३०-१४०)

'हे भगवन्, जब आपके गुणों को सब प्रकार जानने में उत्तम योगी भी असमर्थ हैं तब आपकी स्तुति करने लायक गुण कहाँ और नित्य प्रमादी स्तुति करने वाला मैं कहाँ? फिर भी हे स्वामी, मैं यथाशक्ति आपके गुणों की स्तवना करूँगा? पंगु व्यक्ति को क्या कोई पथ पर चलने से निषेध करता है? हे प्रभो, इस संसार

मार्गदर्शक – आचार्य श्री सुविधिसागर

रूपी ग्रीष्म में तापित प्राणियों के लिए आपकी चरण छाया जैसे छत्रछाया का काम करती है उसी प्रकार आप ही मेरी रक्षा करिए। हे नाथ, सूर्य जैसे परोपकार के लिए ही उदित है आप भी लोक-कल्याण के लिए उसी प्रकार विहार करते हैं। आप धन्य हैं। आप कृतार्थ हैं। मध्याह्न के सूर्य से जिस प्रकार देह की छाया संकुचित होती है उसी प्रकार आपके उदय से प्राणियों के कर्म चारों ओर से संकुचित हो जाते हैं। वे पशु भी धन्य हैं जो सर्वदा आपके दर्शन करते हैं और वे स्वर्ग के देव भी अधन्य हैं जो आपके दर्शन नहीं पाते। हे त्रिलोकनाथ, जिसके हृदय रूपी चैत्य में आप-से अधिदेव विराजमान हैं वे भव्य जीव उत्कृष्टों के मध्य भी उत्कृष्ट हैं। आपसे मेरी एक ही प्रार्थना है कि ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए भी आप मेरे हृदय रूपी सिंहासन का कभी परित्याग न करें।'

(श्लोक १४१-१४८)

इस प्रकार स्वर्गपति इन्द्र प्रभु की स्तुति कर पंचांगों से भूमि स्पर्शपूर्वक प्रभु को प्रणाम कर पूर्व और उत्तर दिशा के मध्य जाकर बैठ गए। प्रभु अष्टापद पर आए हैं—यह समाचार शैलरक्षक ने उसी समय जाकर चक्री को बता दिया। कारण, वह इस कार्य के लिए ही वहां नियुक्त था। भगवान् के आगमन का शुभ समाचार लाने वाले पुरुष को दाता चक्री ने साढ़े बारह करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ दीं। इस प्रसंग पर कुछ भी दिया जाए वह कम ही होता है। तब महाराज सिंहासन से उठे और सात-आठ कदम अष्टापद की ओर अग्रसर होकर प्रभु को प्रणाम किया। पुनः सिंहासन पर बैठे। प्रभु को वन्दना करने जाने के लिए अपने सैनिकों को बुलवाया। भरत की आज्ञा से चारों ओर के राजा इस प्रकार अयोध्या में एकत्र होने लगे जैसे समुद्र तट पर तरंगें आ टूटती हैं। उच्च स्वर से हाथी बृंहतिनाद करने लगे और घोड़े हेषारव। ऐसा लगा मानो वे अपने आरोहियों को शीघ्र चलने के लिए प्रेरित कर रहे हों। पुलकित देही रथी और पदातिक सानन्द यात्रा के लिए प्रवृत्त हुए। कारण, भगवान् के पास जाने की राजाज्ञा सोने में सुहागे-सी हो रही थी। जिस प्रकार बाढ़ का जल बड़ी नदी में भी नहीं समाता उसी भाँति अयोध्या और अष्टापद के मध्य वह सेना समा नहीं रही थी। आकाश में श्वेत छत्र और मयूर छत्र एक साथ दृष्टिगत होने से गंगा-यमुना के संगम दृश्य को धारण कर रहा

था। अश्वारोहियों के हाथों की वर्शा से विच्छुरित किरणें ऐसी लग रही थीं जैसे वे अन्य वर्शाएँ ऊँची कर रहे हैं। हस्ती पर बैठे वीर कुंजर हर्ष से उच्च स्वर में गर्जन कर रहे थे। ऐसा लग रहा था जैसे हस्ती पर अन्य हस्ती ने आरोहण किया हो। समस्त सैनिक जगत्पति को नमस्कार करने के लिए भरत से भी अधिक उत्सुक हो रहे थे। कारण, तलवार की म्यान तलवार से भी तीक्ष्ण होती है। उनका कोलाहल द्वारपाल की तरह मध्य स्थित भरत को जैसे निवेदन कर रहा था, समस्त एकत्र हो गए हैं। (श्लोक १४९-१६२)

फिर मुनिश्वर जैसे राग-द्वेष को जीतकर मन को पवित्र करते हैं उसी प्रकार महाराज ने स्नान कर अंगों को स्वच्छ किया एवं प्रायश्चित और कौतुक मंगल कर निज चारित्र-सा उज्ज्वल-वस्त्र धारण किया। मस्तक स्थित श्वेत छत्र और दोनों दिशाओं के श्वेत चँवरों से सुशोभित होकर महाराज अपने प्रासाद के बाहरी अलिन्द में गए और वहाँ हाथी पर इस प्रकार चढ़े जैसे सूर्य आकाश में चढ़ता है। भेरी, वेणु, दुंदुभि आदि उत्तम वाद्यों की ध्वनि की फुहारे के जल की तरह आकाश में व्याप्त कर, मेघ की तरह हस्तियों के मदजल से दिक्समूह को आर्द्र कर, तरंग जिस प्रकार समुद्र को आवृत करती है तुरग से उसी प्रकार पृथ्वी को आवृत कर, कल्प-वृक्ष से सम्बन्धित युगलियों-से हर्ष और शीघ्रता-युक्त महाराज स्व अन्तःपुर और परिवार सहित अल्प समय में ही अष्टापद जाकर उपस्थित हो गए। (श्लोक १६३-१६९)

संयम लेने को इच्छुक व्यक्ति जिस प्रकार गृहस्थ धर्म से अवतरण कर ऊँचे चारित्र धर्म पर आरूढ़ होता है उसी प्रकार महाराज भरत महागज से अवतरण कर महागिरि पर चढ़े। उत्तर दिशा के द्वार से वे समवसरण में प्रविष्ट हुए। वहाँ आनन्दरूप अंकुर उत्पन्नकारी मेघ की तरह प्रभु को उन्होंने देखा। भरत प्रभु को तीन प्रदक्षिणा देकर उनके चरणों में नमस्कार कर मस्तक पर अंजलि रख इस प्रकार स्तुति करने लगे: (श्लोक१७०-१७२)

हे प्रभु, मेरे जैसे व्यक्ति द्वारा आपकी स्तुति करना मानो कलश से समुद्र को पान कराने की प्रचेष्टा है। फिर भी मैं स्तुति करूँगा। कारण, आपकी भक्ति के कारण मैं निरंकुश हो गया हूँ। हे प्रभु, दीपक के सम्पर्क से जैसे बाती भी दीपकत्व को प्राप्त होती

है उसी प्रकार आपके आश्रित भव्यजन भी आपके ध्यान से ही मोक्ष पाते हैं। हे स्वामी, मतवाले बने इन्द्रिय रूपी हस्तियों को निर्मद करने में औषध रूप और पथ-प्रदर्शनकारी आपका शासन विजयी होता है। हे त्रिभुवनेश्वर, आप चार घाती कर्म को नष्ट कर अवशिष्ट चार कर्मों की उपेक्षा कर रहे हैं। इससे लगता है कि आप में लोक-कल्याण की भावना है। हे प्रभु, गरुड़ के पंखों पर आश्रित पुरुष जिस प्रकार समुद्र-उल्लंघन करता है उसी प्रकार आपके चरणाश्रित भव्यजन इस संसार रूपी समुद्र का लंघन करते हैं। हे नाथ, अनन्त कल्याण रूपी वृक्ष को प्रफुल्लित करने में दोहद रूप और विश्व को मोह-निद्रा से जागृत करने में प्रातःकाल के सदृश्य आपके दर्शन की (तत्त्वज्ञान की) सर्वत्र जय होती है। आपके चरण-कमलों के स्पर्श से प्राणियों के कर्म नाश होते हैं। कारण, चन्द्र की कोमल किरणों से भी हाथी के दाँत टूट जाते हैं। मेघवारि की तरह और चन्द्र की चन्द्रिका की तरह आपकी कृपा सब पर एक सी रहती है।

(श्लोक १७३-१७९)

इस प्रकार प्रभु की स्तुति एवं उन्हें नमस्कार कर भरतपति सामानिक देवों की तरह इन्द्र के पीछे जाकर बैठ गए। देवताओं के पीछे समस्त महिलाएँ खड़ी रहीं। प्रभु के निर्दोष शासन में जिस प्रकार चतुर्विध धर्म रहता है उसी प्रकार समवसरण के प्रथम गढ़ में चतुर्विध संघ बैठा। द्वितीय गढ़ में समस्त तिर्यंच प्राणी आदि परस्पर विरोधी स्वभाव होने पर भी मानो स्नेहशील सहोदर हों इस प्रकार शान्तिपूर्वक बैठे थे। तृतीय प्राकार में आगत राजाओं के समस्त वाहन (हाथी, घोड़ा आदि) देशना सुनने के लिए उच्च कर्ण किए खड़े थे। फिर त्रिभुवनपति ने समस्त भाषा-भाषी जिससे समझ सकें ऐसी भाषा में एवं मेघ गम्भीर वाणी में देशना देनी प्रारम्भ की। देशना सुनने के समय तिर्यंच, मनुष्य, देव इस प्रकार आनन्दित हुए मानो वे अत्यधिक भार से मुक्ति पा गए हों। या वे इष्ट पद को प्राप्त हो गए हों या उन्होंने कल्याण अभिषेक किया है या ध्यान में लीन हो गए हैं या उन्हें अहमिन्द्र पद या परब्रह्म पद प्राप्त हो गया है। देशना समाप्त होने पर महाव्रत पालनकारी अपने भाइयों को देखकर दुःखी बने भरत इस प्रकार सोचने लगे—

(श्लोक १८०-१८९)

'हाय, यह मैंने क्या किया ? मैं लुब्ध की भाँति लुप्तप्राय रहा। इसीलिए मैंने भाइयों के राज्य ले लिए हैं। अब यह भोग-फलदायी लक्ष्मी दूसरों को देना मेरे लिए उसी प्रकार निष्फल है जिस प्रकार किसी मूर्ख का भस्म में घी डालना निष्फल हो जाता है। काक भी अन्य काकों को बुलाकर अन्नादि भक्षण करता है; किन्तु मैं अपने भाइयों को छोड़कर भोग-उपभोग करता हूँ। अतः मैं तो काक से भी हीन हूँ। मास क्षपणक जिस प्रकार किसी दिन भिक्षा ग्रहण करता है उसी प्रकार यदि मैं अपनी भोग-सम्पत्ति अपने भाइयों को दूँ तो क्या वे मेरे पुण्य के लिए उसे ग्रहण करेंगे ?' ऐसा विचार कर प्रभु के चरणों में बैठकर भरत ने करबद्ध होकर भाइयों को भोग-उपभोग करने का आमन्त्रण दिया।

(श्लोक १९०-१९४)

उस समय प्रभु बोले—'हे सरल हृदयी राजा, तुम्हारे ये भाई महासत्त्व हैं। उन्होंने महाव्रतों को पालने की प्रतिज्ञा की है। इसलिए संसार की असारता ज्ञात कर त्याग किए हुए भोग को वमन किए हुए अन्न की तरह ये ग्रहण नहीं करेंगे।' इस प्रकार भोग सम्बन्धी आमन्त्रण का जब प्रभु ने निषेध किया तब पश्चात्ताप से भरे चक्री ने सोचा, मेरे ये भाई भोग-उपभोग नहीं करेंगे। फिर भी प्राण धारण के लिए आहार अवश्य ग्रहण करेंगे। ऐसा सोचकर उन्होंने पाँच सौ बड़े-बड़े शकट भरकर आहार मँगवाया और अपने अनुजों को पूर्व की भाँति आहार ग्रहण करने का आमन्त्रण दिया।

(श्लोक १९५-१९९)

तब प्रभु बोले, 'हे भरतपति, मुनियों के लिए प्रस्तुत यह आहार मुनियों के ग्रहण करने योग्य नहीं है।' प्रभु से यह सुनकर ऐसे भोजन के लिए मुनियों को आमन्त्रण दिया जो न मुनियों के लिए तैयार था न तैयार करवाया गया था। कारण, सरलता में सब कुछ शोभा देता है। 'हे राजेन्द्र, मुनियों के लिए राज पिण्ड ग्राह्य नहीं होता।' ऐसा कहकर धर्मचक्री प्रभु ने चक्रवर्ती को पुनः निवारित कर दिया। प्रभु ने सब प्रकार से मेरा निषेध कर दिया यह सोचकर चन्द्र जिस प्रकार राहु द्वारा दुःखी होता है उसी प्रकार महाराज पश्चात्ताप से दुःखी हुए। भरत को इस भाँति दुःखी देख कर इन्द्र ने प्रभु से जिज्ञासा की—'हे स्वामी, अवग्रह कितने प्रकार के हैं ?'

(श्लोक २००-२०४)

प्रभु ने कहा—'इन्द्र सम्बन्धी, चक्री सम्बन्धी, राजा सम्बन्धी, गृहस्थ सम्बन्धी और साधु सम्बन्धी पांच प्रकार के होते हैं। ये अवग्रह उत्तरोत्तर पूर्व के बाधक हैं। इनमें पूर्वोक्त और परोक्त विधि से पूर्वोक्त विधि बलवान् है।'

इन्द्र बोले—'हे देव, जो मुनि मेरे अवग्रह में विहार करते हैं उन्हें मैंने मेरे अवग्रह की आज्ञा दी।'

ऐसा कहकर इन्द्र प्रभु के चरण-कमलों में प्रणाम कर खड़े रहे। यह सुनकर राजा भरत पुनः सोचने लगे—'यद्यपि इन मुनियों ने मेरे अन्न का आदर नहीं किया फिर भी अवग्रह के अनुग्रह की आज्ञा से तो मैं धन्य हो सकता हूं।' ऐसा विचार कर श्रेष्ठ हृदय सम्पन्न चक्री ने भी इन्द्र की तरह प्रभु के चरणों के निकट जाकर अभिग्रह की आज्ञा दी। फिर उन्होंने सहधर्मी इन्द्र से पूछा—'यहां लाए अन्न का अब मुझे क्या करना चाहिए?'

इन्द्र ने कहा—'यह आहार विशेष गुण सम्पन्न व्यक्ति को दान करो।'

भरत ने सोचा—'साधुओं से अधिक गुणवान् पुरुष और कौन हो सकता है? हां, अब समझ गया—निरपेक्ष (वैराग्ययुक्त) श्रावक ऐसा ही गुणवान् होता है। अतः यह उन्हें देना ही उपयुक्त है।'

(श्लोक २०५-२१३)

ऐसा निश्चय करने के पश्चात् भरत ने स्वर्गपति इन्द्र के प्रकाशमान मनोहर आकृति सम्पन्न रूप को देखकर विस्मय से पूछा—'हे देवपति, आप स्वर्ग में भी इसी रूप में रहते हैं या अन्य किसी रूप में? कारण, देव तो कामरूपी होते हैं।' (श्लोक २१४-२१५)

इन्द्र बोले—'राजन्, स्वर्ग में मेरा ऐसा रूप नहीं होता। वहां जैसा रूप होता है उसे मनुष्य देख भी नहीं सकते।'

भरत बोले—'आपके उस रूप को देखने की मेरी प्रबल इच्छा है। अतः हे स्वर्गपति, चन्द्र जैसे चक्रवाक को प्रसन्न करता है उसी प्रकार आप भी अपनी स्व-आकृति दिखाकर मेरे नेत्रों को प्रसन्न करें।'

इन्द्र बोले—हे राजा, तुम उत्तम पुरुष हो। तुम्हारी प्रार्थना व्यर्थ होना उचित नहीं है। इसलिए मैं तुम्हें अपना एक अङ्ग दिखाऊंगा।' तब इन्द्र ने उचित अलङ्कारों से सुशोभित और जगत्

रूपी मन्दिर के एक प्रदीप तुल्य अपनी एक अंगुलि भरत को दिखाई। उज्ज्वल और कान्तिमान उस अंगुलि को देखकर जिस प्रकार चन्द्र को देखकर समुद्र उल्लसित हो जाता है उसी प्रकार मेदिनीपति भरत उल्लसित हो गए। इस प्रकार भरत राजा का मान रखकर भगवान् को प्रणाम कर सन्ध्या के मेघ की तरह इन्द्र अन्तर्निहित हो गए। (श्लोक २१६-२२२)

चक्रवर्ती भी स्वामी को नमस्कार कर करणीय कार्य के विषय में सोचते हुए इन्द्र की भाँति अपनी अयोध्या को लौट गए। रात में उन्होंने इन्द्र की अंगुलि स्थापित कर वहाँ अष्टाह्निका महोत्सव किया। कहा भी गया है—सज्जन का कर्तव्य भक्ति और स्नेह में निहित होता है। तभी से लोगों ने इन्द्र स्तम्भ का रोपण कर सर्वत्र इन्द्रोत्सव मनाना प्रारम्भ कर दिया जो कि आज भी प्रचलित है।
(श्लोक २२३-२२५)

सूर्य जैसे एक स्थान से अन्य स्थान को जाता है उसी प्रकार भव्य जीवों को प्रबोध देने के लिए भगवान् ऋषभ स्वामी अष्टापद पर्वत से अन्यत्र विहार कर गए। (श्लोक २२६)

उधर अयोध्या में भरत ने समस्त श्रावकों को बुलाकर कहा—आप लोग खाने के लिए कृपाकर सर्वदा मेरे पास आइए। कृषि आदि कार्य का परित्याग कर निरन्तर स्वाध्याय में लीन रहकर अपूर्व ज्ञान ग्रहण करने में तत्पर रहिए। खाने के पश्चात् आप लोग नित्य मेरे पास आइए और मुझे ऐसा कहिए :

'आप पराजित हुए हैं, भय वर्द्धित हो रहा है अतः मा हन, मा हन—मारे नहीं, मारें नहीं अर्थात् आत्मगुण विनाश न करें।
(श्लोक २२७-२२९)

चक्री की यह बात स्वीकार कर वे सदैव चक्री के घर आने लगे और प्रतिदिन खाने के पश्चात् उपर्युक्त वाक्य तत्परतापूर्वक स्वाध्याय की तरह बोलने लगे। देवताओं की तरह काम-क्रीड़ा में रत प्रमादी चक्रवर्ती उस शब्द को सुनकर इस प्रकार विचार करते—'अरे, मैं किसके द्वारा पराजित हुआ हूँ? हाँ—समझ गया, मैं कषायों के द्वारा पराजित हुआ हूँ। मेरा भय वर्द्धित हो रहा है इसीलिए विवेकीजन मुझे नित्य स्मरण करवाते हैं, आत्मा का हनन मत करो। फिर भी मैं कितना प्रमादी और विषयलोलुप हूँ।

धर्म के प्रति मैं कितना उदासीन हूँ। इस संसार से मुझे कितना मोह है। महापुरुषों जैसा मेरा आचार भी कहाँ है?' ऐसा विचार करने पर उन प्रमादी राजा का हृदय गंगा के प्रवाह की तरह स्वल्प समय के लिए धर्म-ध्यान में प्रवेश करता; किन्तु पुनः शब्दादि इन्द्रियों के विषय में आसक्त हो जाता। कारण, कर्मों का भोग-फल मिटाने में कोई समर्थ नहीं है। (श्लोक २३०-३६)

एक दिन रसोइयों के प्रमुख ने आकर निवेदन किया—महाराज, आजकल भोजन करने वालों की संख्या खूब बढ़ गयी है अतः यह जानना कठिन हो गया है कि कौन श्रावक है, कौन नहीं है। यह सुनकर भरत बोले—तुम भी श्रावक हो इसलिए आज से तुम परीक्षा कर भोजन देना। इस पर प्रमुख रसोइया भोजन के लिए आने वालों से पूछता—आप कौन हैं? कितने व्रतों का पालन करते हैं? जो बोलते मैं श्रावक हूँ और पाँच अणुव्रत एवं सात शिक्षाव्रतों का पालन करता हूँ उसे वह भरत राजा के पास ले जाता। महाराज भरत ज्ञान, दर्शन, चारित्र के चिह्न रूप तीन रेखा कांकिणी रत्न से एक वैकक्ष रूप में (यज्ञोपवीत की तरह) उनकी शुद्धि के निदर्शन स्वरूप उनके वक्ष में अंकित कर देते। उस चिह्न से वे भोजन पाते और उच्च स्वर से 'जितो भवान्' आदि वाक्य बोलते। इससे वे महान् नाम से प्रसिद्ध हुए। वे अपने पुत्रों को साधुओं को देने लगे। उनमें बहुत से विरक्त होकर स्वेच्छा से व्रत ग्रहण करने लगे। और जो परिषह सहन करने में असमर्थ हो गए वे श्रावक होने लगे। कांकिणी रत्न से चिह्नित उन्हें निरन्तर भोजन प्राप्त होने लगा। राजा उन्हें भोजन कराते अतः अन्य लोग भी इन्हें भोजन कराने लगे। कारण, पूज्य-पुरुष जिसकी पूजा करते हैं उसको कौन नहीं पूजता है। उनके स्वाध्याय के लिए चक्री ने अर्हतों की स्तुति, मुनि तथा श्रावकों की समाचारी से पवित्र ऐसे चार वेदों की रचना की। क्रमशः वे लोग माहना की जगह ब्राह्मण नाम से प्रसिद्ध हो गए और कांकिणी रत्न से जो रेखा बनायी गयी थी वह यज्ञोपवित रूप से जानी जाने लगी। भरत राजा के स्थान पर जब उनके पुत्र सूर्ययशा सिंहासनारूढ़ हुए तब उनके पास कांकिणी रत्न नहीं रहा। अतः उन्होंने सुवर्ण यज्ञोपवीत तैयार करवाकर देना आरम्भ कर दिया। सूर्ययशा के पश्चात् महायशा आदि राजा हुए। उन्होंने

चांदी के यज्ञोपवीत तैयार करवाए। अन्त में कच्चे सूत से यज्ञोपवीत बनने लगे। (श्लोक २३७-२५०)

भरत, सूर्ययशा, महायशा, अतिबल, बलभद्र, बलवीर्य, कीर्तिवीर्य, जलवीर्य और दण्डवीर्य इन आठ पुरुषों तक यही आचार रहा। उन्होंने इस भरतार्द्ध राज्य का उपभोग किया और इन्द्र द्वारा प्रदत्त राजमुकुट धारण किया। बाद में अन्य राजा; हुए किन्तु मुकुट महाप्राण (खूब वजनी) होने के कारण वे लोग उसे धारण नहीं कर सके। कारण हाथी का भार हाथी ही वहन कर सकता है अन्य कोई नहीं। नौवें और दसवें तीर्थंकरों के मध्य साधुओं का विच्छेद हुआ और इसी प्रकार उनके बाद सात तीर्थंकरों के पश्चात् शासन विच्छेद हुआ। उस समय अर्हतों की स्तुति और यति तथा श्रावकों के धर्ममय वे वेद बदल गए जिनकी रचना भरत ने की थी। तदुपरान्त सुलभा और याज्ञवल्क्य आदि द्वारा अनार्य वेद रचित हुए। (श्लोक २५१-२५६)

चक्रधारी भरत श्रावकों को दान देते और शेष समय काम-क्रीड़ा में व्यतीत करते। एक बार चन्द्र जैसे आकाश को पवित्र करता है उसी प्रकार स्व-चरण रज से पृथ्वी को पवित्र करते हुए भगवान आदीश्वर अष्टापद पर्वत पर आए। देवताओं ने तत्क्षण वहाँ समवसरण की रचना की। फिर भगवान ने वहाँ देशना प्रारंभ की। अधिकारियों ने पवन वेग से आकर महाराज भरत को प्रभु-आगमन का संवाद दिया। भरत ने पूर्व की भाँति उसे पुरस्कार दिया। कहा भी गया है प्रतिदिन देते रहने पर भी कल्पवृक्ष क्षीण नहीं होता। भरत अष्टापद पर्वत पर आए और प्रभु को प्रदक्षिणा देकर नमस्कार कर स्तुति करने लगे : (श्लोक २५७-२६२)

'हे जगत्पति, मैं अज्ञ हूँ फिर भी आपके प्रभाव से आपकी स्तुति करता हूं। कारण चन्द्रदर्शन करने वाले की मन्द दृष्टि भी सामर्थ्यवान होती है। हे स्वामी! मोहरूप अन्धकार में निमग्न जगत् को आलोक प्रदान करने वाली प्रदीप की तरह एवं आकाश की तरह अनन्त आपका केवल-ज्ञानदर्शन सर्वदा विजयी है। हे नाथ, प्रमाद रूपी निद्रा में निमग्न मेरे जैसे पुरुषों के लिए आप सूर्य की तरह बार-बार गमनागमन करते हैं। जिस प्रकार समय प्राप्त होने पर पत्थर की तरह जमा हुआ घी गल जाता है उसी प्रकार

लाख जन्मों में उपार्जित कर्म भी आपके दर्शनों से विनष्ट हो जाते हैं। हे प्रभु, एकान्त सुखम काल से सुखम-दुःखम काल अच्छा है क्योंकि उस समय कल्पवृक्ष से भी अधिक फल प्रदान करने वाले आप उत्पन्न हुए हैं। हे सब भुवनों के स्वामी, जिस प्रकार राजा ग्राम और नगर में अपने राज्य को भूषित करते हैं उसी प्रकार आप भी इस भुवन (भरतवर्ष) को भूषित करते हैं। जो उपकार पिता-माता गुरु और स्वामी सब मिलकर भी नहीं कर सकते ऐसा उपकार आप एक होकर भी अनेक की तरह करते हैं। चन्द्र से जैसे रात्रि शोभित होती है, हंस से सरोवर, तिलक से मुख, उसी प्रकार आप से भुवन शोभा पाता है। (श्लोक २६३-२७०)

इस प्रकार यथोचित भगवान का [illegible] भरत ने स्वयोग्य स्थान ग्रहण किया।

फिर भगवान् ने एक योजन पर्यन्त सुनी जा सके और सब भाषा में समझी जा सके ऐसी विश्व-कल्याणकारी देशना दी। देशना की समाप्ति पर भरत ने प्रभु को नमस्कार कर रोमांचित बने करबद्ध होकर निवेदन किया—'इस भरत क्षेत्र में आपसे विश्व हितकारी और कितने धर्म-चक्री होंगे? कितने चक्रवर्ती होंगे? हे प्रभो, उनके गोत्र, माता-पिता का नाम, आयु, वर्ण, शरीर का मान, परस्पर काल व्यवधान, दीक्षा पर्याय और गति—ये सब आप बताइए।' (श्लोक २७१-२७५)

भगवान् बोले, हे चक्री, इस भरत खण्ड में मेरे पश्चात् तेईस तीर्थंकर होंगे और तुम्हारे बाद ग्यारह चक्रवर्ती होंगे। उन्नीस, बीस और बाईस सहित तीर्थंकर गौतम गोत्रीय और अवशेष काश्यप गोत्रीय होंगे। वे सभी मोक्ष जाएँगे।

२ अयोध्या में जितशत्रु राजा और विजया रानी के पुत्र अजित द्वितीय तीर्थंकर होंगे। उनका आयुष्य बहत्तर लाख पूर्व का होगा। कान्ति सुवर्ण-सी, शरीर साढ़े चार सौ धनुष ऊँचा और दीक्षा पर्याय एक पूर्वांग (चौरासी लाख वर्ष) कम एक लाख पूर्व होगा। मेरे और अजितनाथ में निर्वाणकाल के पचास लाख कोटि सागरोपम का व्यवधान होगा।

३ जितारी राजा और सेना रानी के पुत्र सम्भव तृतीय तीर्थंकर होंगे। उनकी कान्ति सुवर्ण-सी, आयु साठ लाख पूर्व की, शरीर

चारसौ धनुष ऊँचा और दीक्षा पर्याय चार पूर्वांग (तीनसौ उनचास वर्ष) कम एक लाख पूर्व होगा। अजितनाथ और उनके निर्वाण के मध्य तीस लाख करोड़ सागरोपम का व्यवधान रहेगा।

४ विनीतापुरी (अयोध्या) में संवर राजा और सिद्धार्थ रानी के पुत्र अभिनन्दन चतुर्थ तीर्थंकर होंगे। उनकी आयु पचास लाख पूर्व, देह स्वर्ण वर्ण एवं साढ़े तीन सौ धनुष ऊँचे और दीक्षा पर्याय आठ पूर्वांङ्ग (६ करोड़ १२ लाख वर्ष) कम एक लाख पूर्व होगा। सम्भवनाथ और अभिनन्दननाथ के निर्वाण के मध्य दस लाख कोटि सागरोपम का व्यवधान होगा।

५ अयोध्या में मेघ राजा और मंगला रानी के पुत्र सुमति पंचम तीर्थंकर होंगे। उनकी कान्ति सुवर्ण-सी, आयुष्य चालीस लाख पूर्व, शरीर तीन सौ धनुष दीर्घ, दीक्षा पर्याय द्वादश पूर्वांङ्ग (दस कोटि साठ लाख वर्ष) कम एक लाख पूर्व होगा। अभिनन्दननाथ और सुमतिनाथ के निर्वाणकाल के मध्य नौ लाख कोटि सागरोपम का व्यवधान होगा।

६ कौशाम्बी के राजा धर और सुसीमादेवी के पुत्र पद्मप्रभ नामक छठे तीर्थंकर होंगे। उनकी कान्ति लाल, आयु तीस लाख पूर्व की, शरीर ढाई सौ धनुष और दीक्षा पर्याय सोलह पूर्वांङ्ग (तेरह कोटि चवालिस लाख वर्ष) कम एक लाख पूर्व होगा। सुमतिनाथ और पद्मप्रभ के निर्वाणकाल का व्यवधान नब्बे हजार कोटि सागरोपम होगा।

७ वाराणसी के प्रतिष्ठ राजा और पृथ्वी रानी के पुत्र सुपार्श्व नामक सप्तम तीर्थंकर होंगे। उनकी कान्ति स्वर्ण-सी, आयु बीस लाख पूर्व, शरीर दो सौ धनुष और दीक्षा पर्याय बीस पूर्वांङ्ग (सोलह करोड़ अस्सी लाख वर्ष) कम एक लाख पूर्व होगा। पद्मप्रभ और सुपार्श्वनाथ के निर्वाणकाल का व्यवधान नौ हजार करोड़ सागरोपम होगा।

८ चन्द्रानन नगर में महासेन राजा और लक्ष्मणादेवी के पुत्र चन्द्रप्रभ नामक अष्टम तीर्थंकर होंगे। उनका वर्ण श्वेत, आयु दस लाख पूर्व, शरीर डेढ़ सौ धनुष और दीक्षा पर्याय चौबीस पूर्वांङ्ग (दोकरोड़ सोलहलाख वर्ष) कम एक लाख पूर्व होगा। सुपार्श्वनाथ

और चन्द्रप्रभ के निर्वाणकाल का व्यवधान नौ सौ करोड़ सागरोपम होगा।

९ काकन्दी नगर में सुग्रीव राजा और रामादेवी के पुत्र सुविधि नामक नवम तीर्थंकर होंगे। उनका वर्ण श्वेत, आयु दो लाख पूर्व, शरीर एक सौ धनुष और दीक्षा पर्याय अट्ठाइस पूर्वाङ्ग (तैंतीस कोटि बावन लाख वर्ष) कम एक लाख वर्ष पूर्व होगा। पुष्पदन्त और सुविधिनाथ के निर्वाणकाल का व्यवधान नब्बे कोटि सागरोपम होगा।

१० भद्दिलपुर में दृढ़रथ राजा और नन्दादेवी के पुत्र शीतल नामक दसवें तीर्थंकर होंगे। उनका वर्ण सुवर्ण-सा, शरीर नब्बे धनुष, आयु एक लाख पूर्व और दीक्षा पर्याय पच्चीस हजार पूर्व होगा। सुविधिनाथ और शीतलनाथ के निर्वाण का व्यवधान नौ करोड़ सागरोपम होगा।

११ विष्णुपुरी के राजा विष्णु और विष्णुदेवी नामक रानी के श्रेयांस नामक पुत्र ग्यारहवें तीर्थंकर होंगे। उनका वर्ण सुवर्ण-सा, शरीर अस्सी धनुष, आयु चौरासी लाख वर्ष, दीक्षा पर्याय इक्कीस लाख वर्ष होगा। शीतलनाथ और श्रेयांसनाथ के निर्वाणकाल का व्यवधान छत्तीस हजार छियासठ लाख एक सौ सागरोपम कम एक कोटि सागरोपम होगा।

१२ चम्पापुरी के वसुपूज्य राजा और जयदेवी रानी के पुत्र वासुपूज्य नामक बारहवें तीर्थंकर होंगे। उनका वर्ण लाल, आयु बहत्तर लाख वर्ष, शरीर सत्तर धनुष और दीक्षा पर्याय चौवन लाख वर्ष का होगा। श्रेयांसनाथ और वासुपूज्य के निर्वाणकाल का व्यवधान चौवन सागरोपम होगा।

१३ कपिल नामक नगर में कृतवर्मा राजा और श्यामादेवी रानी के विमल नामक पुत्र तेरहवें तीर्थंकर होंगे। उनकी आयु साठ लाख वर्ष, वर्ण सुवर्ण-सा, शरीर साठ धनुष और दीक्षा पर्याय पन्द्रह लाख वर्ष होगा। वासुपूज्य और विमलनाथ के निर्वाण-काल का व्यवधान तीस सागरोपम होगा।

१४ अयोध्या के सिंहसेन राजा और सुयशादेवी के अनन्त नामक पुत्र चौदहवें तीर्थंकर होंगे। उनका वर्ण सुवर्ण की भाँति, आयु तीस लाख वर्ष, शरीर पचास धनुष और दीक्षा पर्याय साढ़े सात

प्रवर्तक - आगमज्ञ श्री कन्हैयालाल जी महाराज

लाख वर्ष होगा। विमलनाथ और अनन्तनाथ के निर्वाणकाल का व्यवधान नौ सागरोपम होगा।

१५ रत्नपुर के भानु राजा और सुव्रतादेवी के धर्म नामक पुत्र पन्द्रहवें तीर्थंकर होंगे। उनका वर्ण सुवर्ण-सा, आयु दस लाख वर्ष, शरीर पैंतालीस धनुष और दीक्षा पर्याय ढाई लाख वर्ष होगा। अनन्तनाथ और धर्मनाथ के निर्वाणकाल का व्यवधान चार सागरोपम होगा।

१६ गजपुर नगर के विश्वसेन राजा और अचिरादेवी के शान्ति नामक पुत्र सोलहवें तीर्थंकर होंगे। उनका वर्ण सुवर्ण-सा, आयु आठ लाख वर्ष, शरीर चालीस धनुष और दीक्षा पर्याय पच्चीस हजार वर्ष का होगा। धर्मनाथ और शान्तिनाथ के निर्वाणकाल का व्यवधान तीन-चतुर्थ पल्योपम कम तीन सागरोपम होगा।

१७ गजपुर के सूर राजा और श्रीदेवी के कुन्थु नामक पुत्र सत्रहवें तीर्थंकर होंगे। उनका वर्ण सुवर्ण-सा, देह पैंतीस धनुष, आयु पंचानवे हजार वर्ष और दीक्षा पर्याय तेईस हजार साढ़े सात सौ वर्ष होगा। शान्तिनाथ और कुन्थुनाथ के निर्वाणकाल का व्यवधान अर्द्ध पल्योपम होगा।

१८ उपर्युक्त गजपुर में सुदर्शन राजा और देवी रानी के अर नामक पुत्र अठारहवें तीर्थंकर होंगे। उनका वर्ण सुवर्ण-सा, आयु चौरासी हजार वर्ष, शरीर तीस धनुष और दीक्षा पर्याय इक्कीस हजार वर्ष का होगा। कुन्थुनाथ और अरनाथ के निर्वाणकाल का व्यवधान एक हजार कोटि वर्ष कम पल्योपम का एक चतुर्थांश होगा।

१९ मिथिला नगरी के कुम्भ राजा और प्रभावती रानी की मल्लि नामक कन्या उन्नीसवीं तीर्थंकर होंगी। उसका वर्ण नील, आयु पंचानवे हजार वर्ष, शरीर पच्चीस धनुष और दीक्षा पर्याय बीस हजार नौ सौ वर्ष का होगा। अरनाथ और मल्लिनाथ के निर्वाणकाल का व्यवधान एक हजार कोटि वर्ष होगा।

२० राजगृह नगर के सुमित्र राजा और पद्मादेवी के सुव्रत नामक पुत्र बीसवें तीर्थंकर होंगे। उनका वर्ण कृष्ण, आयु तीस हजार वर्ष, शरीर बीस धनुष और दीक्षा पर्याय साढ़े सात हजार वर्ष

का होगा। मल्लिनाथ और सुव्रतनाथ के निर्वाणकाल का व्यवधान चौपन लाख वर्ष होगा।

२१ मिथिला नगरी के विजय राजा और वप्रादेवी रानी के नमि नामक पुत्र इक्कीसवें तीर्थंकर होंगे। उनका वर्ण सुवर्ण-सा, आयु दस हजार वर्ष, काया पन्द्रह धनुष और व्रत पर्याय ढाई हजार वर्ष होगा। मुनि सुव्रत स्वामी और नमिनाथ के निर्वाण-काल का व्यवधान छह लाख वर्ष का होगा।

२२ शौर्यपुर के समुद्र विजय राजा और शिवादेवी रानी के पुत्र नेमि बाइसवें तीर्थंकर होंगे। उनका वर्ण श्याम, आयु एक हजार वर्ष, शरीर दस धनुष और दीक्षा पर्याय सात सौ वर्ष होगा। नमिनाथ और नेमिनाथ के निर्वाणकाल का व्यवधान पाँच लाख वर्ष होगा।

२३ वाराणसी नगरी के अश्वसेन राजा और वामादेवी रानी के पार्श्वनाथ नामक पुत्र तेइसवें तीर्थंकर होंगे। उनका वर्ण नील, आयु एक सौ वर्ष, शरीर नौ हाथ, दीक्षा पर्याय सत्तर वर्ष का होगा। नेमिनाथ और पार्श्वनाथ के निर्वाणकाल का व्यवधान तिरासी हजार साढ़े सात सौ वर्ष होगा।

२४ क्षत्रिय कुण्डग्राम में सिद्धार्थ राजा और त्रिशला रानी के पुत्र वर्द्धमान चौबीसवें तीर्थंकर होंगे। उनका वर्ण सुवर्ण-सा आयु बहत्तर वर्ष, शरीर सात हाथ और दीक्षा पर्याय बयालीस वर्ष होगा। पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी के निर्वाणकाल का व्यवधान अढाई सौ वर्ष होगा। (श्लोक २७९-३२५)

चक्रवर्ती सभी काश्यप गोत्र के होंगे। उनका वर्ण सुवर्ण-सा होगा। उनमें आठ मोक्ष जाएँगे, दो स्वर्ग जाएँगे, दो नरक जाएँगे।

१ तुम प्रथम चक्रवर्ती मेरे समय में हुए हो।

२ अयोध्या नगर में अजितनाथ तीर्थंकर के समय सगर नामक द्वितीय चक्रवर्ती होंगे। वे सुमित्र राजा और यशोमती रानी के पुत्र होंगे। उनका शरीर साढ़े चार सौ धनुष और आयु बहत्तर लाख पूर्व की होगी।

३ श्रावस्ती नगर में समुद्र विजय राजा और भद्रा रानी के मघवा नामक पुत्र तृतीय चक्रवर्ती होंगे। उनका शरीर साढ़े चालीस

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

धनुष और आयु पाँच लाख वर्ष की होगी ।

४ हस्तिनापुर के अपवसेन राजा और सहदेवी रानी के सनत्कुमार नामक पुत्र चतुर्थ चक्रवर्ती होंगे । उनका शरीर साढ़े उनचालीस धनुष और आयु तीन लाख वर्ष होगी ।

ये दोनों चक्रवर्ती धर्मनाथ और शान्तिनाथ के काल व्यवधान में होंगे और तृतीय देवलोक में गमन करेंगे ।

५-६-७ शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ और अरहनाथ ये तीन तीर्थंकर चक्रवर्ती भी होंगे ।

८ इनके बाद हस्तिनापुर में कृतवीर्य राजा और तारा रानी के पुत्र सुभोग नामक अष्टम चक्रवर्ती होंगे । उनका आयुष्य साठ हजार वर्ष और शरीर अट्ठाइस धनुष का होगा । वे अरनाथ और मल्लिनाथ के समय होंगे और सातवें नरक में जाएँगे ।

९ वाराणसी में पद्मोत्तर राजा और ज्वाला रानी के पद्म नामक पुत्र नवम चक्रवर्ती होंगे । उनकी आयु बीस हजार वर्ष और शरीर बीस धनुष होगा ।

१० काम्पिल्य नगर में महाहरि राजा और मेरादेवी के पुत्र हरिषेण नामक दसवें चक्रवर्ती होंगे । उनकी आयु दस हजार वर्ष और शरीर पन्द्रह धनुष होगा ।

ये दोनों चक्रवर्ती मुनि सुव्रत स्वामी और नमिनाथ अर्हंत के समय होंगे ।

११ राजगृह नगर में विजय राजा और वप्रादेवी के जय नामक पुत्र ग्यारहवें चक्रवर्ती होंगे । उनकी आयु तीन हजार वर्ष और शरीर बारह धनुष का होगा । वे नमिनाथ और नेमिनाथ के काल व्यवधान में होंगे ।
ये तीनों चक्रवर्ती मोक्ष जाएँगे ।

१२ काम्पिल्य नगर में ब्रह्म राजा और चुलनी रानी के ब्रह्मदत्त नामक पुत्र बारहवें चक्रवर्ती होंगे । उनकी आयु सात सौ वर्ष और शरीर सात धनुष का होगा । वे नेमिनाथ और पार्श्वनाथ के काल व्यवधान में होंगे और रौद्र ध्यान में मृत्यु वरण कर सातवें नरक में जाएँगे । (श्लोक ३३६-३३७)

इस प्रकार तीर्थंकर और चक्रवर्तियों के विषय में बताकर

प्रभु भरत द्वारा जिज्ञासा नहीं करने पर भी बोले – 'चक्रवर्ती से अर्द्ध पराक्रमशाली और तीन खण्ड पृथ्वी का उपभोग करने वाले नौ वासुदेव काश्यपगोत्रीय और अवशेष आठ गौतमगोत्रीय होंगे। इनके सौतेले भाई भी नौ होंगे। उनका वर्ण श्वेत होगा। उन्हें बलदेव कहा जाएगा। (श्लोक ३३८-३३९)

१ पोतनपुर नगर के प्रजापति राजा और मृगावती रानी के त्रिपृष्ठ नामक पुत्र प्रथम वासुदेव होंगे। उनका शरीर अस्सी धनुष परिमाण होगा। जब श्रेयांस जिनवर पृथ्वी पर विचरण करेंगे उस समय वे चौरासी लाख वर्ष की परमायु पूर्ण कर सातवें नरक में जाएँगे।

२ द्वारिका नगरी में ब्रह्म राजा और पद्मावती रानी के द्विपृष्ठ नामक पुत्र द्वितीय वासुदेव होंगे। उनका शरीर सत्तर धनुष परिमाण और आयुष्य बहत्तर लाख वर्ष का होगा। वे वासुपूज्य जिनेश्वर के प्रव्रजन के समय होंगे और अन्त में छठे नरक में जाएँगे।

३ द्वारिका में भद्र राजा और पृथ्वीदेवी के पुत्र स्वयंभू नामक तृतीय वासुदेव होंगे। उनका आयुष्य साठ लाख वर्ष का और शरीर साठ धनुष परिमाण होगा। वे विमलभद्र को वन्दन करने वाले अर्थात् विमलनाथ स्वामी के समय होंगे। आयुष्य पूर्ण कर वे छठे नरक में जाएँगे।

४ द्वारिका में ही सोम राजा और सीतादेवी के पुरुषोत्तम नामक पुत्र चतुर्थ वासुदेव होंगे। उनका शरीर पचास धनुष और उम्र तीस लाख वर्ष की होगी। वे अनन्तनाथ तीर्थंकर के समय होंगे और मृत्यु के पश्चात् छठे नरक में जाएँगे।

५ अश्वपुर नगर के शिवराज राजा और अमृतादेवी रानी के पुत्र पुरुषसिंह पाँचवें वासुदेव होंगे। उनका शरीर चालीस धनुष का और आयु दस लाख वर्ष की होगी। वे धर्मनाथ जिनेश्वर के समय होंगे और छठे नरक में जाएँगे।

६ चक्रपुरी नगर में महावीर राजा और लक्ष्मीवती रानी के पुरुष पुण्डरीक नामक पुत्र छठे वासुदेव होंगे। उनका शरीर उन्तीस धनुष, आयु पैंसठ हजार वर्ष होगी। वे अरनाथ और मल्लिनाथ

के काल व्यवधान में होंगे और आयु पूर्ण कर छठे नरक में जाएंगे।

७ काशीनगर में अग्निसिंह राजा और शेषवती रानी के दत्त नामक पुत्र सातवें वासुदेव होंगे। उनका शरीर छब्बीस धनुष और आयुष्य छप्पन हजार वर्ष का होगा। वे भी धरनाथ और मल्लिनाथ स्वामी के मध्यवर्ती समय में होंगे और आयु पूर्ण कर पांचवें नरक में जाएंगे।

८ अयोध्या में दशरथ राजा और सुमित्रा रानी के नारायण नाम से प्रसिद्ध लक्ष्मण नामक पुत्र आठवें वासुदेव होंगे। उनका शरीर सोलह धनुष और आयु बारह हजार वर्ष की होगी। वे मुनि सुव्रत और नमिनाथ के मध्यवर्ती समय में होंगे और आयुष्य पूर्ण कर चतुर्थ नरक में जाएंगे।

९ मथुरा नगरी में वसुदेव और देवकी रानी के पुत्र कृष्ण नवम वासुदेव होंगे। उनका शरीर दस धनुष का और आयु एक हजार वर्ष की होगी। वे नेमिनाथ के समय होंगे और आयुष्य पूर्ण कर तृतीय नरक में जाएंगे। (श्लोक ३४०-३५७)

१ भद्रा नामक माता के अचल नामक पुत्र प्रथम बलदेव होंगे।[1] उनकी आयु पिच्यासी लाख वर्ष की होगी।

२ सुभद्रा माता के विजय नामक पुत्र द्वितीय बलदेव होंगे। उनकी आयु पचहत्तर लाख वर्ष की होगी।

३ सुप्रभा माता के भद्र नामक पुत्र तृतीय बलदेव होंगे। उनकी आयु पैंसठ लाख वर्ष की होगी।

४ सुदर्शना माता के सुप्रभ नामक पुत्र चतुर्थ बलदेव होंगे। उनकी आयु पचपन लाख वर्ष की होगी।

५ विजया माता के सुदर्शन नामक पुत्र पाँचवें बलदेव होंगे। उनकी आयु सत्तरह लाख वर्ष की होगी।

---

१ बलदेव के पिता का नाम, शरीर का परिमाण, जन्म स्थान इसलिए नहीं दिया गया कि ये सब वासुदेव के समान ही होते हैं। प्रत्येक बलदेव क्रमशः वासुदेवों के समय में ही होते हैं।

६ वैजयन्ती माता के आनन्द नामक पुत्र छठे बलदेव होंगे। उनकी आयु पिच्चासी हजार वर्ष होगी।

७ जयन्ती माता के नन्दन नामक पुत्र सातवें होंगे। इनका आयुष्य पचास हजार वर्ष का होगा।

८ अपराजिता माता के पद्म नामक पुत्र आठवें बलदेव होंगे। उनका आयुष्य पन्द्रह हजार वर्ष का होगा।

९ रोहिणी माता के राम नामक पुत्र नवम बलदेव होंगे। उनका आयु बारह सौ वर्ष का होगा। (श्लोक ३५८-३६६)

इनमें आठ बलदेव मोक्ष जाएँगे और नवमें बलदेव पंचम स्वर्ग में जाएँगे। वहाँ से च्यव कर आगामी उत्सर्पिणी में इसी भरत क्षेत्र में उत्पन्न होकर कृष्ण नामक तीर्थंकर के तीर्थ में सिद्ध होंगे।

'अश्वग्रीव, तारक, मेरक, मधु, निष्कुम्भ, बलि, प्रह्लाद, रावण और मगधेश्वर ये नौ प्रति वासुदेव होंगे। वे चक्र प्रहारकारी अर्थात् चक्ररूप अस्त्रधारी होंगे। वासुदेव उन्हीं के चक्र से उन्हें मारेंगे।' (श्लोक ३६७-३६९)

इस प्रकार प्रभु की वाणी सुनकर एवं भव्य जीवों से भरी सभा की ओर देखकर भरतपति ने उनसे जिज्ञासा की, 'हे जगत्पति, मानो तीनों लोक ही एकत्र हो गये हों ऐसी इस नर, तिर्यंच और देवमय सभा में क्या कोई ऐसी आत्मा भी है जो आपकी ही तरह तीर्थ स्थापित कर इस जगत को पवित्र करेंगे? (श्लोक ३७०-३७२)

प्रभु ने कहा—'तुम्हारा यह मरीचि नामक पुत्र जो प्रथम त्रिदण्डी हुआ है आर्त और रौद्र ध्यान से रहित, सम्यक्त्व से सुशोभित होकर चतुर्विध धर्म ध्यान कर एकान्त से ध्यान करता है और इसकी आत्मा कर्दम से रेशमी वस्त्र की भाँति और निःश्वास से दर्पण की तरह अभी कर्म द्वारा मलीन है। स्वच्छ होने वाले वस्त्र की तरह एवं अग्नि-ताप से तप्त-उत्तम स्वर्ण की तरह शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि के संयोग से क्रमशः वह शुद्ध हो जाएगा। पहले यह इस भरत क्षेत्र के पोतनपुर नामक नगर में त्रिपृष्ठ नाम का प्रथम वसुदेव होगा। बाद में अनुक्रम से यहाँ विदेह में धनंजय और धारिणी का पुत्र होकर प्रियमित्र नामक चक्रवर्ती होगा। तत्पश्चात्

दीर्घकाल तक संसार भ्रमण कर इसी भरत क्षेत्र में महावीर नामक चौबीसवां तीर्थंकर होगा।' (श्लोक ३७३-३७९)

यह सुनकर प्रभु की आज्ञा ले भरतपति भगवान् की ही तरह मरीचि को भी वन्दना करने गए। वहां जाकर मरीचि की वन्दना कर वे बोले—'आप त्रिपृष्ठ नामक प्रथम वासुदेव और महाविदेह क्षेत्र में प्रियमित्र नामक चक्रवर्ती होंगे; किन्तु मैं आपके वासुदेवत्व और चक्रवर्तित्व को वन्दना नहीं कर रहा हूं। आपके इस त्रिदण्डीत्व को भी वन्दना नहीं कर रहा हूं। मैं तो आपको इसलिए वन्दन कर रहा हूं कि आप भविष्य में चौबीसवें तीर्थंकर होंगे।' ऐसा कहकर तीन प्रदक्षिणा दे मस्तक पर अञ्जलिबद्ध हाथ रखकर भरतेश्वर ने मरीचि की वन्दना की। फिर जगत्पति को पुनः वन्दन कर सर्पराज जैसे भोगवती को लौट जाते हैं वे भी अयोध्या लौट गए।

(श्लोक ३८०-३८४)

भरतेश्वर के जाने के पश्चात् मरीचि तीन बार ताली बजा कर आनन्द के आधिक्य से इस प्रकार बोलने लगा—'ओह! मैं वासुदेवों में पहला वासुदेव बनूंगा, विदेह में चक्रवर्ती बनूंगा और भरतक्षेत्र में अन्तिम तीर्थंकर बनूंगा। मेरे समस्त मनोरथ पूर्ण हुए। समस्त तीर्थंकरों में मेरे पितामह प्रथम हैं, चक्रवर्तियों में मेरे पिता प्रथम हैं और वासुदेवों में मैं प्रथम हूं। अतः इससे मेरा कुल श्रेष्ठ कहा जाता है। हस्तियों में जैसे ऐरावत श्रेष्ठ है, समस्त ग्रहों में जैसे सूर्य श्रेष्ठ है, समस्त ताराओं में जैसे चन्द्र श्रेष्ठ है उसी प्रकार सभी कुलों में एकमात्र मेरा ही कुल श्रेष्ठ है।' मकड़े जिस प्रकार अपनी लार से तार निकाल कर जाल बुनते हैं और बाद में स्वयं ही उसमें अटक जाते हैं उसी प्रकार मरीचि ने भी स्व-कुल का गर्व कर नीच गोत्र का बन्धन कर लिया। (श्लोक ३८५-३९०)

भगवान् ऋषभ गणधरों सहित प्रव्रजन के बहाने पृथ्वी को पवित्र करने के लिए बहिर्गत हुए। कोशल देश के अधिवासियों को पुत्रों की तरह धर्म कुशल कर, मानो परिचित हों ऐसे मगधवासियों को तप में प्रवीण कर, सूर्य जैसे कमल कोष को विकसित करता है उसी प्रकार काशी देश के अधिवासियों को प्रबोध देकर, चन्द्र जैसे समुद्र को आनन्दित करता है उसी प्रकार दशार्ण देश को आनन्दित कर, मोह मूर्च्छितों को जैसे सावधान कर रहे हों इस

प्रकार चेदी देश को जागरूक कर वृहद् बलीवर्द की तरह मालव देश को धर्म धुरा को वहन कराकर, देवताओं की तरह गुर्जर देश को पापरहित कर, वैद्य की तरह सौराष्ट्र देशवासियों को दक्ष कर महात्मा ऋषभदेव शत्रुञ्जय पर्वत पर आए। (श्लोक ३९१-३९५)

चाँदी के शिखर से मानो वैताढ्य पर्वत वहाँ आ गया हो, स्वर्ण शिखर से मेरुपर्वत रत्न शृंग से जैसे हिमाचल, औषध समूह से मानो द्वितीय हिमालय हो, शत्रुञ्जय पर्वत ऐसा लग रहा था। आसक्त अर्थात् निकटागत मेघपुञ्ज से उसने मानो श्वेत वस्त्र धारण कर लिया हो और निर्झरिणी के जल में जैसे उत्तरीय लटक रहा हो इस प्रकार वह सुशोभित हो रहा था। दिन के समय निकटागत सूर्य से मानो उच्च मुकुट धारण कर लिया है और रात्रि में चन्द्र से जैसे चन्दनरस का तिलक कर लिया है ऐसा लग रहा था। आकाश रोधकारी शिखरों से जैसे वह बहु मस्तक विशिष्ट हो और ताल वृक्ष से बहुभुजदण्डयुक्त हो ऐसा प्रतीत हो रहा था। वहाँ नारियलवन में पक कर पीतवर्ण धारणकारी नारियल समूह को देखकर निज शावक भ्रम से बन्दरों के दल इधर-उधर दौड़ रहे थे। आम तोड़ने में रत सौराष्ट्र की रमणियों के गीतों को मृग कान खड़ा कर सुन रहे थे। ऊपरी भाग की भूमि उच्च शूलों के बहाने केतकी के सफेद बाल आए हैं ऐसे केतकी के जीर्ण वृक्षों से पूर्ण थी। प्रत्येक स्थान पर श्रीखण्ड (चन्दन) वृक्ष के रस की तरह पीत बने सिन्धुवार वृक्ष से जैसे उसने समस्त शरीर में माङ्गलिक तिलक धारण कर लिया है ऐसा लगता था। वहाँ वृक्षों की शाखाओं पर बैठे बन्दरों की पूँछों से गुंथित तेतुल वृक्ष पीपल व वटवृक्ष-सा लग रहा था। अपनी विशालता के लिए ख्यात हुआ है ऐसे निरन्तर फलप्रसू पनस वृक्ष से वह पर्वत शोभित हो रहा था। अमावस्या की रात्रि के अन्धकार की तरह श्लेष्मात्मक वृक्ष से मानो अञ्जनाचल को चूलिका ही वहाँ आ गई है ऐसा लगता था। सुग्गे की चोंचों की तरह लाल फलयुक्त किंशुक वृक्ष से वह कुंकुमतिलकयुक्त वृहद् हस्ती-सा लग रहा था। कहीं द्राक्षासव, कहीं खर्जुरासव और कहीं ताल की मदिरा पान करने वाली भील रमणियाँ आसवासक्तों की मण्डली रच रही थीं। सूर्य की अस्खलित किरण रूपी बाणों से भी अभेद्य ऐसे ताम्बूल लता के मण्डप से वह इस प्रकार लग रहा था मानो कवच धारण कर रखा हो। वहाँ हरी-हरी दूर्वादलों के स्वाद

से आनन्दित मृगयूथ वृहद्-वृहद् वृक्षों के तले बैठे रोमन्थन कर रहे थे। मानो अभिजात वैदूर्यमणि हो ऐसे आम्रफल के स्वाद में जिनके नेत्र डूबे हुए हैं ऐसे शुक पक्षियों के द्वारा वह पर्वत मनोहर लग रहा था। केतकी, चमेली, अशोक, कदम्ब और वारसली वृक्षों से वायु द्वारा उड़कर आते पराग से उसकी शिलाएं रजोमय हो रही थीं और पथिकों द्वारा तोड़े गए नारियलों के जल से उसकी उपत्यका पंकिल हो रही थी। भद्रशाल आदि वनों में से कोई एक वन वहाँ लाया गया है ऐसे विशाल-विशाल अनेक वृक्ष युक्त वन से वह वन मनोहारी लग रहा था। मूल में पचास योजन, शिखर में दस योजन और उच्चता में आठ योजन [illegible] ऐसे [illegible] ऋषभदेव ने आरोहण किया। (श्लोक ३९६-४१६)

वहाँ देवताओं द्वारा निर्मित समवसरण में सर्वहितकारी प्रभु बैठे और देशना देने लगे। गम्भीर शब्द से देशना देते समय प्रभु की वाणी उस गिरिराज से टकराकर प्रतिध्वनित हो रही थी इससे लगता वह पर्वत प्रभु के बाद स्व-कन्दरा में बैठकर देशना दे रहा था। चातुर्मास के अन्त में मेघ जैसे वर्षा से विराम पाता है उसी प्रकार प्रथम प्रहर पूर्ण होने पर प्रभु ने देशना से विराम पाया एवं वहाँ से उठकर मध्यमगढ़ में देवताओं द्वारा निर्मित देवछन्द में जाकर बैठ गए। तदुपरान्त माण्डलिक राजा के निकट जैसे युवराज बैठता है उसी प्रकार समस्त गणधरों में प्रधान श्री पुण्डरीक स्वामी मूल सिंहासन के नीचे के पादपीठ पर बैठे और पूर्व की तरह ही सारी सभा बैठ गयी। फिर वे भगवान की ही तरह देशना देने लगे। प्रातःकाल का पवन जैसे हिमरूप अमृत का सिंचन करता है उसी प्रकार उन्होंने भी द्वितीय प्रहर शेष न होने तक देशना दी। प्राणियों के उपकार के लिए इस प्रकार देशना देकर प्रभु अष्टापद की भाँति कुछ दिन वहाँ भी रहे। फिर प्रव्रजन करने की इच्छा से जगद्गुरु ने पुण्डरीक तुल्य पुण्डरीक को आदेश दिया—'हे महामुनि, मैं यहाँ से अन्यत्र विहार करूँगा। तुम एक कोटि मुनियों सहित यहीं रहो। इस क्षेत्र के प्रभाव से मुनि परिवार सहित तुम्हें अल्पदिनों में ही केवल ज्ञान प्राप्त होगा और शैलेशी ध्यान करने के समय मुनि परिवार सहित ही तुम्हें इसी पर्वत के ऊपर मोक्ष प्राप्त होगा।'

(श्लोक ४१७-४२८)

प्रभु की देशना शिरोधार्य कर उन्हें प्रणाम कर गणधर

पुण्डरीक एक कोटि मुनियों सहित वहाँ रह गए। जैसे उद्वेलित समुद्र तटभूमि के गर्त में रत्न समूह निक्षेप कर लौट जाता है उसी प्रकार प्रभु भी पुण्डरीक को वहाँ छोड़कर अन्यत्र विहार कर गए। जिस प्रकार उदयाचल पर्वत पर नक्षत्रों के साथ चन्द्रमा रहता है उसी प्रकार अन्य मुनियों के साथ पुण्डरीक स्वामी उस पर्वत पर रहने लगे। फिर अति संवेगी वे प्रभु की तरह मधुर वाणी से अनेक मुनियों को ऐसे कहने लगे : (श्लोक ४२९-४३२)

'हे मुनिगण, विजय की इच्छा रखने वालों का सीमान्त दुर्ग जैसे सहायक होता है उसी प्रकार मोक्ष की इच्छा रखने वाले हम लोगों के लिए इस पर्वत [illegible] सिद्ध होगी। अतः हम लोगों को मुक्ति की द्वितीय साधना के समान संलेखना करनी उचित है। यह संलेखना द्रव्य और भाव दो प्रकार की है। साधुओं का सब प्रकार का उन्माद और महारोग के कारण को नष्ट करना द्रव्य संलेखना है एवं राग-द्वेष मोह और समस्त कषाय रूपी स्वाभाविक शत्रुओं का विच्छेद करना भाव संलेखना है। ऐसा कहकर पुण्डरीक गणधर ने एक कोटि श्रमणों सहित पहले सर्व प्रकार के सूक्ष्म और बादर अतिचारों की आलोचना की फिर अतिशुद्धि के लिए पुनः महाव्रतों का आरोपण किया कारण दो-तीन बार वस्त्रों का धोना जैसे अधिकाधिक निर्मलता का कारण होता है उसी प्रकार अतिचार लेकर पुनः साधुता का उच्चारण विशुद्धि व विशेष निर्मलता का कारण होता है। सर्वजीव मुझे क्षमा करें, मैं भी सब को क्षमा करता हूँ। समस्त जीवों से मेरी मैत्री है, वैर किसी से नहीं है—ऐसा कहकर आगाररहित और दुष्कर जीवन का अन्तिम अनशन व्रत उन्होंने समस्त मुनियों सहित ग्रहण किया। क्षपक श्रेणी पर चढ़ते हुए उन पराक्रमी पुण्डरीक गणधर के समस्त घाती कर्म जीर्ण रस्सी की तरह क्षय हो गए। अन्य एक कोटि साधुओं के कर्म भी उसी समय क्षय हो गए। कारण तप सभी के लिए एक-सा ही फलदायी होता है। एक मास की संलेखना के अन्तिम दिन चैत्र मास की पूर्णिमा को पुण्डरीक गणधर को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। तदुपरान्त अन्य सभी मुनिवरों को भी केवल ज्ञान प्राप्त हो गया। शुक्ल ध्यान के चतुर्थ पद पर स्थित उन अयोगी केवलियों ने अवशिष्ट अघाती कर्मों को भी नष्ट कर मोक्षपद प्राप्त किया। उसी समय स्वर्ग से देवताओं ने आकर मरुदेवी माता की तरह भक्तिपूर्वक उनका मोक्ष-

गमन उत्सव किया। भगवान ऋषभ जिस प्रकार प्रथम तीर्थंकर हुए उसी प्रकार यह पर्वत भी उसी समय से प्रथम तीर्थरूप बना।

(श्लोक [illegible])

जहाँ एक साधु भी सिद्ध होता है वह स्थान पवित्र तीर्थ बन जाता है फिर वहाँ जहाँ एक कोटि मुनि सिद्ध हुए उसकी पवित्रता और उत्कृष्टता के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है? (श्लोक ४४७)

राजा भरत ने इस शत्रुंजय पर्वत पर मेरु पर्वत के शिखर से स्पर्द्धा करने वाला रत्न शिलामय एक चैत्य निर्मित करवाया। उसमें अन्तःकरण में जिस प्रकार चेतना रहती है उसी प्रकार पुण्डरीक की प्रतिमा सहित भगवान ऋषभदेव की प्रतिमा स्थापित की।

(श्लोक ४४८-४४९)

भगवान ऋषभ पृथक्-पृथक् देशों में प्रव्रजन कर जैसे अन्धे को चक्षुदान दिया जाता है उसी प्रकार भव्य जीवों को बोधि बीज दान करने का अनुग्रह कर रहे थे। प्रभु के केवल ज्ञान होने के बाद प्रभु के परिवार में चौरासी हजार साधु, तीन लाख साध्वियाँ, तीन लाख पचास हजार श्रावक और पांच लाख चौवन हजार श्राविकाएँ, चार हजार सात सौ पचास चौदह पूर्वी, नौ हजार अवधिज्ञानी, बीस हजार केवलज्ञानी, छह सौ वैक्रिय लब्धिवान, बाहर हजार छह सौ पचास मनःपर्याय ज्ञानी, इतने ही वादी और बाइस हजार अनुत्तर विमान वासी महात्मा थे। प्रभु ने व्यवहार से जैसे प्रजा की स्थापना की थी उसी प्रकार धर्म मार्ग और चतुर्विध संघ की भी स्थापना की। दीक्षा से एक लक्ष पूर्व व्यतीत होने पर उन्होंने अपना मोक्ष समय निकट जानकर अष्टापद की ओर विहार किया। उस पर्वत के निकट आकर प्रभु ने परिवार सहित मोक्ष रूप प्रासाद की सीढ़ियों की तरह उस पर आरोहण किया। वहाँ दस हजार मुनियों के साथ भगवान ने चतुर्दश तप कर पादोपगमन अनशन किया।

(श्लोक ४५०-४६१)

पर्वतपालक ने प्रभु को इस प्रकार रहते देख तत्काल जाकर भरत को संवाद दिया। भगवान ने चतुर्विध आहार का त्याग किया है यह सुनकर भरतपति को इतना दुःख हुआ मानो वे शूल से विद्ध हो गए हों। वृक्ष जिस प्रकार जलबिन्दु का परित्याग करता है उसी प्रकार अति शोक से पीड़ित होने के कारण उनकी आंखों से अश्रु

बहने लगे। फिर वे असह्य दुःख से पीड़ित होकर परिवार सहित पैदल चलते हुए अष्टापद की ओर गए। पथ के कठोर कंकरों की भी उन्होंने परवाह नहीं की। कारण हर्ष की तरह शोक के समय भी कष्ट का भान नहीं होता। पाँवों में कंकर चुभ जाने के कारण खून गिरने लगा उससे उनके पदचिह्न इस प्रकार मिट्टी पर अंकित हो गए जैसे आलता के निशान अंकित हो जाते हैं। पर्वत पर चढ़ने में लेशमात्र भी शैथिल्य न हो इसलिए वे सम्मुख आते हुए व्यक्तियों की भी उपेक्षा कर अग्रसर होने लगे। यद्यपि उनके मस्तक पर छत्र था फिर भी चलते समय उन्हें अत्यधिक गर्मी लग रही थी। क्योंकि मनस्ताप अमृतवर्षा से भी शान्त नहीं होता। शोकग्रस्त चक्रवर्ती ने हाथों का सहारा देने वाले सेवकों को भी पथ अवरोधक वृक्षों की शाखाओं के अग्रभाग की तरह एक ओर हटा दिया। नदी में प्रवाहित नौका जिस प्रकार तट की वृक्ष राजि को पीछे छोड़ती हुई आगे बढ़ जाती है उसी प्रकार भरतेश अग्रगामी छड़ीदारों को तेजी से पीछे छोड़ देते थे। चित्त के वेग की तरह चलने में उत्सुक महाराज भरत साथ-साथ चलती हुई चामर धारिणियों को भी पीछे छोड़कर आगे बढ़ जाते थे। शीघ्रतापूर्वक चलने के कारण वृक्षों से आहत मुक्तामाल्य छिन्न-भिन्न हो गयी है यह भी वे नहीं जान सके। उनका मन प्रभु ध्यान में लीन था अतः पार्श्व स्थित गिरिपालक को भी छड़ीदार द्वारा बुलवाया और उससे प्रभु की खबर पूछने लगे। ध्यानलीन योगी की तरह भरत न कुछ देख रहे थे न कुछ सुन रहे थे। वे केवल प्रभु का ध्यान कर रहे थे। वेग ने मानो पथ कम कर दिया हो इस प्रकार वे क्षण भर में अष्टापद के निकट पहुँचे। साधारण मनुष्य की तरह पैदल चल कर आने पर भी परिश्रम की परवाह न कर चक्री ने अष्टापद पर्वत पर आरोहण किया। शोक और हर्ष से व्याकुल चक्री ने पर्यंकासन पर बैठे प्रभु को देखा। प्रभु को प्रदक्षिणा देकर एवं वन्दना कर देह की छाया की तरह वे उनके निकट बैठकर उपासना करने लगे। (श्लोक ४६२-४७९)

प्रभु का ऐसा प्रभाव है फिर भी इन्द्र मेरे ऊपर बैठा हुआ है, यह सोचकर मानो इन्द्र का सिंहासन काँपने लगा। अवधिज्ञान से आसन के काँपने का कारण अवगत कर चौसठों इन्द्र उसी समय प्रभु के निकट आए। जगत्पति को प्रदक्षिणा देकर दुःखित मन से

प्रभु के पास इस प्रकार निश्चल होकर बैठ गए मानो वे चित्रलिखित मात्र हैं। (श्लोक ४८०-४८२)

इस दिन इस अवसर्पिणी के तृतीय आरे के निन्यानवे पक्ष अवशिष्ट थे, माघ कृष्णा त्रयोदशी का दिन था। दिवस के पूर्वाह्न का समय था। अभिजित् नक्षत्र में चन्द्र का योग था। उसी समय पर्यंकासन में बैठे प्रभु ने बादर काय-योग में अवस्थान कर बादर काय-योग और बादर वचन-योग निरुद्ध कर दिया। फिर सूक्ष्म काय-योग का आश्रय लेकर बादर काय-योग, सूक्ष्म मनो-योग और सूक्ष्म वचन-योग को भी निरुद्ध कर दिया। अन्ततः सूक्ष्म काय-योग को भी समाप्त कर सूक्ष्म क्रिया नामक शुक्ल ध्यान के तृतीय पाद के अन्त को प्राप्त किया। तदुपरान्त उच्छिन्न क्रिया नामक शुक्ल ध्यान के चतुर्थ पद का जिसका समय पाँच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण जितना है, आश्रय लिया। फिर केवल ज्ञानी, केवल दर्शनी, आठ कर्मों को क्षय कर सर्व दुःखरहित, सर्व अर्थसिद्धकारी, अनन्त वीर्य, अनन्त ऋद्धि सम्पन्न प्रभु बन्धन के अभाव में अरण्ड फल के बीज की तरह ऊर्ध्वगति सम्पन्न होकर स्वाभाविक सरल पथ से लोकाग्र अर्थात् मोक्ष को प्राप्त किया। दस हजार श्रमणों ने भी अनशन व्रत लेकर क्षपक श्रेणी पर आरोहण कर केवल-ज्ञान पाया एवं मन, वचन और काया योग को सर्व भाव से रुद्ध कर वे भी स्वामी की तरह तत्काल परमपद अर्थात् मोक्ष को प्राप्त हुए। (श्लोक ४८३-४९२)

प्रभु के निर्वाण कल्याणक के समय सुख की लेशमात्र भी अनुभूति नहीं करने वाले नारकीय जीवों की दुःखाग्नि भी क्षणमात्र के लिए शान्त हुई। उस समय महाशोक आक्रान्त चक्री वज्राहत पर्वत की तरह मूर्च्छित होकर भूतल पर गिर पड़े। भगवान् के विरह का महादुःख आ पड़ा; किन्तु उस समय दुःख को शिथिल करने का कारण रूप क्रन्दन कोई जानता नहीं था। अतः चक्रवर्ती को यह बताने के लिए एवं हृदय भार कम करने के लिए इन्द्र चक्री के पास बैठकर जोर-जोर से रोने लगे। इन्द्र के साथ समस्त देव भी क्रन्दन करने लगे। कारण, समान दुःखी प्राणियों की प्रचेष्टाएँ भी एक-सी होती हैं। इन सबका रुदन सुनकर चेतना लौटने पर चक्री भी मानो ब्रह्माण्ड को खण्ड-खण्ड कर देंगे। इस प्रकार उच्च स्वर से क्रन्दन करने लगे। वृहद् प्रवाह के वेग से जैसे बाँध टूट जाता है

उसी प्रकार महाराज भरत की शोक ग्रन्थि भी टूट गई। उस समय देव, असुर और मनुष्य तीनों का क्रन्दन इस प्रकार लगता था मानो त्रिलोक में करुण रस का एकछत्र राज्य स्थापित हो गया है। उसी समय से संसार में प्राणियों के शोक जात शल्य को विशल्य करने के लिए रोना प्रचारित हुआ। राजा भरत स्वाभाविक धैर्य का भी परित्याग कर दुःखित हो तिर्यंकों को भी रुलाते हुए इस प्रकार विलाप करने लगे : (श्लोक ४९३-५०१)

'हे पितः! हे जगद् बन्धु! हे कृपारससागर! मुझ जैसे अज्ञानी को इस संसार रूपी अरण्य में कैसे छोड़ गए? दीप बिना जिस प्रकार अन्धकार में नहीं रहा जा सकता उसी प्रकार केवल-ज्ञान से सर्वत्र प्रकाश फैलाने वाले आपके बिना हम इस संसार में किस प्रकार रह सकेंगे? हे परमेश्वर! छद्मस्थ प्राणियों की तरह आपने मौन क्यों धारण कर रखा है? मौन परित्याग कर आप देशना देकर क्या मनुष्यों पर कृपा नहीं करेंगे? हे प्रभु! आप मोक्ष जा रहे हैं इसीलिए बोल नहीं रहे हैं; किन्तु मुझे दुःखी देख कर भी मेरे ये बन्धुगण मुझसे बात क्यों नहीं कर रहे हैं? हाँ-हाँ, मैं समझ गया। ये तो स्वामी के ही अनुगामी हैं। जब स्वामी ही नहीं बोल रहे हैं तो ये कैसे बोलेंगे? ओह! मुझे छोड़कर ऐसा और कोई नहीं है जो आपका अनुयायी नहीं हुआ। तीन लोक की रक्षा करने वाले आप बाहुबली आदि मेरे छोटे भाई, ब्राह्मी, सुन्दरी बहिनें, पुण्डरीक आदि पुत्र, श्रेयांस आदि पौत्र कर्मरूपी शत्रुओं को विनष्ट कर मोक्ष चले गए; किन्तु मैं अभी भी जीवन को प्रिय समझ कर बचा हुआ हूं।' (श्लोक ५०२-५०९)

शोक से निर्वेद प्राप्त कर चक्री को मृत्यु के लिए उन्मुख देख इन्द्र ने उन्हें समझाना शुरू किया—'हे महासत्त्व भरत! हमारे स्वामी ने स्वयं संसार समुद्र को पार किया है और अन्य को भी पार होने में सहायता करते हैं। तट के द्वारा महानदी की तरह इनके प्रवर्तित धर्म से संसारी जीव संसार समुद्र अतिक्रम करेंगे। ये प्रभु स्वयं कृतकृत्य हुए हैं और अन्यों को कृतार्थ करने के लिए एक लक्ष पूर्व पर्यन्त दीक्षावस्था में रहे। हे राजन्, समस्त लोगों पर अनुग्रह कर मोक्षगमनकारी इन जगत्पति के लिए आप शोक क्यों कर रहे हैं? शोक उसके लिए करना उचित होता है जो मरकर महादुःखों के गृह रूप चौरासी लाख योनि में बार-बार भ्रमण करते

हैं। मोक्षगामी के लिए शोक करना कदापि उचित नहीं। हे राजा! साधारण मनुष्यों की तरह प्रभु के लिए शोक करने में आपको लज्जा क्यों नहीं आती? शोक करने वाले आपके और सोचनीय प्रभु के लिए शोक करना किसी भी स्थिति में ठीक नहीं है। कारण, प्रभु की देशना जो एक बार सुन लेता है वह हर्ष और शोक से पराभूत नहीं होता। आप तो कई बार प्रभु की देशना सुन चुके हैं। फिर आप शोक के वशीभूत कैसे हो रहे हैं? जैसे वृहद् समुद्र का क्षोभ, मेरुपर्वत का कम्पन, पृथ्वी का उद्वर्त्तन, वज्र से कुण्ठत्व, अमृत में विरसता, चन्द्र में ऊष्णता असम्भव है उसी प्रकार आपका क्रन्दन भी असम्भव है। हे धराधिपति! आप धैर्य धारण कर स्वआत्मा को शान्त करें। आप तीन लोक के स्वामी हैं और धैर्यवान् भगवान् ऋषभ के पुत्र हैं। इस प्रकार गोत्र वृद्ध की तरह इन्द्र ने महाराज भरत को प्रबोध दिया। इससे जैसे जल शीतल हो जाता है उसी प्रकार भरत ने अपना स्वाभाविक धैर्य धारण किया।

(श्लोक ५१०-५२१)

फिर इन्द्र ने प्रभु का अङ्ग संस्कार करने के लिए द्रव्यादि लाने को आभियोगिक देवताओं को आदेश दिया। वे नन्दन वन से गोशीर्ष चन्दन का काष्ठ ले आए। इन्द्र की आज्ञा से देवों ने प्रभु की देह के लिए पूर्व दिशा में गोशीर्ष चन्दन की एक गोलाकार चिता तैयार की। इक्ष्वाकु कुल में जन्म लेने वाले अन्य महर्षियों के लिए दक्षिण दिशा की ओर एक त्रिकोणाकार और अन्य साधुओं के लिए पश्चिम दिशा में एक चतुष्कोण चिता सजवायी। फिर मानो पुष्करावर्त्त मेघ हों इस प्रकार देवताओं द्वारा इन्द्र ने शीघ्रतापूर्वक क्षीरसागर से जल मँगवाया। उस जल से प्रभु को स्नान करवाया। फिर उनकी देह में गोशीर्ष चन्दन का लेप किया एवं हंस लक्षणयुक्त देवदूष्य वस्त्र से प्रभु के शरीर को आच्छादित कर दिव्य माणिक्य के अलंकारों से देवाङ्गनाओं इन्द्र ने उसे चारों ओर से विभूषित किया। अन्य देवताओं ने भी इन्द्र की भाँति भक्तिपूर्वक अन्य मुनियों की स्नानादि समस्त क्रियाएँ कीं। फिर देवों ने मानो पृथक्-पृथक् लायी गयी हों ऐसी तीन जगत् के श्रेष्ठ रत्नों से हजारों लोग ले जा सकें ऐसी तीन शिविकाएँ निर्मित कीं। इन्द्र ने प्रभु के चरणों में प्रणाम कर प्रभु की देह को मस्तक पर उठाकर शिविका में रखा।

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अन्य देवों ने मोक्ष मार्ग के अतिथि रूप इक्ष्वाकु वंश के मुनियों को मस्तक पर उठाकर द्वितीय शिविका में ले जाकर रखा एवं अन्य समस्त साधुओं को तृतीय शिविका में रखा। प्रभु की शिविका को इन्द्र ने स्वयं उठाया एवं अन्य दोनों शिविकाओं को देवताओं ने उठाया। उस समय अप्सराएँ एक ओर ताल सहित रास कर रही थीं दूसरी ओर मधुर स्वर से गीत गा रही थीं। शिविका के आगे देव धूप-दानी लिए चल रहे थे। धूपदानी के धुएँ के बहाने मानो वे रो रहे हैं ऐसा प्रतीत हो रहा था। कुछ देव शिविकाओं पर पुष्प वर्षा कर रहे थे और कुछ देव प्रसाद की तरह उसे उठा रहे थे। कुछ देव आगे की ओर देवदूष्य का तोरण निर्मित कर रहे थे, कुछ यक्ष कर्दम छिड़क रहे थे। कोई मोफन यन्त्र से उत्क्षिप्त पत्थर की तरह शिविका के आगे लोट रहे थे, कोई 'हे नाथ! हे नाथ!' कहकर पुकार रहे थे। कोई 'हम अभागे मारे गए' ऐसा कहकर आत्मनिन्दा कर रहे थे। कोई याचना कर रहे थे—'हे देव, अब हमारा धर्म-संशय कौन दूर करेगा?' कोई 'अन्धे जैसे अब हम कहाँ जाएँगे?' कहते हुए पश्चात्ताप कर रहे थे और कोई कह रहा था—'हे पृथ्वी, तुम फट जाओ, हम तुममें समा जाएँ।' (श्लोक ५२२-५४४)

ऐसा व्यवहार करते हुए, वाद्य बजाते हुए देव और इन्द्र शिविका को चिता के पास ले आए। वहाँ कृतज्ञ इन्द्रपुत्र जैसे पिता के शरीर को रखता है उसी प्रकार प्रभु के शरीर को धीरे-धीरे पूर्व दिशा की चिता पर रखा। अन्य देवताओं ने भी सहोदर की भाँति इक्ष्वाकु कुल के मुनियों का शरीर दक्षिण दिशा की चिता पर रखा और व्यवहारविद् अन्य देवताओं ने भी अवशिष्ट मुनियों की देह को पश्चिम दिशा की चिता पर रखा। फिर इन्द्र की आज्ञा से अग्निकुमार देवताओं ने चिताओं में अग्नि संयुक्त की एवं वायुकुमार देवताओं ने वायु प्रवाहित की। अतः अग्नि चारों ओर से प्रज्वलित हो गयी। देवगण घड़े भर-भर कर घी, मधु और कर्पूर डालने लगे। जब अस्थियों को छोड़कर अवशिष्ट समस्त धातु जल गए तब मेघकुमार देवों ने क्षीरसमुद्र के जल से चिताओं को अग्नि शान्त की। सौधर्मेन्द्र ने निज विमान में प्रतिमा की भाँति पूजा करने के लिए प्रभु की ऊपरी दाहिनी दाढ़ ग्रहण की और ईशानेन्द्र ने ऊपरी बायीं दाढ़ ली। चमरेन्द्र ने दाहिनी निचली दाढ़ ग्रहण की और

बलीन्द्र ने बायीं ओर के नीचे की दाढ़ ली। अन्य इन्द्रों ने प्रभु के दाँत ग्रहण किए और अन्य देवों ने अस्थियाँ ग्रहण की। उस समय जिन श्रावकों ने अग्नि चाही उन्हें देवों ने तीनों चिताओं की अग्नि दी। उस अग्नि को ग्रहणकारी श्रावक अग्निहोत्री ब्राह्मण कहलाए। वे अपने घर जाकर प्रभु की चिताग्नि की सर्वदा पूजा करने लगे और धनपति जैसे निर्वात प्रदेश में लक्ष्मी का प्रदीप रखते हैं उसी प्रकार वे भी अग्नि की रक्षा करने लगे। इक्ष्वाकु वंश के मुनियों की चिताग्नि यदि शान्त होने लगती तो उसे प्रभु की चिताग्नि से वे प्रज्वलित कर देते। यदि अन्य साधुओं की चिताग्नि शान्त होने लगती तो इक्ष्वाकुवंशीय मुनियों की चिताग्नि से प्रज्वलित करते; किन्तु अन्य साधुओं की चिताग्नि को प्रभु एवं इक्ष्वाकुवंशीय मुनियों की चिताग्नि के साथ संक्रमण नहीं करते। यही विधि ब्राह्मणों में अब भी चल रही है। कोई-कोई प्रभु की चिताग्नि से भस्म लेकर भक्ति-भाव से उसकी वन्दना करने लगे और देह पर मलने लगे। इससे भस्म भूषणधारी तापसों का उद्भव हुआ। फिर मानो अष्टापद गिरि के तीन नवीन शिखर हों ऐसे उन चिताओं के स्थान पर देवताओं ने रत्नों के तीन स्तूप निर्मित किए। वहाँ से देवगणों ने नन्दीश्वर द्वीप जाकर अष्टाह्निका महोत्सव किया तदुपरान्त इन्द्र सहित सभी देव अपने-अपने स्थान को चले गए। वहाँ वे स्व-विमानों में सुधर्मा सभा के मध्य मानवक स्तम्भ पर वज्रमय गोल पेटिकाओं में प्रभु के दाँत रखकर प्रतिदिन उसकी पूजा करने लगे। इसके प्रभाव से उनका सर्वदा विजय मंगल होने लगा। (श्लोक ५४५-५६५)

महाराज भरत ने प्रभु के संस्कार स्थान के निकट जमीन पर तीन कोस ऊँचे मानो मोक्ष-मन्दिर की वेदिका हो ऐसा सिंह निषद्या नामक प्रासाद (मन्दिर) रत्नमय पाषाणों से वर्द्धकीरत्न द्वारा निर्मित करवाया। उसके चारों ओर प्रभु के समवसरण की तरह स्फटिक रत्नों के चार रमणीय द्वार बनवाए और प्रत्येक द्वार के दोनों ओर शिवलक्ष्मी के भण्डार की तरह रक्त चन्दन के गोल कलश निर्मित करवाए। प्रत्येक दरवाजे पर मानो साक्षात् पुण्य-वल्लरी हों ऐसे सोलह-सोलह रत्नमय तोरण बनवाए। प्रशस्ति लिपि की तरह अष्ट मंगल की सोलह-सोलह पंक्तियाँ बनवायीं और जैसे चार दिक्पालों की सभा ही वहाँ ले आए हों ऐसे विशाल मुख

मण्डप निर्मित करवाए। उन चार मुख्य मण्डपों के आगे चलमान श्री वल्लो के मध्य चार प्रेक्षा मण्डप निर्मित करवाए। उन प्रेक्षा मण्डपों के मध्य सूर्य बिम्ब का भी उपहास करने वाले वज्रमय अक्ष-वाट बनवाए। प्रत्येक अक्षवाट में कमलकर्णिका की तरह एक मनोहर सिंहासन बनवाया। प्रेक्षा मण्डप के आगे एक-एक मणि-पीठिका बनवायी, उस पर रत्नों के मनोहर चैत्य स्तूप निर्मित करवाए। प्रत्येक चैत्य स्तूप पर आकाश को प्रकाशित करने वाली प्रत्येक दिशा में बड़ी मणि-पीठिकाएँ निर्मित करवायीं। उन मणि-पीठिकाओं पर चैत्य स्तूप के सामने पाँच सौ धनुष प्रमाण रत्न निर्मित ऋषभानन, वर्द्धमान, चन्द्रानन और वारिषेण की चार शाश्वत जिन-प्रतिमाएँ स्थापित करवायीं। पर्यंकासन में बैठी मनोहर नेत्र रूपी कमलिनियों के लिए चन्द्रिका तुल्य वे प्रतिमाएँ ऐसी थीं मानो नन्दीश्वर महाद्वीप के चैत्य के मध्य हैं। प्रत्येक चैत्य के स्तूप के सम्मुख, अमूल्य माणिक्यमय विशाल सुन्दर पीठिकाएँ निर्मित करवायीं। प्रत्येक पीठिका पर एक-एक चैत्य वृक्ष बनवाए। प्रत्येक चैत्य वृक्ष के निकट अन्य एक एक मणि-पीठिका बनवायी और प्रत्येक पर एक-एक इन्द्र-ध्वज तैयार करवाया। वे इन्द्र-ध्वज ऐसे लग रहे थे मानो प्रत्येक दिशा में धर्म ने अपना जय-स्तम्भ रोपण किया है। प्रत्येक इन्द्र-ध्वज के सामने तीन सीढ़ी और तोरणयुक्त नन्दा नामक पुष्करिणी निर्मित करवाई। स्वच्छ, शीतल, जलपूर्ण और विचित्र कमलों से सुशोभित पुष्करिणी दधिमुख पर्वत की पुष्करिणी की तरह मनोहर लग रही थी। उसी सिंह निषद्या महा-चैत्य के मध्य भाग में वृहद् मणि-पीठिका निर्माण करवाई और समवसरण की तरह ही उसके मध्य भाग में विचित्र रत्नमय एक देवछन्दक निर्मित करवाया। उस पर विभिन्न रंगों के चन्दोवे निर्मित करवाए। वे असमय में भी सन्ध्याकालीन मेघ की शोभा उत्पन्न कर रहे थे। उन चन्दोवों के मध्य और निकट वज्रमय अंकुश बनवाए। फिर भी चन्दोवों की शोभा निरंकुश ही थी। उन अंकुशों पर कुम्भ के समान गोल आमलकी के फल जैसे बड़े-बड़े मोतियों के अमृतधारा से हार लटक रहे थे। इन हारों के प्रान्त भाग में निर्मल मणिमालिका निर्मित करवायीं। मणियाँ ऐसी लग रही थीं मानो तीन लोक स्थित खानों से नमूने के लिए वहाँ लाई गई हैं। मणि-मालिका के अग्रभाग में स्थित निर्मल वज्रमालिकाएँ सखियों की

तरह अपनी कान्तिरूप बाहुओं के बन्धनों से परस्पर आलिंगन कर रही थीं। उस चैत्य की दीवारों पर विचित्र मणिमय गवाक्ष बनवाए गए थे। उसका प्रभा पटल ऐसा लग रहा था मानो उनके मध्य यवनिका उत्पन्न हो गई है। उनमें ज्वलित धूप की धूम्रशिखा पर्वत के ऊपर नवनिर्मित नीलचूलिका का भ्रम उत्पन्न कर रही थी।

(श्लोक ५६६-५९४)

पूर्वोक्त मध्य देवछन्द पर शैलेशी ध्यानरत प्रत्येक प्रभु की स्व-स्व देह परिमाण स्व-स्व वर्णनारूप मानो प्रत्येक प्रभु ही बैठे हों ऐसी ऋषभ स्वामी आदि चौबीस अरिहंतों की निर्मल रत्नमय प्रतिमाएँ निर्मित करवाकर स्थापित करवायीं। उनमें सोलह प्रतिमाएँ रत्नों की, दो प्रतिमा राजवर्त रत्न की (श्याम), दो स्फटिक रत्न की (श्वेत), दो वैदूर्यमणि की (नील) और दो शोण मणि की (लाल) थीं। इन सब प्रतिमाओं के रोहिताक्ष मणियों के (लाल) आभासयुक्त अङ्क रत्नमय (श्वेत) नाखून थे और नाभि, केशमूल, जीभ, तालू, श्रीवत्स, स्तनाग्रभाग और हाथ पावों के तलुए स्वर्ण के (लाल) थे। आँखों की पुतलियाँ, पलकें, रोएँ, भौंहें और मस्तक के केश रिष्ट रत्नमय (श्याम) थे। ओष्ठ प्रवालमय (लाल), दाँत स्फटिक रत्नमय (श्वेत), मस्तम वज्रमय, नासिका का भीतरी भाग रोहिताक्ष मणि (लाल) के आभासयुक्त स्वर्ण का था। प्रतिमा के नेत्र लोहिताक्ष मणि के प्रान्त भागयुक्त और अङ्कमणि द्वारा निर्मित थे। इस भाँति अनेक प्रकार की मणियों से निर्मित वे प्रतिमाएँ अपूर्व शोभा धारण कर रहीं थी। (श्लोक५९५-६०२)

प्रत्येक प्रतिमा के पीछे यथायोग्य परिमाण रत्नमयी पुत्तलिका रूपी छत्रधारिणियाँ थीं। प्रत्येक पुत्तलिका के हाथ में कुरण्टक पुष्पों की मालायुक्त मुक्ता तथा प्रवाल से गुंथा और स्फटिक मणि का दण्डयुक्त श्वेत छत्र था। प्रत्येक प्रतिमा के दोनों ओर रत्नों की चामरधारिणी दो-दो पुत्तलिकाएँ थीं। मुक्तकर खड़ी उज्ज्वल शरीरी उन नागादि देवियों की रत्नमय पुत्तलिकाएँ इस प्रकार शोभित हो रही थीं मानो देवियाँ ही वहाँ बैठी हुई हैं।

(श्लोक ६०३-६०७)

देवछन्दों के ऊपर उज्ज्वल रत्नों के चौबीस घण्टे, संक्षिप्त किए सूर्य बिम्ब-से माणिक्य के दर्पण, उनके निकट योग्य स्थानों पर

रखे सुवर्ण प्रदीपदान, रत्नों की करण्डिकाएँ, नदी से उठे आवर्त्त की भाँति गोलाकार फूलों की डालियाँ, उत्तम अंगोछे, अलंकारों के डिब्बे, सोने के धूपदान और आरती, रत्नों का मङ्गल दीपक, रत्नों की झारी, मनोहर रत्नमय थाल, सुवर्ण-पात्र, रत्नों के कलश, रत्नों के सिंहासन, रत्नों के अष्ट मांगलिक, तेल रखने के गोल डिब्बे, धूप रखने का सुवर्ण-पात्र और सोने के करताल ये समस्त वस्तुएँ चौबीस अरिहंतों की प्रत्येक प्रतिमा के निकट सत्रह-सत्रह थीं। इस प्रकार विभिन्न रत्नों का त्रैलोक्य सुन्दर चैत्य भरत चक्रवर्ती की आज्ञा मात्र से ही सब प्रकार से कलाविद् वर्द्धकीरत्न ने उसी मुहूर्त्त में विधि अनुरूप तैयार कर दिया। मानो मूर्तिमान धर्म हो ऐसे चन्द्रकान्त मणियों के गढ़ में दीवारों पर बनाए ईहामृग, बलीवर्द, मकर, अश्व, मनुष्य, किन्नर, पक्षी, शिशु, रुरुमृग, अष्टापद, चमरीमृग, हस्ती, वन लता और कमल चित्रों से विचित्र और अद्भुत वह चैत्य घने वृक्षों से युक्त उद्यान की तरह शोभा दे रहा था। उनके निकट रत्नों के स्तम्भ थे। मानो आकाश गंगा की तरंग हो ऐसी पताकाओं से वह चैत्य मनोहर लग रहा था। उच्च स्वर्ण के ध्वज-दण्ड से वह उन्नत लग रहा था। निरन्तर प्रसारित पताकाओं के घुंघरू शब्द विद्याधारियों की कटि मेखलाओं की ध्वनि का अनुसरण कर रही थी। उस पर विशाल कान्तियुक्त पद्मराग मणि से वह चैत्य माणिक्य जड़ित मुद्रिका की तरह शोभा पा रहा था। कहीं वह पल्लवित, कहीं कवचावृत, कहीं रोमांचित, कहीं किरण लिप्त-सा लग रहा था। गेरु चन्दन के रत्नमय तिलक से वह चिह्नित किया गया था। निर्माण समय में पत्थरों के सन्धि-स्थल इस तरह मिलाए गए थे कि देखकर लगता मानो वह एक ही पत्थर का है। उस चैत्य के नितम्ब भाग में हाव-भावों से मनोहर दिखती माणिक्य की पुत्तलिकाएँ इस भाँति रखी हुई थी कि वे अप्सराओं द्वारा अधिष्ठित मेरुपर्वत की तरह शोभित हो रहा था। उसके दरवाजे के दोनों ओर चन्दन रस में लिप्त दो कुम्भ रखे हुए थे। उनसे दरवाजे विकसित श्वेत कमल से अंकित हों ऐसे लग रहे थे। धूप सुवासित तिरछी बँधी लटकती मालाओं से वह रमणीय लग रहा था। उसके तल भाग में पाँच रंगों के फूलों के सुन्दर गुच्छे लटकाए गए थे। यमुना नदी से जिस प्रकार कलिन्द पर्वत प्लावित रहता है उसी प्रकार कर्पूर और कस्तूरी मिश्रित कर तैयार किए धूप के धुएँ से वह सर्वदा व्याप्त

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर

रहता। सामने के दोनों ओर और पीछे सुन्दर चैत्य वृक्ष और माणिक्य की पीठिकाएँ निर्मित हुई थीं। उससे वह अलंकार की तरह सुशोभित था। अष्टापद पर्वत के शिखर देश पर मानो मस्तक के मुकुट का माणिक्यभूषण हो और नन्दीश्वरादि चैत्य की जैसे स्पर्द्धा कर रहा हो ऐसा वह पवित्र लग रहा था।

(श्लोक ६०८-६२८)

इस चैत्य में महाराज भरत ने अपने निन्यानवे भाइयों की भी दिव्य रत्नमयी प्रतिमाएँ स्थापित कीं और प्रभु की सेवा कर रहे हों ऐसी एक अपनी प्रतिमा भी स्थापित की। भक्ति से अतृप्त होने का यह भी एक चिह्न है। चैत्य के बाहर भगवान् का एक स्तूप भी निर्मित करवाया। उसके निकट अपने निन्यानवे भाइयों के स्तूप भी बनवाए। वहाँ आने-जाने वाले मर्यादा का भंग न करें इसलिए लोहे का एक यन्त्रमय आरक्षक पुरुष भी स्थापित किया। उस लोहे के यन्त्रमय पुरुष के कारण वह स्थान मृत्युलोक के बाहर हो इस प्रकार मनुष्यों के लिए अगम्य हो गया। फिर चक्रवर्ती ने दण्डरत्न से पर्वत को सीधा और स्तम्भ की तरह कर दिया। फलतः वह मनुष्यों के चढ़ने योग्य न रहा। फिर चक्रवर्ती ने उस पर्वत के चारों ओर मेखला की तरह जिसे मनुष्य अतिक्रम न कर सके ऐसे एक योजन व्यवधान के आठ सोपान निर्मित करवाए। अतः इस पर्वत का नाम अष्टापद रूप में प्रसिद्ध हो गया। अन्य उसे हरादि (महादेव), कैलाश और स्फटिकाद्रि नाम से जानने लगे।

(श्लोक ६२९-६३७)

इस प्रकार चैत्य निर्माण और प्रतिष्ठा कराने के पश्चात् चन्द्र जिस प्रकार मेघ में प्रवेश करता है उसी प्रकार चक्रवर्ती ने श्वेत वस्त्र धारण कर उसमें प्रवेश किया। परिवार सहित प्रदक्षिणा देकर महाराज ने उन प्रतिमाओं का सुगन्धित जल से स्नान करवाया और देवदूष्य वस्त्र से पोंछा। उससे वे प्रतिमाएँ रत्नदर्पण की तरह उज्ज्वल हो गयीं। तदुपरान्त उन्होंने चन्द्रिका समूह से निर्मलीकृत गाढ़ा सुगन्धित गोशीर्षचन्दन का रस प्रतिमा पर विलेपन किया और विचित्र रत्नों के अलंकार, दिव्य माला और देवदूष्य वस्त्र से इनकी अर्चना की। घण्टा बजाकर धूप खेया जिसकी धूम्र-श्रेणी से चैत्य का अन्तर्भाग मानो नीलवल्ली से अंकित हो ऐसा

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

लगने लगा। फिर संसार रूपी शीत के भय से भीत मनुष्यों के लिए मानो अग्निकुण्ड हो इस प्रकार कर्पूर की आरती की।

(श्लोक ६३८-६४४)

इस प्रकार पूजा कर ऋषभ स्वामी को नमस्कार कर शोक और भय से आक्रान्त बने चक्रवर्ती उनकी स्तुति करने लगे—

१ हे जगत्सुखकर, हे त्रिलोकनाथ, पाँच कल्याणक के समय नारकीयों को भी सुख प्रदान करने वाले मैं आपको नमस्कार करता हूँ। सूर्य की तरह विश्व हितकारी हे स्वामी! आपने सर्वदा प्रव्रजन कर इस चराचर जगत् पर अनुग्रह किया है। आर्य और अनार्य उभय के प्रति प्रीतिवान् होकर सर्वदा प्रव्रजन करने वाले आप की और पवन की दोनों की गति परोपकार के लिए ही होती है। इस लोक में मनुष्यों का उपकार करने के लिए ही आपने बहुत दिनों तक प्रव्रजन किया; किन्तु मोक्ष में किसका उपकार करने के लिए आपने गमन किया? आप जिस लोकाग्र में गए हैं वह सचमुच ही लोकाग्र हो गया है एवं आप जिसे छोड़ गए हैं वह मृत्युलोक अर्थात् मर जाने योग्य हो गया है। हे नाथ! जो विश्व कल्याणकारी आपकी देशना का चिन्तन करते हैं वे भव्य प्राणी अभी भी आपको अपने सम्मुख देख सकते हैं। जो आपका रूपस्थ ध्यान करते हैं उन महात्माओं के लिए भी आप प्रत्यक्ष हैं। हे परमेश्वर! जिस प्रकार आपने ममता रहित होकर समस्त संसार को त्याग कर दिया है उसी प्रकार आप मेरे मन का त्याग कभी मत करिएगा। (श्लोक ६४५-६५३)

इस प्रकार आदीश्वर भगवान की स्तुति कर प्रत्येक जिनेन्द्र की वन्दना कर वे स्तुति करने लगे।

२ विषय कषायों से अजित विजया माँ की गोद के माणिक्य रूप और जित राजा के पुत्र हे जगत्स्वामी अजितनाथ! आपकी जय हो।

३ संसार रूपी आकाश को अतिक्रमण करने में सूर्य रूप श्री सेना देवी के गर्भ से उत्पन्न और जितारि राजा के पुत्र हे सम्भवनाथ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

४ संवर राजा के वंशालंकार रूप पूर्वदिक् रूपा सिद्धार्थदेवी के

गर्भोत्पन्न और विश्व को आनन्द प्रदानकारी सूर्य की तरह हे अभिनन्दन स्वामी आप मुझे पवित्र करें।

५ मेघ राजा के वंश रूपी वन में मेघ की तरह और मंगला माता रूपी मेघमाला में मोती की तरह हे सुमतिनाथ, मैं आपको नमस्कार करता हूं।

६ धर राजा रूप समुद्र के लिए चन्द्रमातुल्य और सुसीमादेवी रूपा गंगानदी के कमलतुल्य हे पद्मप्रभ, मैं आपको नमस्कार करता हूं।

७ श्री प्रतिष्ठ राजा के कुल रूपी गृह के प्रतिष्ठा-स्तम्भ रूप और पृथ्वी माता रूपी मलयाचल के लिए चन्दन तुल्य हे सुपार्श्व नाथ! आप मेरी रक्षा करें।

८ महासेन राजा के वंशरूपी आकाश में चन्द्रतुल्य और लक्ष्मीदेवी के गर्भ रूपी सरोवर के हंस समान हे चन्द्रप्रभु, आप मेरी रक्षा करिए।

९ सुग्रीव राजा के पुत्र और रामादेवी रूपी नन्दनवन की भूमि पर उत्पन्न कल्पवृक्ष रूप हे सुविधिनाथ! मेरा कल्याण शीघ्र कीजिए।

१० दशरथ राजा के पुत्र नन्दादेवी के हृदय के लिए आनन्द रूप और जगत् को आह्लादित करने में चन्द्रमा तुल्य हे शीतल स्वामी! आप मेरे लिए आनन्दमय बनें।

११ श्री विष्णुदेवी के पुत्र, विष्णु राजा के वंश में मुक्ता की तरह और मोक्ष रूपी लक्ष्मी के स्वामी हे, श्रेयांस प्रभो! आप मेरे कल्याण के कारण बनिए।

१२ वसुपूज्य राजा के पुत्र जयादेवी रूप विदुर पर्वत की भूमि पर उत्पन्न रत्नरूप और जगत् के लिए पूज्य हे वासुपूज्य! आप मुझे मोक्ष लक्ष्मी प्रदान करें।

१३ कृतवर्म राजा के पुत्र और श्यामादेवी रूप शमीवृक्ष से प्रकटित अग्नि तुल्य हे विमल स्वामी! आप मेरे मन को निर्मल करिए।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महा

१४ सिंहसेन राजा के कुल के मंगलदीप और सुयशादेवी के पुत्र अनन्त भगवान् ! आप मुझे अनन्त सुख दें।

१५ सुव्रतादेवीरूप उदयाचल पर उदित सूर्य रूप और भानु राजा के पुत्र, हे धर्मनाथ प्रभो ! मेरी बुद्धि को धर्म में स्थापित करिए।

१६ विश्वसेन राजा के कुल के लिए अलङ्कारस्वरूप और अचिरा देवी के पुत्र शान्तिनाथ, आप मेरे कर्म-शान्ति के कारण बनिए।

१७ सूर राजा के वंश रूप आकाश में सूर्य तुल्य श्रीदेवी के गर्भ से उत्पन्न और कामदेव का वध करने वाले हे जगत्पति कुंथुनाथ ! आपकी जय हो।

१८ सुदर्शन राजा के पुत्र देवी माता रूपी शरदलक्ष्मी के कुमुद तुल्य अरनाथ ! आप मुझे संसार अतिक्रम करने का वैभव दान दीजिए।

१९ कुम्भ राजा रूप समुद्र में कुम्भ तुल्य और कर्म क्षय में महामल्ल समान प्रभावती देवी से उत्पन्न मल्लिनाथ आप मुझे मोक्ष-लक्ष्मी प्रदान करें।

२० सुमित्र राजा रूपी हिमालय के पद्मद्रह तुल्य और पद्मादेवी के पुत्र हे मुनि सुव्रत प्रभो ! मैं आपको नमस्कार करता हूं।

२१ वप्रादेवी रूप वज्रखान पृथ्वी से वज्र के समान विजय राजा के पुत्र, जिनके चरण-कमल जगत् के लिए पूज्य हैं ऐसे हे नेमि प्रभो ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

२२ समुद्र (विजय) को आनन्दित करने वाले चन्द्र तुल्य शिवादेवी के पुत्र और परम दयालु मोक्षगामी हे अरिष्टनेमि ! मैं आपको नमस्कार करता हूं।

२३ अश्वसेन राजा के कुल-चूड़ामणि रूप और वामादेवी के पुत्र पार्श्वनाथ ! मैं आपको नमस्कार करता हूं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

२४ सिद्धार्थ राजा के पुत्र त्रिशला माता के हृदय आश्वासन रूप और सिद्धि प्राप्ति के अर्थ को सिद्ध करने वाले हे महावीर प्रभो! मैं आपकी वन्दना करता हूं। (श्लोक ६५४-६७७)

इस प्रकार प्रत्येक तीर्थंकर को स्तुतिपूर्वक नमस्कार कर महाराज भरत इस सिंह निषद्य चैत्य से बाहर निकले और प्रिय मित्र की भांति उस सुन्दर चैत्य को पीछे घूम-घूमकर देखते हुए अष्टापद पर्वत से नीचे आए। उनका मन पर्वत में संलग्न रहने से मानो उत्तरीय कहीं अटक गया हो इस प्रकार अयोध्यापति मन्द गति से अयोध्या की ओर गए। शोक से पूर की तरह सेना के पदोत्थित धूलि से दिक्समूह को आकुल कर शोकार्त चक्रवर्ती अयोध्या के निकट पहुँचे। चक्री के मानो सहोदर हों इस प्रकार उनके दुःख से अत्यन्त दुःखी नगर जनों की अश्रु भरी आँखों से सम्मानित होकर महाराज ने विनीता नगरी में प्रवेश किया।
(श्लोक ६७८-६८२)

तत्पश्चात् भगवान् को याद करते हुए वर्षा के बाद अवशेष मेघ की तरह अश्रु-बिन्दु गिराते हुए वे राजमहल आए। जिसका द्रव्य लुट जाता है ऐसा मनुष्य जिस प्रकार रात-दिन उसी का ध्यान करता है उसी प्रकार प्रभु रूप धन लुट जाने से भरत उठते-बैठते, चलते-फिरते, सोते-जागते, बाहर-भीतर, दिन-रात प्रभु का ही ध्यान करते। किसी कारणवश अष्टापद से आगत मनुष्य को जैसे प्रभु का कोई समाचार लाया है, सोचकर पूर्व की तरह ही सम्मान देने लगे। (श्लोक ६८३-६८५)

महाराज को इस प्रकार शोकाकुल देखकर मन्त्री उनसे बोले —महाराज, पिता ऋषभदेव प्रभु ने गृहस्थाश्रम से ही पशु की तरह अज्ञानी लोगों को व्यवहार शिक्षा दी, तदुपरान्त दीक्षा ली और अल्प समय के मध्य ही केवल-ज्ञानी हो गए। केवल-ज्ञान प्राप्त कर इस जगत् के मनुष्यों को भव समुद्र से पार करने के लिए धर्म में नियुक्त किया। फिर स्वयं कृतार्थ होकर अन्य को कृतार्थ कर परम पद को प्राप्त हुए। ऐसे परम प्रभु के लिए आप शोक क्यों कर रहे है? इस प्रकार उपदिष्ट होकर चक्रवर्ती धीरे-धीरे राज्य कार्य करने लगे। (श्लोक ६८६-६८९)

राहु मुक्त चन्द्रमा की तरह धीरे-धीरे शोकमुक्त होकर भरत चक्रवर्ती बाहरी विहार भूमि पर विचरण करने लगे। विन्ध्याचल को स्मरण करने वाले गजेन्द्र की तरह प्रभु के चरणों को स्मरण कर दुःखी बने महाराज के पास आकर आत्मीय स्वजन सर्वदा उन्हें प्रसन्न करने लगे। अतः परिवार के आग्रह पर वे विनोदउत्पन्नकारी उद्यानों में भी जाने लगे। वहाँ जैसे प्रमीला राज्य हो ऐसी सुन्दरी स्त्रियों के साथ लता मण्डप की रमणीय शय्या में रमण करने लगे। वहाँ कुसुमहरणकारी विद्याधरों की तरह युवकों को पुष्पचयन क्रीड़ा कौतूहलपूर्वक देखने लगे। कामदेव की पूजा कर रही हों ऐसी बारांगनाएँ फूलों की पोशाक तैयार कर महाराज को उपहार देने लगीं। मानो उनकी उपासना करने के लिए असंख्य श्रुति एकत्र हुए हैं इस भाँति नगर के नर-नारी समस्त शरीर में फूलों के अलंकार पहनकर उनके निकट क्रीड़ा करने लगे। ऋतु देवताओं के एक अधिदेवता हों इस भाँति समस्त शरीर पर फूलों के अलंकार पहनकर उनमें महाराज भरत शोभा पाने लगे। (श्लोक ६९०-६९७)

कभी-कभी अपनी पत्नियों को लेकर राजहंस की तरह स्व इच्छा से क्रीड़ा करने के लिए क्रीड़ा वापी पर जाने लगे। हस्ती जिस प्रकार हस्तिनियों सहित नर्मदा नदी पर क्रीड़ा करता है उसी प्रकार वे वहाँ सुन्दरियों के साथ जलक्रीड़ा करने लगे। जल की तरंगों ने जैसे सुन्दरियों से शिक्षा ग्रहण की है इस प्रकार कभी कण्ठ में, कभी बाहुओं में, कभी हृदय में उनका आलिंगन करने लगीं। इससे उस समय कमल के कर्णाभरण और मुक्ता के कुण्डल धारण-कारी महाराज जैसे साक्षात् वरुणदेव हों इस प्रकार शोभा पाने लगे। मानो लीलाविलास के राज्य में महाराज का अभिषेक कर रहे हों इस प्रकार 'पहले मैं, पहले मैं' सोचती हुई स्त्रियाँ उन पर जल डालने लगीं। जैसे अप्सरा या जलदेवी हों इस प्रकार चतुर्दिक अवस्थित और जलक्रीड़ा में तत्पर रमणियों के साथ चक्री ने बहुत समय तक जलक्रीड़ाएँ कीं। स्व मुख की स्पर्द्धा करने वाले कमलों को देखकर जैसे रागान्वित हो गए हों इस भाँति मृगाक्षियों की आँखें लाल हो गयीं। अंगनाओं के अंग से गल-गलकर झरे हुए अंगराग से कर्दमित वह जल यक्षकर्दम की तरह हो गया। चक्रवर्ती बार-बार इस प्रकार क्रीड़ा करने लगे। (श्लोक ६९८-७०५)

एक बार इसी प्रकार जलक्रीड़ा कर महाराज भरत इन्द्र की भाँति संगीत कराने की इच्छा से विलासमण्डप में गए। वहाँ बाँसुरी बजाने वाले उत्तम पुरुष मन्त्र में ॐकार की तरह संगीत कर्म प्रथम है ऐसा मधुर स्वर बाँसुरी में भरने लगे। वीणावादनकारी कर्ण सुख प्रदान करने वाले और व्यंजन धातु से पुष्ट ऐसे पुष्पादिक स्वर में ग्यारह प्रकार से वीणा बजाने लगे। सूत्रधार अपनी काव्य प्रतिभा का अनुसरण कर नृत्य और अभिनय के मातृ तुल्य प्रस्तार सुन्दर नामक ताल देने लगे। मृदंग एवं प्रणव नामक वाद्य बजाने वाले प्रिय मित्र की तरह परस्पर सामान्य सम्पर्क का भी त्याग न कर अपने वाद्य बजाने लगे। हा-हा हू-हू नामक देवताओं का और गन्धर्वों का अहंकारविनष्टकारी गायक स्वरगीति में सुन्दर ऐसे नवीन-नवीन शैली के गीत गाने लगे। नृत्य और ताण्डव में चतुर नटियाँ विचित्र प्रकार के अङ्ग-विक्षेपों से सबको चकित कर नृत्य करने लगीं। महाराज भरत ने देखने लायक यह नाटक निर्विघ्न रूप से देखा। कारण, समर्थ पुरुष ऐसी इच्छा हो वैसा व्यवहार करें उसमें उन्हें कौन रोक सकता है? इस प्रकार प्रभु के मोक्ष जाने के पश्चात् पाँच लाख वर्ष तक महाराज भरत संसार सुख भोगते रहे। (श्लोक ७०६-७१४)

एक दिन भरतेश्वर स्नान कर बलिकर्म की अभिलाषा से देव-दूष्य वस्त्र से शरीर को परिष्कार कर केश में पुष्पमाल्य धारण कर समस्त शरीर में गोशीर्ष चन्दन का लेप कर अमूल्य दिव्य रत्नों के अलङ्कारों को समस्त देह में धारण कर अन्तःपुर की ललना सहित छड़ी-दार के प्रदर्शित पथ से अन्तःपुर के आभ्यन्तर में स्थित रत्नमय दर्पणगृह में गए। वहाँ आकाश और स्फटिक मणि की तरह निर्मल और मनुष्याकृति की तरह वृहद् दर्पण में अपने स्वरूप को देखने के समय महाराज भरत की अंगुली से अंगूठी खिसक कर गिर पड़ी। नृत्य के समय जिस प्रकार मयूर का एक-आध पंख खिसक कर गिर जाता है और वह जान भी नहीं पाता उसी प्रकार महाराज भरत भी अंगुली से खिसक कर गिर जाने वाली अंगूठी के विषय में कुछ नहीं जान पाए। धीरे-धीरे शरीर के समस्त भाग को देखते हुए चन्द्रिकाहीन चन्द्रकला की तरह अंगूठी रहित अपनी अंगुली उन्हें कान्तिहीन लगी। अरे! अंगुली शोभाहीन कैसे? सोचते हुए महाराज भरत की दृष्टि धरती पर गिरी अपनी अंगूठी पर

पड़ी। तब वे सोचने लगे—'क्या अलंकारहीन होने पर शरीर के अन्य अंग भी इसी प्रकार शोभाहीन हो जाएँगे ? अतः वे अपने अन्य अलंकार को खोलने लगे। (श्लोक ७०७-७२३)

प्रथम मस्तक से माणिक्य मुकुट उतारा। उससे मस्तक रत्न-हीन अंगूठी-सा प्रतीत हुआ। कानों से माणिक्य के कुण्डल खोले। उनसे दोनों कान चन्द्र और सूर्य हीन पूर्व और पश्चिम दिक्-से लगने लगे। कण्ठालङ्कार खोलने पर उनका गला जलहीन नदी-सा शोभाहीन लगने लगा। वक्षःस्थल से हार हटाने पर वह नक्षत्रहीन आकाश की तरह शून्य हो गया। भुजबन्ध हटाने पर उनके दोनों हाथ लतावेष्टनरहित शाल वृक्ष-सा लगने लगा। हस्तमूल से कड़ा निकाल देने पर वह आमलकहीन प्रासाद-सा लगने लगा।

(श्लोक ७२४-७२९)

अन्य अंगुलियों की अंगूठियाँ भी जब उन्होंने खोल दीं तो वे मणिरहित सर्प के फण-सी लगने लगीं। पाँवों से पाद-कटक खोल देने पर पाँच राजहस्ती के स्वर्णपात रहित दन्त-सा लगने लगा। समस्त अलङ्कारों के खोल देने पर देह पत्रहीन वृक्ष-सी लगने लगी। इस प्रकार निज देह को शोभाहीन देखकर महाराज भरत विचार करने लगे—'हाय ! इस शरीर को धिक्कार है। जिस प्रकार चित्र अंकित कर दीवार को शोभान्वित किया जाता है उसी प्रकार अलंकार धारण कर देह की कृत्रिम शोभा की जाती है। भीतर विष्ठादि और बाहर मूत्रादि के प्रवाह से मलिन यह देह विचार करने पर कुछ भी शोभनीय नहीं। कड़ुआ मिट्टी जिस प्रकार वर्षा के जल को दूषित करती है उसी प्रकार इस देह ने विलेपित किए कर्पूर, कस्तूरी आदि को दूषित किया है। जो विषयों का परित्याग कर तपस्या करते हैं वे तत्त्ववेत्ता पुरुष ही इस शरीर का फल ग्रहण करते हैं।' इस प्रकार विचार करते हुए सम्यक् प्रकार से अपूर्व करण के अनुक्रम से वे क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हो गए एवं शुक्ल-ध्यान प्राप्त कर मेघों के हट जाने पर जिस प्रकार सूर्य प्रकाशित हो जाता है उसी प्रकार घाती कर्मों को क्षय कर केवल-ज्ञान प्राप्त किया। (श्लोक ७३०-७३८)

उसी समय इन्द्र का आसन कम्पायमान हुआ। कारण, अचेतन वस्तु भी महान् समृद्धि को बता देती है। अवधिज्ञान से वह

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महा

जानकर कि भरत को केवल-ज्ञान हो गया है उनके निकट आए। भक्त पुरुष स्वामी की तरह ही स्वामी-पुत्र की भी सेवा करते हैं; किन्तु जब पुत्र को भी केवल-ज्ञान प्राप्त उत्पन्न हो गया तब तो कहना ही क्या ? इन्द्र वहाँ आकर उनसे बोले—'हे केवलज्ञानी ! आप साधु वेष धारण करें ताकि मैं आपकी वन्दना करूँ और दीक्षा महोत्सव करूँ।' भरत ने भी उसी समय बाहुबली की तरह पञ्च-मुष्टिक केश लुञ्चन रूप दीक्षा का लक्षण अङ्गीकार किया और देवताओं द्वारा प्रदत्त रजोहरण आदि उपकरण स्वीकार किए। तब इन्द्र ने उनकी वन्दना की। कारण, केवल-ज्ञान उत्पन्न हो जाने पर भी अदीक्षित पुरुष को वन्दना नहीं की जाती। उस समय महाराजा भरत चक्रवर्ती के आश्रित दस हजार राजाओं ने भी दीक्षा ग्रहण कर ली। कारण, इस प्रकार की स्वामी-सेवा परलोक में भी सुखकारी होती है। (श्लोक ७३९-७४५)

तदुपरान्त पृथ्वी का भार वहन करने में समर्थ भरत चक्रवर्ती के पुत्र आदित्ययशा को इन्द्र ने राज्याभिषेक किया। (श्लोक ७४६)

केवल-ज्ञान होने के पश्चात् महात्मा भरतमुनि ने ऋषभ स्वामी की तरह ही ग्राम, खनि, नगर, अरण्य, गिरि, द्रोणमुख आदि में धर्म देशना से भव्य प्राणियों को प्रतिबोध देते हुए साधु परिवार सहित एक लाख पूर्व तक विहार किया। अन्ततः उन्होंने भी अष्टापद पर्वत पर जाकर विधि सहित चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान किया। एक मास पश्चात् चन्द्र जब श्रवण नक्षत्र में था तब चतुष्क अर्थात् अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त वीर्य को प्राप्त कर महर्षि भरत सिद्धि क्षेत्र अर्थात् मोक्ष पद को प्राप्त हुए। (श्लोक ७४७-७५०)

इस प्रकार भरतेश्वर ने सत्तहत्तर लक्ष पूर्व राजकुमार की तरह व्यतीत किए। उस समय पृथ्वी का पालन भगवान ऋषभ कर रहे थे। भगवान दीक्षा लेकर छद्मस्थ अवस्था में एक हजार वर्ष रहे। तब भरत ने एक हजार मांडलिक राजा की तरह व्यतीत किए। एक हजार वर्ष कम छह लाख पूर्व वे चक्रवर्ती रहे। केवल-ज्ञान उत्पन्न होने के बाद विश्व का उपकार करने के लिए दिन के सूर्य की तरह एक पूर्व तक उन्होंने पृथ्वी पर विहार किया। इस भाँति चौरासी लाख पूर्व आयुष्य उपभोग कर महात्मा भरत मोक्ष पधार

गए। उस समय हर्षित देवताओं के साथ स्वर्गपति इन्द्र ने उनका मोक्ष गमनोत्सव किया। (श्लोक ७५१-७५५)

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर

इस प्रथम पर्व में श्री ऋषभदेव प्रभु का पूर्वभव वर्णन, कुलकरों की उत्पत्ति, प्रभु का जन्म, विवाह, व्यवहार-दर्शन, राज्य, व्रत ग्रहण, केवल-ज्ञान, भरत राजा का चक्रवर्तित्व, प्रभु एवं चक्री का मोक्षगमन आदि का जो क्रमशः वर्णन किया गया है वह तुम लोगों के समस्त पर्वों को विस्तारित करे अर्थात् तुम लोगों के लिए कल्याणकारी बने। (श्लोक ७५६)

(षष्ठ सर्ग समाप्त)